पृ. ४८८

हम आज सोचते हैं या करते हैं उसका प्रभाव कल होगा। शिक्षा
ा को हम जो रूप देंगे उसका लाभ कल मिलेगा। इसलिए अतीत
और आज के अनुभव का विश्लेषण-विवेचन जब भी हम करें तब
। दृष्टि भविष्य पर रखनी चाहिए। भविष्य में जो सवाल उठने
को आज ही पहचानना चाहिए। आज के बच्चे-बच्चियां कल के
। बीते कल की कहानी उन्हें भले सुनाइए, खूब सुनाइए, किंतु यह
कि कल का इतिहास उन्हें लिखना है, कल की दुनिया से मुकाबला
ा है, कल के सवालों से—कल की समस्याओं से संघर्ष उन्हें ही
कल की दुनिया में वे सफल होंगे तभी आज की शिक्षा सार्थक

ए हम जो आज कहते या लिखते या रचते हैं उसका लक्ष्य
कल का समाज ही होना चाहिए। आज की शिक्षा को कल के
यारी ही करनी चाहिए। हमें देखना चाहिए कि हमारी शिक्षा
योजक, नियामक और नियंता, आज के सवालों में ही लिपटे हुए
सवालों को भी देख रहे हैं?

अनुभव किया होगा कि ऐसा कम होता है। प्रायः सब की
: ही रहती है। तभी डिग्री पर जोर रहता है, तभी प्रमाण-पत्र,
ौकरी पर जोर रहता है। ज्ञान पर कहां है? शिक्षा पर जोर
की खोज पर जोर कहां है? शिव और सुंदर का स्वरूप सम-
रहा है? स्वयं लेखक भी भूल गये हैं। कवि, लेखक और
' भूल गये हैं। सच्चे शाश्वत शिक्षक तो कवि और लेखक ही
कार और पत्रकार ही होते हैं। हम शिक्षक हों चाहे कवि,
ार हों, कल को हम नहीं भूल सकते। आज जो हम करते हैं,
ल होगा। साहित्यकार की रचना का प्रभाव काल को लांघता
ा लांघता है। शिक्षक के शिक्षण का प्रभाव भी काल को
भी दोनों ने इस तथ्य को भुलाया है, समाज को नुकसान
दर्शिता दोनों का पहला कर्तव्य है।

विषय-क्रम

चित्र सूची

रंगीन

सादा

भूमिका

पिछले ग्यारह वर्ष से राजस्थान पत्रिका के पाठक बड़ी रुचि के साथ "नगर परिक्रमा" स्तम्भ को पढ़ रहे है। प्रस्तुत रचना इसी स्तम्भ में प्रकाशित सामग्री का एक संकलित एवं संपादित अंश है– "राज दरबार और रनिवास"।

यह एक ऐसी रचना है जो घुणाक्षर न्याय के अनुसार बिना रचे ही रच गई है। 1972 में राजस्थान पत्रिका की पृष्ठ संख्या 8 करने के बाद नगर-परिक्रमा स्तम्भ शुरू किया गया तो हमारे वरिष्ठ सम्पादक कैलाश मिश्र उसमें रोजमर्रा की समस्याओ पर टीका-टिप्पणी किया करते थे। इसी बीच एक बार कैलाशजी जब छुट्टी पर गये, नन्दकिशोर पारीक उनके विशेष आग्रह पर यह स्तम्भ लिखने लगे। स्तम्भ मे उन्होंने जयपुर शहर के विगत की कुछ बातों की चर्चा शुरू की और पाठकों को उसमे रस आने लगा। मुझे लगा कि इस स्तम्भ को विगत का ही स्तम्भ क्यो न बना दिया जाय। नन्दकिशोरजी से बात की तो उन्होंने भी प्रस्ताव का स्वागत किया और लिखते चले गये, यहां तक कि वे शहर के गली-कूचे तक छानते गये। एक-एक हवेली और एक-एक खानदान की बात करते गये। बात की बात में ग्यारह साल व्यतीत हो गये। स्तम्भ अपने शहर के विगत को वर्तमान में जीवित किए हुए है और अभी बहुत समय तक उसे सजीव रखने वाला है। मैंने इसे घुणाक्षर न्याय की संज्ञा इसलिए दी है कि यह स्तम्भ किस तरह शुरू हुआ था और किस रूप में बदल गया और सब कुछ अनायास ही हो गया।

नगर परिक्रमा की कहानी भले ही घुणाक्षर न्याय की कहानी हो, परन्तु चरितार्थ तभी हो सकी जब नन्दकिशोर पारीक जैसे घुण अपने शहर के विगत को कुरेदने में लीन हो गये। वैसे हर शहर की अपनी एक कहानी होती है परन्तु वह अनकही इसलिए रह जाती है कि उसे कहने वाले नही मिलते। जयपुर की भी अपनी 250 वर्ष पुरानी कहानी है। इस तरह की कहानी को कहने के लिए एक ओर जहां लेखन का अभ्यास जरूरी है, वहीं अपने शहर की जानकारी होना भी बहुत जरूरी है। इस काम में सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है अपने शहर के प्रति गहरा लगाव होना। वही लगाव है जिसने महान सोवियत कवि रसूल हमजातोव से "मेरा दागिस्तान" जैसी पुस्तक लिखवा दी। इसी लगाव, लेखन की अनवरत साधना और शहर के चप्पे-चप्पे के ज्ञान ने नन्दकिशोर पारीक से नगर परिक्रमा लिखवा दी। एक ही व्यक्तित्व मे तीनों गुण एक साथ हुए बिना इस तरह के दुस्साध्य स्तम्भ का निर्वाह करना किसी समाचारपत्र के लिए संभव नहीं। यह काम केवल नन्दकिशोर पारीक ही कर सके और वही कर सकते थे।

नगर-परिक्रमा अपने आप में एक अनूठा स्तम्भ है। मुझे नहीं मालूम कि दुनिया के अखबारों के पूरे इतिहास मे इस तरह का स्तम्भ कभी रहा है। पारीक ने अपने स्तम्भ में न केवल जयपुर के राजा-रानियों और राजमहलो की चर्चा की है, बल्कि शहर के गली-कूचों और घर-बारवालों की भी विरुदावली बांची है। उन्होने संस्कृत के महामहोपाध्यायों से लेकर उर्दू-फारसी के आलिम-फाजिलों की भी स्तुति की है तो नामी-गरामी वैद्य-हकीमों का भी गुण-गान किया है। शहर के बडे बड़े हुनरमंदों और दस्तकारों का बखान भी नगर-परिक्रमा मे विस्तार से हुआ है। शहर की बसावट की सुन्दरता का वर्णन नन्दकिशोरजी ने इतने विस्तार से किया है कि कोई कोट-कंगूरा उनकी कलम मे अछूता नही रहा। महलों, मन्दिरों, हवेलियों और

बाग- बगीचों का शब्द- चित्रण वे करते ही चले गये। जयपुर के भौतिक चित्रण के साथ साथ वे इ
भूत के जन-जीवन की मधुर विशद झांकियां प्रस्तुत करते रहे जो हजारों वयस्क और प्रौढ़ न
याददाश्त को ताजा करती रहीं हैं।

नगर-परिक्रमा के माध्यम से नन्दकिशोरजी पिछले ग्यारह वर्षों में लगभग 5,000 कालम
कम से कम तीन लाख शब्द अपने शहर की विरुदावली में लिख चुके हैं। यह अपने आप में एक
कीर्तिमान है। दूसरा गौरवपूर्ण कीर्तिमान एक पत्रकार के लिए यह है कि उनके लिखे हुए किसी
प्रतिवाद नहीं हुआ। उन्होंने अपनी ओर से एक-एक तथ्य की जानकारी न केवल दस्तावेजों से
घूम-घूम कर जानकार लोगों से सम्पर्क साधा और उनकी प्रामाणिकता सिद्ध की। इस क्रम में
शहर की कितनी ही परिक्रमाएं कर चुके हैं।

प्रस्तुत पुस्तक मे नगर परिक्रमा की उस सामग्री का समावेश है जिसमें जयपुर के राजमह
कारखानों, मन्दिरों और जनानी ड्योढ़ी का सविस्तार वर्णन है। जयपुर के राजमहल अपने आप में
के नमूने हैं और शेष नगर से पूर्णतः भिन्न एव स्वतन्त्र इकाई के रूप में विद्यमान हैं। जयपुर
शासकों का सम्पूर्ण कार्य-क्षेत्र, शासकीय एवं व्यक्तिगत, इस दायरे में आ जाता है। रियासत के शा
छत्तीस कारखानों का अपना महत्त्व था। पुस्तक में उनके कार्य-कलाप का समावेश है। जनानी ड्
तक पर्दे में ही रही है जिस पर पहली बार नगर-परिक्रमा में इतना प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत पुस्
अन्य सामग्री भी जोड़ी गई है। इस सन्दर्भ में कतिपय तथ्य ऐसे हैं जिनका अभी तक कहीं उल्लेख नह

"राजदरबार और रनिवास" में जो सामग्री शामिल है, भले ही वह एक अखबार के कालम
हो, परन्तु इतिहास-लेखन के सभी तत्त्वों से सम्पन्न है। जयपुर के राजवंश का इतिहास वह भले
परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह शहर के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अंश है। इतिहास के विद्या
शोधकर्ताओं को भी इस पुस्तक में बहुत कुछ लाभदायक सामग्री मिलेगी।कुल मिलाकर जयपुर
जानने और समझने के लिए यह एक उपयोगी संदर्भ बन गया है। पत्रकार होने के नाते
अन्दाजे-बयां भी ऐसा है कि उसकी बात सामान्य पाठक से लेकर विद्वानों तक के सहज ही गले उतर

यह पुस्तक नगर-परिक्रमा पर आधारित पुस्तक शृंखला की प्रथम कड़ी है। वर्गीकरण के
शीघ्र अन्य पुस्तकें भी सामने आयेंगी। पुस्तके प्रकाशित करने का दायित्व "राजस्थान पत्रिका"
ऊपर लिया है। मैं आशा करता हूं कि पाठकों को यह प्रयास पसन्द आएगा।

नगर-परिक्रमा के पाठकों की यह पुरानी मांग है कि स्तम्भ की सामग्री को पुस्तक का रूप दि
पाठकों की इस रुचि का ज्ञान मैं नन्दकिशोरजी को समय- समय पर कराता रहा हूं, परन्तु किसी
गतिविधि में व्यस्त रहने के कारण वे पाण्डुलिपि भी तैयार नहीं कर पाये, जिसे छपने के लिए प्रेस में
सके। जब वे पत्रिका के ही संपादक के रूप में जोधपुर चले गये तो वहां भी संपादन कार्य में रम गये।
उन्हें लगभग आदेश दे कर उस कार्य से मुक्त किया गया। इसी का सुफल है कि इस पुस्तक की पा
तैयार हुई और छपकर प्रकाशित हो सकी। अब मैं आशा करता हूं कि इस पुस्तक के प्रकाशन के साथ
पाण्डुलिपियां भी तैयार मिलेंगी और उनका प्रकाशन होता रहेगा। पाण्डुलिपि तैयार करने में सचम
समय और श्रम लगाना पड़ा है, परन्तु वह बहुत ही सार्थक सिद्ध हुआ है। मूल सामग्री में भी बहुत कु
और परिवर्द्धन हुआ है। मैं यही कह सकता हूं कि नन्दकिशोर जी वास्तव में यश के अधिकारी हैं। उन
पत्रकार पा कर जयपुर शहर गौरवान्वित है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जाएगा
इस चिरस्मरणीय कार्य का मूल्य बढ़ता ही जाएगा।

—कर्पूरचन्द

आशीर्वचन

जयपुर शहर जहान भर में नामी है। अढ़ाई सौ बरस से भी पहले आमेर के महाराजा सवाई जयसिंह ने इसका सपना देखा था और उसी के अनुसार इसको सवाई जयपुर नाम से बसाया था। ढलते हुए मुगल साम्राज्य और उसके बढ़ते हुए हौंसले के जमाने मे आमेर उसको छोटी लगी थी। नए शहर के अलग-अलग मुकामो, चौकड़ियों, चौपडों, दुकानों, बाजारों, कटलों, बाग-बगीचों और हवेलियों की कितनी ही 'तरहें' बनी, पेश हुई और मंजूर होने पर तामीर हुई। राजमहलों, जनानी ड्योढ़ियों के रावलों, राजमन्दिरों, बागों, कारखानों, कचहरियों और राजसेवको के लिए मकानों से तो एक पूरी चौकड़ी आबाद की गई जो 'सरहद की चौकड़ी' कहलाई। दूसरी चौकड़ियो मे तरह तरह के कारोबार करने वाले व जातियों के लोग बसे जिनके नाम से मोहल्ले, रास्ते और गलियां मशहूर हुई। कुछ मोहल्ले जमाने के बड़े रईसों, कलाकारों और दूसरे बडे आदमियो के नामो से भी जाने जाते है। सरहद की चौकड़ी एक तरह से अलग भी थी और आम आदमी की रोजमर्रा की जिन्दगी से जुड़ी हुई भी थी। निजी रहन-सहन और काम-धन्धे की आजादी मे इसका कोई बेजा दखल नहीं था। गरज यह कि शहर को ऐसे सलीके से बनाया व बसाया गया था कि इसको देखकर अब भी बड़े-बड़े इंजीनियर दांतों तले उंगली दबाते है और देश-विदेश के सैलानी 'वाह' कह उठते है।

जयपुर के राजमहलो को देखकर गुप्त-काल से लेकर अब तक के राजसी रहन-सहन, राजकाज, कला, साहित्य, खेलकूद, मन बहलाव के तरीकों और निर्माण-कला के विकास का एक बारगी जायजा लिया जा सकता है, अध्ययन किया जा सकता है। अलग-अलग समय में क्या-क्या बदलाव आए और जमाना कहां से कहां आ गया, इन सब बातो को यहां के मकानात और साज-सामान को देखकर जानने व समझने का मौका मिल जाता है। कुछ बातें बचे-खुचे पुराने लोगों से पूछ-ताछ करने पर भी मालूम हो जाती हैं।

जयपुर शहर और यहां के राज-दरबार व रनिवास वगैरह के बारे में श्री नन्दकिशोरजी पारीक ने कोई ग्यारह बरस पहले 'राजस्थान पत्रिका' के 'नगर-परिक्रमा' कॉलम में लिखना शुरू किया था। शहर के हर बाजार, मोहल्ले, रास्ते, गली, हवेली और घर-गुवाड़ी में जाकर इन्होंने जानकारी हासिल की, मन्दिरों के दर्शन किए, महन्तों और पुजारियो से बातें की और राजमहलों को भी घूम-फिर कर देखा, कागजात टटोले, खुद वर्तमान राजमाता और महाराजा से भी साक्षात्कार किये व कार्यकर्ताओं के भी वक्तव्य लिये। इस तरह विश्वास के साथ इन सभी बातों का चिट्ठा अपने कॉलम में दर्ज करके प्रकट करते रहे। लोगों ने इसको बहुत पसन्द किया; जो अखबार नहीं पढ़ते थे— खबरें सुन-सुनाकर ही तसल्ली कर लेते थे वे भी इस कॉलम को पढ़ने में दिलचस्पी लेने लगे। इसे पढ़कर बूढ़ों को अपने बीते दिनों की याद ताजा हो आती थी, जवानों को

प्राक्कथन

ग्यारह वर्ष से अधिक हुए जब राजस्थान के अन्यतम और लोकप्रिय दैनिक "राजस्थान पत्रिका" में जयपुर विषयक वह सामग्री "नगर-परिक्रमा" स्तम्भ में प्रकाशित होने लगी थी जो अब इस पुस्तकमाला का रूप ले रही है। 1972 में जब यह स्तम्भ मैंने लिखना आरम्भ किया तो अनुमान ही नहीं था कि यह कार्य इतना विशद और बहु-आयामी हो जाएगा। साल-डेढ़ साल ही हुआ होगा कि अनेक प्रबुद्ध पाठकों के पत्र आने लगे कि यह सामग्री तो पुस्तकाकार निकलनी चाहिए। "पत्रिका" के सम्पादक और अग्रज से भी बढ़कर मुझे स्नेह और आत्मीयता देने वाले श्री कर्पूरचन्द कुलिश इस सारे लेखन के पीछे मेरे प्रेरणा-स्रोत रहे है। दो-चार वर्षों से तो वे स्वयं मुझे इसके लिए गाढ़ी ताकीद करते रहे हैं। इसमे जो भी विलम्ब हुआ, वह मेरी ही व्यस्तता और अक्षमता के कारण हुआ। कुलिशजी के उलाहने और तकाजे न होते तो मेरी ओर से तो अब भी इस काम मे ढील ही होती रहती।

"पत्रिका" के पाठकों ने जैसे "नगर-परिक्रमा" को अपनाया, वैसे ही इस पुस्तक को भी पसन्द किया तो आगे इस पुस्तकमाला में वह सारी सामग्री निकाल देने का विचार है जो उक्त स्तम्भ में आ चुकी है और अब भी आये जा रही है। इस विचार के पीछे कुलिशजी तो है ही, अन्यान्य मित्रों और उन हजारों पाठकों का सम्बल भी है जो जयपुर की इस कहानी में गहरी रुचि लेकर मुझे यह सिलसिला बनाये रखने को बराबर प्रोत्साहित करते रहे हैं।

इस पुस्तकमाला की पहली पुस्तक के लिए मैंने "नगर-प्रासाद" को चुना है। नौ चौकड़ियों (नवनिधियों) या आवासीय खण्डों के इस नगर में नगर-प्रासाद की 'चौकड़ी सरहद' सबसे पुरानी और सबसे बड़ी है। जब तक राजा और उनकी रियासतें थी, जयपुर की राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, कलात्मक और धार्मिक गतिविधियों की धुरी यह नगर-प्रासाद ही था।

आज के राजस्थान की राजधानी वस्तुत: एक ऐसा नगर है जिसकी रचना, इतिहास, संस्कृति, साहित्य, कला, हस्तशिल्प और जन-जीवन के रंग सांगोपाग वर्णन करने के योग्य हैं। जैसे-जैसे मैं लिखता गया, रंगभरे नगर का रंग स्वयं मुझ पर ऐसा चढ़ता चला गया कि परिणाम सामने है। अब तो स्वभावत: आल्हाद और संतोष होता है कि इस अनुपम नगर के सौन्दर्य का जैसा नख-शिख वर्णन मुझ जैसे अल्पज्ञ और अकिंचन पत्रकार से हो गया, वह जयपुर की विरुदावली की परम्परा का ही निर्वाह है।

जयपुर के वैभव का वर्णन करने की सचमुच एक परम्परा रही है। इस अप्रतिम नगर को नीव से बनाने और बसाने का वर्णन कर अनेक संस्कृत और हिन्दी कवियों ने अपनी लेखनी को सार्थक माना है। जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिंह के राजकवि देवर्षि श्रीकृष्ण भट्ट ने इस नगर का निर्माण अपनी आंखो से देखा था और जयसिंह की मृत्यु के एक वर्ष बाद ही अपने 'ईश्वरविलास' महाकाव्य में उन्होंने नगर के विभिन्न निर्माण कार्यों और बसावट का विस्तार से वर्णन किया है। संस्कृत के ही एक अन्य राज्याश्रित कवि सीताराम

पर्वणीकर का "जयवंश महाकाव्यम्" और यहां के ख्यातनामा राजवैद्य तथा "सिद्धभेषजमणिमाला" जैसे आयुर्वेद के सरस कवित्वमय ग्रन्थ के प्रणेता श्रीकृष्णराम भट्ट का "जयपुर विलास" यद्यपि समकालीन नहीं है —जयपुर बसने के सौ-डेढ़ सौ वर्ष बाद लिखे गये हैं— फिर भी इनमें साहित्यिक सौष्ठव के साथ इस सुन्दर नगर का सविस्तार वर्णन है। नवीनतम संस्कृत काव्य श्रीकृष्ण भट्ट के ही वंशज देवर्षि भट्ट मथुरानाथ शास्त्री का "जयपुर वैभवम्" है जो अपने "मन्जुलकवितानिकुंज" में नगर वीथी, राजवीथी, उत्सववीथी, नागरिक वीथी, उद्यान वीथी और अभिनन्दन वीथी के अन्तर्गत इस 'अद्वितीय सुन्दर, नित्योत्सवशाली, चित्र-लिखित सी जयनगरी' का हृदयग्राही चित्रण करता है।

हिन्दी के कवियों में इस नवनिर्मित नगर में चाकसू से आकर बसने वाले जैन कवि बखतराम साह ने अम्बावति (आमेर) और सांगानेर (सागानेर) के बीच "सुरपुर सो" बसाये गये "सवाई जयपुर" का बड़ा सुन्दर और ब्यौरेवार वर्णन किया है। 1764 ई. में हिन्दी के एक जैन विद्वान भाई रायमल्ल ने जयपुर को एक तीर्थ और "जैनपुरी" तक लिखा क्योंकि यहां दिगम्बर जैनियों के जितने मन्दिर और जितनी जनसंख्या है, उतनी देश के किसी अन्य नगर में नहीं। 1739 ई. में लिखित "भोजनसार" में भी गिरधारी नामक कवि ने ब्रजभाषा में जयपुर का बड़ा समसामयिक, प्रामाणिक और प्रभावशाली वर्णन किया है।

पाश्चात्य यात्रियों और कला- मर्मज्ञों ने भी आरम्भ से ही जयपुर की प्रशस्तियां लिखने में कोई कसर नहीं छोड़ी। किसी ने "एकदम नवीन नगर" को देश के पुराने नगरों से भी सुन्दर बताया तो किसी ने इसे "भारत का सर्वोत्तम नगर" स्वीकार किया "जिसकी मुख्य सड़कें इग्लैंड की अनेक सड़कों से उत्तम हैं।"

संक्षेप में कहूंगा कि इस दर्शनीय और बहुवैभवशाली नगर का इसकी स्थापना के समय से आज तक निरन्तर यशोगान होता आया है। मैंने निःसंकोच इन सभी कवियों, लेखकों और यात्रियों के संस्मरणों से लाभ उठाते हुए उन सभी संदर्भ पुस्तकों को भी देखने का प्रयत्न किया है जो विभिन्न वर्ण्य विषयों के लिए प्रासंगिक हैं। एक और बात जो जयपुर की इस कहानी को कुछ जमकर कहने और प्रामाणिक बनाने में सहायक हुई है, सम्बन्धित और जानकार लोगों से मेरे साक्षात्कार हैं। यह लिखने के लिए मैंने सचमुच इस नगर की कई-कई परिक्रमाएं लगाई हैं। हिसाब तो नहीं रखा, किन्तु सैंकड़ों घरों के दरवाजे मैंने खटखटाये हैं, सैंकड़ों ही मन्दिरों की देहरियां धोकी हैं और सैकड़ों ही पुराने लोगों तथा सैकड़ों दिवंगतों के वंशधरों से व्यक्तिशः सम्पर्क कर पते की बातों की जानकारी एकत्रित की है। नाम गिनाना असम्भव है और मैं यही कह सकता हूं कि इन सभी महानुभावों का मै हृदय से आभारी हूं। इन सबके सहयोग के बिना यह कार्य हो ही नहीं सकता था।

जयपुर नगर, इसके महलों और मन्दिरों, बाजारों और गली-मोहल्लों, विद्वानों और साहित्यकारों, कवियों और शायरों, शासकों और अधिकारियों, वैद्यों, संगीतज्ञों, दस्तकारों और हर उल्लेखनीय चल-अचल वस्तु के विषय में इस लेखन से मुझे वास्तव में बड़े आनन्द की अनुभूति और आत्मतुष्टि की प्रतीति हुई है। इस आनन्द और संतोष को मै जयपुर के कवि शिरोमणि भट्ट मथुरानाथ शास्त्री के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त कर सकता हूं:

भारतीय पेरिस पुरीव परिलोक्याभृशं।
जयपुरपुरी मे भूरिभाग्यैरभिधेयासौ।।

—भारत में पेरिस की तरह दर्शनीय यह जयपुर नगरी बड़े भाग्य से मेरी वाणी द्वारा वर्णनीय हुई है। इस सामग्री से यदि पाठकों का मनोरंजन और जयपुर सम्बन्धी जानकारी में किंचित् भी वृद्धि होगी तो मैं अपने श्रम को सफल मानूंगा। यदि विद्वानों और शोधकर्ताओं को इस सामग्री से कुछ उपयोगी और ऐतिहासिक सूचनायें मिल सकेंगी तो यह श्रम द्विगुणित सार्थक होगा।

—नन्दकिशोर पारीक

आभार

- राजमाता श्रीमती गायत्री देवी और कर्नल महाराजा भवानीसिंह ने इस पुस्तक के लिए कई उपयुक्त चित्र सुलभ कराने की कृपा की।
- महाराजा मानसिंह (द्वि.) संग्रहालय के निदेशक डा. अशोक कुमार दास तथा वहीं के अधिकारी श्री यदुएन्द्र सहाय ने भी अनेक चित्रों की प्रतिकृतियां करने की अनुमति देकर उपकृत किया।
- श्रद्धास्पद पं. गोपालनारायण बहुरा के ऋण से तो मैं कभी उऋण नहीं हो सकता। उन जैसा उदार संशोधक और मार्ग-निर्देशक पाकर मैं भाग्यवान हूं। पुस्तक में जो कुछ भी अच्छा है, उनकी अनुकम्पा का फल है और जो भी कमी अथवा त्रुटियां हैं, वे मेरी अपनी अल्पज्ञता के कारण।
- श्री रामचरण प्राच्य विद्या संग्रहालय के संस्थापक श्री रामचरण शर्मा 'व्याकुल' ने भी अपने संग्रहालय को वस्तुतः मेरे लिए खुला ही रखा और कई चित्र उपलब्ध कराए।
- 'सरकार' और 'राजस्थान पत्रिका' में भी मेरे सहयोगी एवं मित्र श्री भगवान सहाय त्रिवेदी ने पाण्डुलिपि को आद्योपांत पढ़ा और अनेक उपयोगी सुझावों से लाभान्वित किया। श्री ओम थानवी (इतवारी पत्रिका) ने प्रूफ-संशोधन में मेरा हाथ बंटाया।
- पुस्तक के डिजाइनिंग और मुद्रण में पत्रिका के व्यवस्थापक और वित्त. निदेशक बन्धुवर लक्ष्मीनारायण शर्मा और प्रबंध सम्पादक श्री विजय भण्डारी की अनवरत रुचि मेरा सम्बल रही। पत्रिका के कॉम्पसेट विभाग के श्री देवीसिंह, पेस्टिंग विभाग के श्री श्रीरामकुमावत, श्री कल्याण सहाय शर्मा, श्री जगदीश प्रसाद शर्मा और प्रेस के अन्य साथियों के सहयोग को भी मैं नहीं भुला सकता जिनके श्रम से ही पुस्तक का ऐसा मुद्रण संभव हो सका।
- राज्य के जनसंपर्क विभाग के निदेशक श्री कन्हैयालाल कोचर, छायाकार आनन्द आचार्य और विख्यात फोटोग्राफर श्री सूरज एन. शर्मा ने कतिपय दुर्लभ चित्र उपलब्ध कराए जिससे पुस्तक की रोचकता और उपादेयता में वृद्धि हुई।
- श्री छाजूसिंह चांपावत का सहयोग तो इस कार्य में सर्वथा अविस्मरणीय ही है।

लेखक उपर्युक्त सभी महानुभावों की उदार सहायता और हार्दिक सहयोग के लिए हृदय से आभारी है।

जिनके बीच मे फव्वारे जल की फुहारें छोडते हैं। दोनों ओर सम बाधकर एक-सी दुकानें और उनके ऊपर आवासीय, व्यावसायिक एवं धार्मिक भवनों- हवेलियों और मंदिरों— की पंक्तियां चली गई हैं जिन पर पुता गाढ़ा गुलाबी रंग सारे नगर को सूर्योदय और सूर्यास्त के समय एक निराली गुलाबी आभा से भर- भर देता है।

जयपुर की रचना में आधुनिक कोण हैं तो स्थापत्य मे क्लासिकल गोलाइयां या वृत्त भी। देश के स्वाधीन होने से पहले भी जयपुर अपनी सांस्कृतिक और बौद्धिक विरासत तथा अग्रगामी प्रशासन के कारण तत्कालीन राजपूताना प्रदेश में अग्रणी था। 1949 ई. में वर्तमान राजस्थान राज्य का एकीकरण हुआ तो इस राज्य को न जाने किस- किस बात में पिछडा माना गया और आज तक माना जाता है, किन्तु यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि पुरानी राजा-शाही के स्थान पर जिन जन- प्रतिनिधियों ने इस नये राज्य का राज- काज संभाला, उन्हें यहां पंजाब के लिये चण्डीगढ़, उडीसा के लिये भुवनेश्वर और गुजरात के लिये गांधीनगर जैसी नई राजधानी बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। यहां तो जयपुर बना- बनाया था जिसने तुरन्त ही भारत के इस दूसरे सबसे बड़े राज्य के सचिवालय और विधान सभा को भी उन इमारतों में ही खपा लिया जिन्हे आजादी से बहुत पहले राजाओं ने ही बनवा दिया था। जयपुर की पुरानी कौंसिल और भगवानदास बैरेक्स ही आज तक विधान सभा भवन और सेक्रेटेरियट बने हुये है।

जयपुर की बहु- चर्चित और प्रशंसित नगर- रचना का आधुनिक नगर- नियोजकों द्वारा अभी तक वैसा विस्तृत अध्ययन- अनुशीलन नही हुआ है जैसा होना चाहिये। अध्ययन और शोध यह बता सकते है कि इस नगरी की रचना, रूप- रंग और निर्माण सामग्री के पीछे हिन्दुओं के कौन- से धार्मिक नियम और लुप्त- प्राय प्रतीक हैं? यह इस बात का भी अपूर्व उदाहरण है कि पौराणिक धर्म- ग्रंथों के काल्पनिक वर्णनों को किस प्रकार ईंट- पत्थर- चूने से साकार कर प्रशासनिक और सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप और उपयुक्त बनाया जा सकता है, इतना कि बीसवी सदी के उत्तरार्द्ध में भी यह नगर- रचना का आदर्श बना हुआ है।

जयपुर की मूल रचना में सवाई जयसिंह ने अपनी नई राजधानी के लिये एक चित्रोपम, नैसर्गिक और उभरा होने के कारण देदीप्यमान भू- क्षेत्र चुना। साथ ही यह ध्यान भी रखा कि इससे जल- निकास की प्राकृतिक और उत्तम व्यवस्था हो, पेय- जल पर्याप्त मिले, सीधे- सपाट और प्रशस्त राजमार्ग और वीथियां हों, भवन- निर्माण सामग्री के लिये भी नगर- निवासियों को दूर न जाना पड़े और सार्वजनिक एवं निजी आवश्यकताओं के लिये आवासीय व्यवस्था तथा भावी विस्तार- विकास की पर्याप्त गुंजाइश हो। आधुनिक नगर- नियोजक इन सब बातों का ध्यान रखते हुये भी कहीं न कहीं गफलत कर बैठते है।

हमारे देश में वह शायद पहला ही अवसर था जब इस आकार- प्रकार और सज- धज का शहर नींव से बनाया गया और विद्याधर चक्रवर्ती की देखरेख मे "उस्ताओं" (वास्तुविदों) ने ब्लू- प्रिन्ट के आधार पर सारी कल्पना को मूर्त्त रूप दिया। किंतु स्वयं सवाई जयसिंह को यह श्रेय देना होगा कि उसने अपने इस नये नगर की कल्पना उस प्रकार नहीं की जिस प्रकार अकबर ने फतहपुर- सीकरी की की थी। जयपुर को केवल राजा, उसके अन्तःपुर और राज- दरबार की आवश्यकताएं ही पूरी नही करनी थी। इसे सच्चे अर्थों मे जनता का शहर बनाना था, जनता के रहने के लिए, विभिन्न काम- धंधों का शहर।

नगर के नौ आयताकार भूखण्डो या चौकड़ियो मे से, जो कुबेर की नौ निधियों की प्रतीक हैं, सात को नागरिकों के लिये— उनके आवासों, दुकानों और बाजारों, मंदिरों और मस्जिदों तथा उन कारखानों के लिये ही बनाया गया, जिनके कारण जयपुर की गिनती आगे चलकर भारत के प्रमुख औद्योगिक केंद्रों में हुई।

जयपुर का निर्माण आनन- फानन में हुआ। 1727 ई. में (पौष कृष्णा 1 संवत् 1784 वि.- उस दिन 18 नवम्बर पड़ा था) इसकी नींव रखी गई और 1734 ई. में सवाई जयसिंह से यूरोप में खगोल विद्या की प्रगति के विषय में विचार- विनिमय करने के लिये जयपुर आने वाले पादर जोस टाइर्फेन्थेलर ने इस नये- नये शहर को

भारत का सबसे सुन्दर नगर" बताया जिसके राजमार्ग "साफ और चौड़े हैं" और मुख्य सड़क जो पूर्व से पश्चिम को जाती हैं, "इतनी समतल और चौड़ी है कि छह या सात गाड़िया एक साथ बराबर-बराबर चल सकती हैं।"

1832 ई. मे आने वाले एक फ्रेंच यात्री ने जयपुर को ऐसा पाया था "(मुख्य मार्गों के) दोनो ओर महलों, मन्दिरो और मकानो के नीचे कारीगरो की दूकाने हैं जो प्राय: खुली हवा मे अपना-अपना काम करते देखे जाते है- दर्जी, चर्मकार, स्वर्णकार, सिलेहगर, हलवाई, ठठेरे आदि आदि दिल्ली में ऐसी एक ही सड़क है- चादनी चौक, लेकिन जयपुर मे सभी सड़कें ऐसी ही हैं.. कही कोई झोपड़ी, कोई जीर्ण-शीर्ण मकान और कूड़े-कचरे का ढेर नही। नगर वैसा ही दिखाई देता है जैसा यह वास्तव में है।"

जयपुर की स्थापना के प्रायः एक सदी बाद आने वाले विशप हीबर ने नगर को घेरने वाले परकोटे या प्राचीर की तुलना मास्को के क्रेमलिन की दीवारो से की।

जयपुर की स्थापना और इसके सौंदर्यीकरण एव विकास का क्रम तत्कालीन परिस्थितियों मे सचमुच विस्मयकारक है। जब जयपुर की नींव भरी जा रही थी, मुगलो का शक्तिशाली साम्राज्य छिन्न-भिन्न हुआ जा रहा था। नगर पूरी तरह बना भी न होगा कि नादिरशाह ने दिल्ली को उजाड और लूटकर वीरान बना दिया था और जिस रगीले बादशाह मुहम्मदशाह को स्वय जयपुर के संस्थापक ने "दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा" कहा था, उसे घोर अपमानित और लांछित किया था। 1743 ई. मे जयसिह की भी मृत्यु हो गई, किंतु उसके बाद 75 वर्षो तक मरहठो और पिंडारियो के आतंक और आये दिन की लूटपाट के बावजूद जयपुर बराबर बनता और बढ़ता रहा।

यह सर्वथा आश्चर्य ही है कि जयसिह के उत्तराधिकारियों ने, जो एक दिन के लिए भी न अपने जीवन के प्रति आश्वस्त थे और न "राज" के प्रति, निर्माण और कला-कौशल के विकास की ऐसी महत्वाकाक्षाओं को पूरा किया जिनकी पूर्ति शांतिकाल में भी बहुत कठिन होती है। जयपुर के अनेक भव्य मंदिर, जो इस नगर के स्थापत्य पर छाये हुये हैं, ईसरलाट नामक विजयस्तभ जो आज भी नगर की आकाश-रेखा है, चन्द्रमहल के विभिन्न कक्ष, पुराना घाट की पर्वतीय उपत्यका में सीढ़ीनुमा उद्यानो की शृंखला और जयपुर के व्यक्तित्व का प्रतीक, कमनीय जाली-झरोखों का हवा महल 75 वर्षो के इसी युगान्तरकारी और अनिश्चय के काल मे बने।

यही नहीं, जब मरहठे और पिंडारी आक्रामक नगर के प्रमुख प्रवेशद्वारों पर दस्तक दे रहे थे, यहा के नगर-प्रासाद मे राधा-कृष्ण की लीलाओं पर आधारित "भारतीय समूह-चित्रों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण"— गोवर्द्धन-धारण और रासमण्डल— जैसे विशाल चित्र बनाये जा रहे थे और यहा के राजाओं के हूबहू आकृति-चित्र भी बन रहे थे जिन्हे "हिन्दू आकृति-चित्रो में सर्वोत्तम" माना गया है। खगोलवेत्ता, ज्योतिर्विद और भारतीय धर्मशास्त्रो के प्रबुद्ध पाठक सवाई जयसिह का पुस्तकालय उसके समय में देश के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयो में से था। इसमे सवाई प्रतापसिंह (1778-1803 ई.) ने भी काव्य, खगोल, धर्मशास्त्र, दर्शन और आयुर्वेद पर सैकडो ग्रथ बढ़ाये जिनमे से अनेक स्यालकोट दौलताबादी कागज पर लिखे हुये हैं और भारतीय लिपिकारो की कला के बहुमूल्य नमूने हैं। यह सारी सांस्कृतिक एवं साहित्यिक थाती जिसमें अकबरी दरबार के एक रत्न, फैजी द्वारा किया गया महाभारत का सचित्र फारसी तर्जुमा "रज्मनामा" भी है, जयपुर के पोथीखाने में आज भी सुरक्षित है।

जयपुर ने 1818 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ सधि की और इसके बाद ही शांतिकाल का प्रादुर्भाव होने पर महाराजा रामसिंह (1835-80 ई.) ने जयपुर का आधुनिकीकरण किया। जयसिंह और उसके उत्तराधिकारियो का जयपुर सफेद और पीले रगो में पुता था, रामसिंह ने इसे गुलाबी बनाया। इसी महाराजा ने वे सब आधुनिक सस्थाये स्थापित की जिनके कारण जयपुर प्रगतिशील रियासतो मे अग्रणी माना जाने

जिनके बीच में फव्वारे जल की फुहारें छोड़ते हैं। दोनों ओर सन बाधकर एक-सी दुकानें और उनके ऊपर आवासीय, व्यावसायिक एवं धार्मिक भवनों- हवेलियों और मंदिरों— की पंक्तियां चली गई हैं जिन पर पुता गाढ़ा गुलाबी रंग सारे नगर को सूर्योदय और सूर्यास्त के समय एक निराली गुलाबी आभा में भर- भर देता है।

जयपुर की रचना में आधुनिक कोण ? तो स्थापत्य में क्लासिकल गोलाइयां या वृत्त भी। देश के स्वाधीन होने से पहले भी जयपुर अपनी सांस्कृतिक और बौद्धिक विरासत तथा अग्रगामी प्रशासन के कारण तत्कालीन राजपूताना प्रदेश में अग्रणी था। 1949 ई. में वर्तमान राजस्थान राज्य का एकीकरण हुआ तो इस राज्य को न जाने किस- किस बात से पिछड़ा माना गया और आज तक माना जाता है, किंतु यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि पुरानी राजा-शाही के स्थान पर जिन जन- प्रतिनिधियों ने इस नये राज्य का राज- काज संभाला, उन्हें यहां पंजाब के लिये चण्डीगढ़, उड़ीसा के लिये भुवनेश्वर और गुजरात के लिये गांधीनगर जैसी नई राजधानी बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। यहां तो जयपुर बना- बनाया था जिसने तुरन्त ही भारत के इस दूसरे सबसे बड़े राज्य के सचिवालय और विधान सभा को भी उन इमारतों में ही खपा लिया जिन्हें आजादी से बहुत पहले राजाओं ने ही बनवा दिया था। जयपुर की पुरानी कौंसिल और भगवानदास बैरेक्स ही आज तक विधान सभा भवन और सेक्रेटेरियट बने हुये हैं।

जयपुर की बहु- चर्चित और प्रशंसित नगर- रचना का आधुनिक नगर- नियोजकों द्वारा अभी तक वैसा विस्तृत अध्ययन- अनुशीलन नहीं हुआ है जैसा होना चाहिये। अध्ययन और शोध यह बता सकते हैं कि इस नगरी की रचना, रूप- रंग और निर्माण सामग्री के पीछे हिन्दुओं के कौन- से धार्मिक नियम और लुप्त- प्राय प्रतीक हैं? यह इस बात का भी अपूर्व उदाहरण है कि पौराणिक धर्म- ग्रंथों के काल्पनिक वर्णनों को किस प्रकार ईंट- पत्थर- चूने में साकार कर प्रशासनिक और सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप और उपयुक्त बनाया जा सकता है, इतना कि बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भी यह नगर- रचना का आदर्श बना हुआ है।

जयपुर की मूल रचना में सवाई जयसिंह ने अपनी नई राजधानी के लिये एक चित्रोपम, नैसर्गिक और उभरा होने के कारण देदीप्यमान भू- क्षेत्र चुना। साथ ही यह ध्यान भी रखा कि इसमें जल- निकास की प्राकृतिक और उत्तम व्यवस्था हो, पेय- जल पर्याप्त मिले, सीधे- सपाट और प्रशस्त राजमार्ग और वीथियां हों, भवन- निर्माण सामग्री के लिये भी नगर- निवासियों को दूर न जाना पड़े और सार्वजनिक एवं निजी आवश्यकताओं के लिये आवासीय व्यवस्था तथा भावी विस्तार- विकास की पर्याप्त गुंजाइश हो। आधुनिक नगर- नियोजक इन सब बातों का ध्यान रखते हुये भी कहीं न कहीं गफलत कर बैठते हैं।

हमारे देश में वह शायद पहला ही अवसर था जब इस आकार- प्रकार और सज- धज का शहर नींव से बनाया गया और विद्याधर चक्रवर्ती की देखरेख में "उस्ताओं" (वास्तुविदों) ने ब्लू- प्रिन्ट के आधार पर सारी कल्पना को मूर्त रूप दिया। किंतु स्वयं सवाई जयसिंह को यह श्रेय देना होगा कि उसने अपने इस नये नगर की कल्पना उस प्रकार नहीं की जिस प्रकार अकबर ने फतहपुर- सीकरी की की थी। जयपुर को केवल राजा, उसके अन्तःपुर और राज- दरबार की आवश्यकताएं ही पूरी नहीं करनी थीं। इसे सच्चे अर्थों में जनता का शहर बनाना था, जनता के रहने के लिए, विभिन्न काम- धंधों का शहर।

नगर के नौ आयताकार भूखण्डों या चौकड़ियों में से, जो कुबेर की नौ निधियों की प्रतीक हैं, सात को नागरिकों के लिये— उनके आवासों, दुकानों और बाजारों, मंदिरों और मस्जिदों तथा उन कारखानों के लिये ही बनाया गया, जिनके कारण जयपुर की गिनती आगे चलकर भारत के प्रमुख औद्योगिक केंद्रों में हुई।

जयपुर का निर्माण आनन- फानन में हुआ। 1727 ई. में (पौष कृष्णा 1 संवत् 1784 वि.- उस दिन 18 नवम्बर पड़ा था) इसकी नींव रखी गई और 1734 ई. में सवाई जयसिंह से यूरोप में खगोल विद्या की प्रगति के विषय में विचार- विनिमय करने के लिये जयपुर आने वाले पादरी जोस टाइफेन्थेलर ने इस नये- नये शहर को

भारत का सबसे सुन्दर नगर" बताया जिसके राजमार्ग "सीधे और चौड़े हैं" और मुख्य सड़कें जो पूर्व से पश्चिम को जाती हैं, "इतनी समतल और चौडी हैं कि छह या सात गाड़ियां एक साथ बराबर-बराबर चल सकती हैं।"

1832 ई. में आने वाले एक फ्रेंच यात्री ने जयपुर को ऐसा पाया था: "(मुख्य मार्गों के) दोनों ओर महलों, मन्दिरों और मकानों के नीचे कारीगरों की दूकानें हैं जो प्राय: खुली हवा में अपना-अपना काम करते देखे जाते हैं- दर्जी, चर्मकार, स्वर्णकार, सिलेहगर, हलवाई, ठठेरे आदि आदि.. दिल्ली में ऐसी एक ही सड़क है- चांदनी चौक, लेकिन जयपुर में सभी सड़कें ऐसी ही हैं... कहीं कोई झोंपडी, कोई जीर्ण-शीर्ण मकान और कूडे-कचरे का ढेर नहीं। नगर वैसा ही दिखाई देता है जैसा यह वास्तव में है।"

जयपुर की स्थापना के प्राय: एक सदी बाद आने वाले बिशप हीबर ने नगर को घेरने वाले परकोटे या फ़सील की तुलना मास्को के क्रेमलिन की दीवारों से की।

जयपुर की स्थापना और इसके सौंदर्यीकरण एवं विकास का क्रम तत्कालीन परिस्थितियों में सचमुच विस्मयकारक है। जब जयपुर की नींव भरी जा रही थी, मुगलों का शक्तिशाली साम्राज्य छिन्न-भिन्न हुआ जा रहा था। नगर पूरी तरह बना भी न होगा कि नादिरशाह ने दिल्ली को उजाड और लूटकर वीरान बना दिया था और जिस रंगीले बादशाह मुहम्मदशाह को स्वयं जयपुर के संस्थापक ने "दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा" कहा था, उसे घोर अपमानित और लांछित किया था। 1743 ई. में जयसिंह की भी मृत्यु हो गई, किंतु उसके बाद 75 वर्षों तक मरहठों और पिंडारियों के आतंक और आये दिन की लूटपाट के बावजूद जयपुर बराबर बनता और बढ़ता रहा।

यह सर्वथा आश्चर्य ही है कि जयसिंह के उत्तराधिकारियों ने, जो एक दिन के लिए भी न अपने जीवन के प्रति आश्वस्त थे और न "राज" के प्रति, निर्माण और कला-कौशल के विकास की ऐसी महत्वाकांक्षाओं को पूरा किया जिनकी पूर्ति शांतिकाल में भी बहुत कठिन होती है। जयपुर के अनेक भव्य मंदिर, जो इस नगर के स्थापत्य पर छाये हुये हैं, ईसरलाट नामक विजयस्तंभ जो आज भी नगर की आकाश-रेखा है, चन्द्रमहल के विभिन्न कक्ष, पुराना घाट की पर्वतीय उपत्यका में सीढ़ीनुमा उद्यानों की शृंखला और जयपुर के व्यक्तित्व का प्रतीक, कमनीय जाली-झरोखों का हवा महल 75 वर्षों के इसी युगान्तरकारी और अनिश्चय के काल में बने।

यही नहीं, जब मरहठे और पिंडारी आक्रामक नगर के प्रमुख प्रवेशद्वारों पर दस्तक दे रहे थे, यहां के नगर-प्रासाद में राधा-कृष्ण की लीलाओं पर आधारित "भारतीय समूह-चित्रों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण"– गोवर्द्धन-धारण और रासमण्डल– जैसे विशाल चित्र बनाये जा रहे थे और यहां के राजाओं के हूबहू आकृति-चित्र भी बन रहे थे जिन्हें "हिन्दू आकृति-चित्रों में सर्वोत्तम" माना गया है। खगोलवेत्ता, ज्योतिर्विद और भारतीय धर्मशास्त्रों के प्रबुद्ध पाठक सवाई जयसिंह का पुस्तकालय उसके समय में देश के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से था। इसमें सवाई प्रतापसिंह (1778-1803 ई.) ने भी काव्य, खगोल, धर्मशास्त्र, दर्शन और आयुर्वेद पर सैकडों ग्रंथ बढ़ाये जिनमें से अनेक टिकाऊ दौलताबादी कागज पर लिखे हुये हैं और भारतीय लिपिकारों की कला के बहुमूल्य नमूने हैं। यह सारी सांस्कृतिक एवं साहित्यिक थाती जिसमें अकबरी दरबार के एक रत्न, फैजी द्वारा किया गया महाभारत का सचित्र पारसी उल्था "रज्मनामा" भी है, जयपुर के पोथीखाने में आज भी सुरक्षित है।

जयपुर ने 1818 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ संधि की और इसके बाद ही शांतिकाल का प्रादुर्भाव होने पर महाराजा रामसिंह (1835-80 ई.) ने जयपुर का आधुनिकीकरण किया। जयसिंह और उसके उत्तराधिकारियों का जयपुर सफेद और पीले रंगों से पुता था, रामसिंह ने इसे गुलाबी बनाया। इसी महाराजा ने वे सब आधुनिक संस्थायें स्थापित कीं जिनके कारण जयपुर प्रगतिशील रियासतों में अग्रणी माना जाने

गया। जयपुर की जल-प्रदाय व्यवस्था, गैस की रोशनी, पक्की सड़कें, पहले-पहले स्कूल और कालेज, मेयो अस्पताल, कला-कौशल का संसार प्रसिद्ध विद्यालय, रामनिवास जैसा विशाल सार्वजनिक उद्यान, रामप्रकाश थियेटर और अलबर्ट हाल (संग्रहालय) की शानदार इमारतें— सब रामसिंह की ही देन हैं।

रामनिवास और रामबाग बनने से जयपुर का अपने परकोटे के बाहर बढ़ाव-फैलाव आरंभ हुआ था जो स्वर्गीय महाराजा मानसिंह के समय में तेज हुआ। महाराजा कालेज, महारानी कालेज, सवाई मानसिंह अस्पताल और मेडिकल कालेज, महारानी गायत्री देवी गर्ल्स पब्लिक स्कूल, भगवानदास बैरेक्स (अब सचिवालय), सरने-शाही और राजस्थान विश्वविद्यालय के आधुनिक भवन इसी काल में बने।

परकोटे से घिरा जयपुर का मूल नगर 1947 ई. में ढाई लाख की जनसंख्या का था। अब तो जयपुर की जनसंख्या दस लाख से भी ऊपर आंकी जाती है। और यह सही है कि नगर का बढ़ाव-फैलाव और जनसंख्या का दबाव जयपुर की उस मौलिकता और एकरूपता को धूमिल करने का ही कारण बना है जो अठारहवीं सदी में बने-बसे इस नगर ने पूरी दो सदियों तक अक्षुण्ण रखी।

निस्संदेह जयपुर के स्थापत्य और शिल्प, गाढ़े गुलाबी रंग और सफाई व्यवस्था पर इस बढ़ाव-फैलाव से बड़ी आँच आई है और वह जमाना गया जब जयपुर का प्रधान मंत्री, सर मिर्जा इस्माइल आगरा विश्वविद्यालय में दीक्षान्त भाषण (1943 ई.) देते हुए यह कह सकता था कि आगरा भारत का सबसे गंदा शहर है। जयपुर तब निहायत साफ-सुथरा और बड़े सलीके का शहर था और इसी ताव में सर मिर्जा दूसरे शहर के लिये ऐसा कह पाया था। आज तो जयपुर को स्वच्छ और स्वास्थ्यप्रद रखना ही इस नगर की सबसे बड़ी समस्या है।

जो हो, जयपुर में आज भी जादुई असर है। बहुत साल नहीं हुए कि एक प्रमुख ब्रिटिश वास्तुविद, सर ह्यूज कासन ने पीकिंग और वेनिस के साथ जयपुर का नाम जोड़कर संसार के तीन सबसे सुंदर नगर घोषित किये थे। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के चार अन्य वास्तुविदों ने इस नगर-त्रयी का समर्थन करते हुए इस सूची में चार और नगर जोड़े थे। ये हैं पेरिस, रोम, न्यूयार्क और सान फ्रांसिस्को।

जयपुर की यह विशिष्टता, मौलिकता और गरिमा आने वाले समय में भी बनी रहे, यह देखना जयपुर के नागरिकों का ही काम है।

2. अठारहवीं सदी का राज-प्रासाद

जयपुर शहर जिस माप, पैमाने और ढर्रे पर सवाई जयसिंह ने बसाया वह आज भी बड़े से बड़े नगर-नियोजकों के मन को मोह लेता है। नक्शा ही कुछ ऐसा बना है कि पहिले-पहल आने वाला एक नजर में ही लट्टू हो जाता है और यहां के चौड़े-सपाट हाट-बाजारों, नाक की सीध एक दूसरे के आर-पार जाने वाले रास्तों-गलियों, शहर की प्राकृतिक पृष्ठभूमि बनाने वाली पहाड़ियों और स्थापत्य तथा रंग की एकरूपता को देखकर वाह-वाह कह उठता है। इस अप्रतिम नगर-रचना की तो कवियों और लेखकों, स्थापत्य कला के विशेषज्ञों, पर्यटकों और सामान्य दर्शकों, सबने जी भर कर तारीफ की है; लेकिन ऐसे नायाब शहर के स्थापत्य या इमारती काम का जैसा लेखा-जोखा होना चाहिए, वह शायद आज तक नहीं हुआ है। सबमें बड़ी मिसाल जयपुर का नगर-प्रासाद या महाराजा का महल है जो नौ चौकड़ियों के इस शहर के बीचों-बीच मोदीखाना और विश्वेश्वरजी की चौकड़ियों के सामने समूचे उत्तरी क्षेत्र को घेरता है। परकोटे से घिरे शहर के कुल क्षेत्रफल का सातवां हिस्सा इस महल की 'सरहद' में आता है। चूंकि शहर की इमारतों में तो पिछले पैंतीस वर्षों में बड़ा फेर-बदल हो गया है और आये दिन होता जाता है, जयपुर के स्थापत्य पर विचार करने के लिए नगर-प्रासाद ही अब सबसे अच्छी और खालिस सामग्री हमारे सामने प्रस्तुत करता है।

जयपुर में नगर-प्रासाद का यह क्षेत्र एक तरह से शहर के भीतर बना हुआ एक और शहर है, राजा-रानियों की नगरी, जिसमें अनेक भव्य महल, दर्जनों मंदिर, फव्वारों, नहरों तथा हौजों से सजाये हुए लम्बे-चौड़े बाग-बगीचे, तालाब, कचेहरियां और "कारखाने", हाथियों के ठाण और घोड़ों के अस्तबल, ज्योतिष यंत्रालय (जंतर-मंतर) और चौगान, चेलों की हवेलियां और नक्कारचियों व शागिर्दपेशा लोगों के आवासीय-गृह भरे हैं। कहते हैं जब राजधानी आमेर में थी तो राजा लोग शिकार के लिये इधर के जंगल में आया करते थे और राजामल के तालाब के आगे ताल-कटोरा के तट पर एक शिकार की ओदी बनी हुई थी। सवाई जयसिंह ने इसी ओदी को चाइन महल का रूप दिया और जयपुर की नगर-रचना का यहीं से श्रीगणेश हुआ।[1] यह शिकार की ओदी और बागायत मिर्जा राजा जयसिंह (1611-67 ई.) के समय में बनी हुई बताई जाती है।[2]

डाक्टर वी.एस.भटनागर के अनुसार 1700-13 ई. की अवधि में तो जयसिंह बालक था और दक्षिण में रहा था। 1707-12 ई. के दौरान जयसिंह का अपना और आमेर का अस्तित्व भी खतरे में पड़ गया था

1. [illegible] जयपुर, द्वितीय संस्करण, जयपुर, 1916, पृष्ठ 16

2. [illegible] पृष्ठ 33

लगा। जयपुर की जल- प्रदाय व्यवस्था, गैस की रोशनी, पक्की सडकें, पहले- पहले स्कूल और कालेज, मेयो अस्पताल, कला- कौशल का संसार प्रसिद्ध विद्यालय, रामनिवास जैसा विशाल सार्वजनिक उद्यान, रामप्रकाश थियेटर और एलवर्ट हाल (संग्रहालय) की शानदार इमारत— सब रामसिंह की ही देन हैं।

रामनिवास और रामबाग बनने से जयपुर का अपने परकोटे के बाहर बढ़ाव- फैलाव आरंभ हुआ था जो स्वर्गीय महाराजा मानसिंह के समय में खूब हुआ। महाराजा कालेज, महारानी कालेज, सवाई मानसिंह अस्पताल और मेडीकल कालेज, महारानी गायत्री देवी गर्ल्स पब्लिक स्कूल, भगवानदास बैरेक्स (अब सचिवालय), तख्ते- शाही और राजस्थान विश्वविद्यालय के आधुनिक भवन इसी काल में बने।

परकोटे से घिरा जयपुर का मूल नगर 1947 ई. में ढाई लाख की जनसंख्या का था। अब तो जयपुर की जनसंख्या दस लाख से भी ऊपर आंकी जाती है। और यह सही है कि नगर का बढ़ाव-फैलाव और जनसंख्या का दबाव जयपुर की उस मौलिकता और एकरूपता को धूमिल करने का ही कारण बना है जो अठारहवीं सदी में बने-बसे इस नगर ने पूरी दो सदियों तक अक्षुण्ण रखी।

निस्संदेह जयपुर के स्थापत्य और शिल्प, गाढ़े गुलाबी रंग और सफाई व्यवस्था पर इस बढ़ाव-फैलाव से बड़ी आंच आई है और वह जमाना गया जब जयपुर का प्रधान मंत्री, सर मिर्जा इस्माइल आगरा विश्वविद्यालय में दीक्षान्त भाषण (1943 ई.) देते हुए यह कह सकता था कि आगरा भारत का सबसे गंदा शहर है। जयपुर तब निहायत साफ-सुथरा और बड़े सलीके का शहर था और इसी ताब से सर मिर्जा दूसरे शहर के लिये ऐसा कह पाया था। आज तो जयपुर को स्वच्छ और स्वास्थ्यप्रद रखना ही इस नगर की सबसे बड़ी समस्या है।

जो हो, जयपुर में आज भी जादुई असर है। बहुत साल नहीं हुए कि एक प्रमुख ब्रिटिश वास्तुविद, मर स्यूज कासन ने पीकिंग और वेनिस के साथ जयपुर का नाम जोड़कर संसार के तीन सबसे सुंदर नगर घोषित किये थे। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के चार अन्य वास्तुविदों ने इस नगर-त्रयी का समर्थन करते हुए इस सूची में चार और नगर जोड़े थे। ये हैं पेरिस, रोम, न्यूयार्क और सान फ्रांसिस्को।

जयपुर की यह विशिष्टता, मौलिकता और गरिमा आने वाले समय में भी बनी रहे, यह देखना जयपुर के नागरिकों का ही काम है।

ह मूलतः एक सिपाही था और उसने एक वैज्ञानिक का दिमाग पाया था। उसकी बनाई हुई हेचान यही है कि पैमाना बड़ा लेकर भी हमेशा सादगी बरती गई है। जयपुर की इमारतों में वह अलंकरण और कमनीयता कहीं नहीं है जो प्रतापसिंह के समय में बेहद बढ़ गई ने अपने महल और इस शहर को बनाने में जिस शैली को अपनाया, वह भारतीय की मूल धारा से न्यारी नहीं थी, लेकिन आमेर, आमागढ़ और घाट के पत्थर और यहां बनाई और कली के मेल से तैयार होने वाले चूने ने इस शैली में कुछ ऐसी विशेषताएं पैदा कर दी थी अपनी है और भारत में दूसरी जगह नहीं मिलती। यहां की इस निर्माण सामग्री ने बड़े राज में बड़ी से बड़ी इमारतें चनाई और स्थापत्य कला के अनुपातों का ऐसा निर्वाह किया कि ज भी उन्हें देखकर दंग रह जाते हैं।

इमारती काम की इन खूबियों में नुकीली, कामदार किनारों वाली या सादा मेहराबें, टोडों या) पर झूलते हुए झरोखे, पालथी मारकर बैठी हुई चौकोर, अष्टकोण या आयताकार गुम्बदे र उठी हुई गुम्बजदार छतरियां, गोखों में उठाये गये ताज, विशाल पोळ या द्वार, सीढ़ियों के र खुर्रे, चबूतरों के साथ ऊंची कुर्सी, खुले हुए लम्बे-चौड़े चौक और उनके चौतरफ शुंडाकार नियुक्त मेहराबों वाले लम्बे दालान जो कहीं-कहीं जालियों से बंद हैं, गिने जा सकते हैं। पत्थर न चुनाई और उस पर चूने का मोटा पलस्तर जयपुर की इमारतों की पुख्तगी का बीमा होता है। नक्काशी के बजाय रंगों की सजावट या बेल-बूटे होते हैं जो "लोई" या बारीक चूने-कली के र इस तरह रगड़-घिस दिये जाते हैं कि पीढ़ियों तक उनकी चमक और आब बरकरार रहती

नगर-प्रासाद में बने महलों और मंदिरों में यह सभी विशेषताएं मौजूद हैं। इस विशाल परम्परागत प्रवेशद्वार है सिरह ड्योढी या पूर्व की ओर देखता दरवाजा, जिसे 'बाडरवाल का कहते हैं। अठारहवीं सदी के इस राजपूत राजप्रासाद को देखने के लिये इसी द्वार से प्रवेश करना

ले सिरहड्योढ़ी के दरवाजे या बाडरवाल के दरवाजे को 'कपाट-कोट-का' भी कहते आये हैं। र को घेरने वाली दीवार को सरहद कहते हैं, लिहाजा सारे शहर के बीच में एक छोटा शहर है हर-पनाह के पहले दरवाजे का नाम 'कपाट-कोट-का' हर तरह उचित है। यह पहला दरवाजा का ही बनवाया हुआ है। यह सही है कि सवाई जयसिंह की कई पीढ़ियां पहिले से आमेर और ो मुगल बादशाहों की फरमाबरदारी में रहते आये थे, लेकिन जयपुर का शहर जब बनाया गया वारियों और जुलूसों, तीज-त्योहारों, मजलिसों और दरबारों का कुछ ऐसा करीना और सलीका या कि दिल्ली और आगरा की शाही शान-शौकत से होड़ होने लगी। इस दरवाजे से राजाओं द्रमहल तक पहुंचने के लिए थोड़ी-थोड़ी दूर पर बने हुए दरवाजों या "पोळों" की शृंखला से ा होता है। इन सारे रास्ते में कदम-कदम पर राजसी वैभव, दरबारी सभ्यता और उस नफासत ी है जो रेगिस्तान और पहाड़ी घाटियों से भरे राजस्थान के राजाओं ने मुगल दरबार के साथ

[illegible]

क्योंकि आमेर को बादशाह बहादुरशाह ने खालसा कर उसे मोमिनाबाद का नाम दे दिया था। 1716-20 का काल भी जयसिंह के लिए संकटपूर्ण ही बना रहा था और इस अवधि में उसने केवल आमेर के अपने महल मे कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन कराने के साथ-साथ उस स्थान पर कुछ निर्माण कार्य कराये थे जहां आगे चलकर उसके नये नगर के स्वप्न को मूर्त रूप लेना था।[3] सरहद में बसायी गयी राजा-रानियों की इस नगरी को नगर की चौकड़ियो ने घेरा जो इस देश मे शायद पहली बार पूर्णतः नगर-निवासियों या जनता के लिए परिकल्पित और आयोजित थी।

जयपुर की स्थापना अथवा औपचारिक शिलान्यास की तिथि पौष कृष्णा 1 संवत् 1784 थी, इस विषय पर अब विद्वानों में प्रायः मतैक्य होता जा रहा है। किन्तु, वास्तव में नगर का निर्माण इससे पहले ही आरंभ हो गया था। जयपुर के नगर-प्रासाद संग्रहालय में एक नक्शा[4] है जिसे नगर-निर्माण की प्रगति का सूचक माना जाता है। इस पर जो तिथि है, वह स्पष्ट नहीं है, किन्तु संवत् से सन् 1725 निश्चित होता है। इसका अर्थ हुआ कि औपचारिक शिलान्यास के दो वर्ष पूर्व ही जयपुर नगर का बनना आरंभ हो गया था और चौकड़ी सरहद या नगर-प्रासाद का निर्माण तो अवश्य ही शुरू हो गया था। गिरिधारी कवि के अनुसार सवाई जयसिंह ने अपनी नवीन राजधानी के लिए यह आदेश दिया था कि यह इस तरह बसाई जाय कि जयनिवास नगर के भीतर ही आ जाय।[5] ऐसा ही हुआ और 1725 ई. में नगर-प्रासाद में जय निवास बनकर तैयार हो गया।

जयपुर का यह नगर-प्रासाद वस्तुतः नगर-कोट है। सामरिक स्थापत्य मे आठ प्रकार के किले माने गये हैं और इनमें नगर-कोट वह है जो धराधार तो होता ही है, जनसंकुल नगर से भी घिरा रहता है।[6] जब जयपुर की आयोजना हो रही थी तो राजा के निवास के लिए नगर का यह मध्यवर्ती क्षेत्र सर्वथा उपयुक्त माना गया क्योंकि इसकी उत्तर दिशा नाहरगढ़ और गणेशगढ़ की पहाड़ियों तथा ताल कटोरा और राजामल के तालाब से, जिनमें तब मगरमच्छ भी खूब थे, सुरक्षित थी। दक्षिण में मोदीखाना और विश्वेश्वरजी की दो चौकड़ियां तब शायद एक ही चौकड़ी के रूप में बसाई जा रही थीं। पश्चिम में पुरानी बस्ती और उसके सामने तोपखाना देश की चौकड़ियां रहनी थी और पूर्व दिशा तो गलता व लाल डूंगरी की पहाड़ियों से प्राकृतिक सुरक्षा प्राप्त थी। मूल परिकल्पना शायद यही थी। घाट दरवाजा, तोपखाना हजूरी और रामचन्द्रजी की चौकड़ियां बाद मे बनीं।[7]

नगर-प्रासाद के उत्तर-पश्चिम में पहाड़ी की चोटी पर जयसिंह ने सुदर्शनगढ़ या नाहरगढ़ बनाकर अपने नये नगर की सुरक्षात्मक प्राचीरों को पुरानी राजधानी आमेर की रक्षा-व्यवस्था से जोड़ दिया था। सुदर्शनगढ़ से जयगढ़ तक पहाड़ी ही पहाड़ी पर पत्थरों से जड़ी सड़क भी गई है। ये गिरि-दुर्ग युद्ध-व्यापार के लिये थे, जबकि इनसे और जनसंकुल नगर से सुरक्षित नगर-प्रासाद जीवन के आनन्द और अठखेलियों के लिए था, जो अपने विभिन्न द्वारों और ऊंची प्राचीरों से घिर कर दुगुना सुरक्षित हो गया था। यह धराधार दुर्ग-प्रासाद "विषमास्य"-टेढ़ी-मेढ़ी सुरंगों- से भी परिपूर्ण है।

नगर-प्रासाद की विशालता, भव्यता और सुन्दरता के लिए एक लेखक ने, जो दुनिया घूम कर आया था और जिसने चीन और जापान के सम्राटों के राजमहल तथा फ्रांस और इंगलैण्ड के प्रासाद भी देखे थे, 1921 ई. मे लिखा था: "मुझे समूचे महल के आकार और शान-शौकत का कोई अनुमान ही नहीं था। मैं चलता गया...

3 कल्चरल हेरिटेज ऑफ जयपुर [illegible], जयपुर, 1975, पृष्ठ 69
4 एम एस/14, [illegible] 2 [illegible], [illegible], जयपुर
5 ओकेजनल, [illegible] 4
6. जयपुर का इतिहास (I), हनुमान शर्मा, जयपुर, 1937
7 हिस्ट्री ऑफ जयपुर सिटी, ए के राय, नई दिल्ली -1978, पृष्ठ 29

अपने मस्तक में मोती और जवाहर था।

बादरवाल के दरवाजे में प्रवेश करते ही दायीं तरफ दो दुमंजिले 'नोले' या गैरेज है, जिनके कपाटों की विशालता और मजबूती देखने की चीज है। यह सचमुच गैरेज हैं जिनमें ऐसे 'रथ' या गाड़ियां बन्द हैं जो घर का घर या हवेली की हवेली हैं। नीचे की मंजिल एक चौकोर कमरे की तरह और ऊपर गुम्बज और छतरियों वाली खुली बारहदरी। कभी राजा की सवारी में ऐसा रथ दो-दो हाथियों को जोतकर खींचा जाता था और ऐसा ही एक रथ बनवाकर सवाई जयसिंह ने मुगल बादशाह मुहम्मदशाह को भी भेंट किया था तो बादशाह उससे बड़ा खुश हुआ था।[9] हाथियों के इस रथ को "इन्द्र विमान" कहा जाता है।

यहां से जलेब चौक में दुंदुभी पोल या नक्कारखाने के दरवाजे से होकर प्रवेश किया जाता है। एक स्थापत्य-कला मर्मज्ञ का कहना है कि दुंदुभी पोल भारत के सर्वोत्तम दरवाजों में से एक है। दरवाजे की मेहराब को इमारत में ऐसे जड़ा गया है जैसे चौखट में तस्वीर जड़ी जाती है। दरवाजे के भीतर दोनों ओर दुमंजिले दालान बने हैं और ऊपर के दालान पूर्व दिशा में दोनों ओर खुले झरोखों में खुलते हैं। ऊपर दालानों की छतों पर, चारों कोनों पर, चार गुम्बजदार छतरियां और बीचों-बीच कमानीदार छत की एक लम्बी छतरी है जिसमें राजतंत्र के जमाने में "नौबत" बजती रहती थी।[10] ट्रैफिक की इतनी हड़बड़ और आबादी की ऐसी भच्चड़ तब नहीं थी और तड़के ही या ठण्डी रातों में इस नक्कारखाने में बजने वाली शहनाई और नौबत की आवाज सारे शहर में सुनाई पड़ जाती थी। दरवाजा क्या है, एक हवेली की हवेली है जो पहिले रंगों की सजावट से भरा था। सर मिर्जा इस्माइल के जमाने में इस खूबसूरत दरवाजे पर एक ही सस्ता रामरज का पीला रंग पोत दिया गया जिससे इसकी पुरानी शोभा तो जाती रही, लेकिन इमारती खूबियां आज भी मुंह बोलती है। यह द्वार जयसिंह के पुत्र माधोसिंह प्रथम का बनवाया हुआ है।[11]

जलेब से आशय रक्षा- दल से है और जलेब चौक वह विशाल चौकोर चौक है जिसमें सिरहड्योढ़ी या मर्दानी ड्योढ़ी में आजीविका पाने वाले शागिर्द- पेशा लोग रहते थे और दरबार या राजा की सवारी का साग-साज-सामान जुटाते थे। जयपुर के राजाओं की सवारी के जुलूस में सारा लवाजमा 'कपाट कोट का' या बादरवाल का दरवाजा से लगाकर उदयपोल तक सिलसिलेवार खड़ा किया जाता था और जलेब चौक से इसे क्रमबद्ध करने में बड़ी सुविधा होती थी। क्षत्रियों के लिये दशहरा सबसे बड़ा पर्व है और पोथीखाने में 22 अगस्त, 1911 की एक सूची उपलब्ध है जिससे पता चलता है कि दशहरे पर महाराजा की सवारी में लवाजमे का सिलसिला किस प्रकार रहता था। इस सूची को अन्य पर्व-उत्सवों पर भी राजा की सवारी के औपचारिक क्रम के लिये प्रामाणिक माना जा सकता है। सूची में लवाजमे की तरतीब इस प्रकार है:

1. हाथी निसाण को (ध्वज के साथ हाथी), धेलदार।, हरकारो ।
2. गुड्दा को पुरो (छोटी तोपों का समूह)
3. हाथी निसाण को मय जेटी के (ध्वजवाही हाथी, पहलवान सहित)
4. उट जुजवां को पुरो (छोटी तोपों से लदे ऊंटों का समूह)
5. माड्या को पुरो (ऊंटसवारों का समूह)
6. हाथी निसाण को मय पहलवान के

9. जयपुर एण्ड इट्स एनवायरन्स, हरनाथसिंह, जयपुर, पृष्ठ 76
10. जयपुर वैभव (सरनामसिंह - पृष्ठ 75) में कहा गया है कि [illegible]
[illegible]
11. जयपुर एण्ड इट्स एनवायरन्स, हरनाथसिंह, जयपुर, पृष्ठ 76
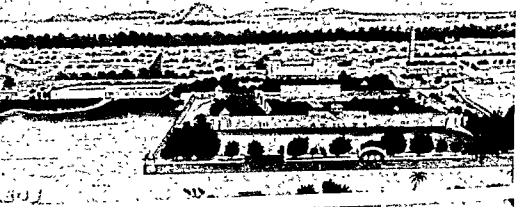
7. रथ श्री जी[12] वो गो ड्योढ़ी पर सूं गो श्री जी डोला (पालकी) में पधारै पाछै कपाट कोट कै दरवाजै बाहर रथ में विराजै पाछा नै गुरु लोग पालकियां में सवार होकर रथ कै पाछै चालै। महन्त बालानन्दजी का हाथी सवार रथ की साथ अपणै पद के मयाजमै मै चालै। रथ की साथ लवाजमो तफसील जैल– निसाण को हाथी, निसाण को घोड़ो, नक्कारा को घोड़ो, कोतल घोड़ो, पहरो पलटण को, अरबी बाजो

8. पुरब्यां को पुरो (पुरबिया सिपाहियों का समूह)

9. खासा चोबदार (खासा चंदोवे के साथ चार डंडाधारी)

10. रिसाला का नक्कारा, निसाण का घोड़ा

11. मांड्या खासा

12. हाथी किलाबा को (गले में रस्से के अनेक लपेटों वाला हाथी), हाथी गदड़ा को (सफेद गद्दे को ले जाने वाला हाथी)

13. रोशन चौकी घोड़ां ऊपर तफसील जैल– नक्कारची, मनायची (शहनाई-वादक), झांझ हालो, थाळिया हालो और भूंभाड़ा हालो

14. बाजा का घोड़ा, रिसाला को पुरो

15. चाबुकसवार आतिश का (राजकीय अश्वशाला के घोड़ों के प्रशिक्षक)

16. खासा बग्घी

17. इम्तियाजी (प्रतिष्ठित) सवार और मुतसदी (ओहदेदार) सवार

18. आरबी बिरादरी खासा

19. नक्कारा को घोड़ो धौंसा को[13]

20. ठाकुर स्योडा का, ठाकुर गीजगढ़ का[14]

21. हथ-निसाण (झण्डे के ऊपर हाथ का पंजा)

22. खास बरदारां को पुरो

23. हरकारा दाहिनी-बायीं तरफ, दोनूं बाजू पुरो

24. पुरा साटमार, बरछी बरदार, चरखीबरदार, बल्लमबरदार, अडाणी-बरदार, पंखाबरदार, जलेबदार, ढलैत, चौबदार, चपरासी –दोनूं तरफ दाहिनी -बायीं बाजू

25. रात होवै जद चरागची, महताबची -दोनूं बाजू

26. राजा उदयसिंह जी (ड्योढी के हाकिम) दाहिनी तरफ, ठाकुर रूपसिंहजी बायीं तरफ, गोविंददासजी हालो

27. पुरो खासा घोडा कोतल दरमियान चौक (लवाजमे से ही बनने वाले चौक के बीच) मय जेवर

28. पहलवान मय चार आहीना-मुसला (लोहे के मुगदर)

29. खबर का दारोगा मय पचरंग छड़ी कै

30. ड्योढ़ी का दारोगा

31. पुरो खवास चेलां को– सवारी श्री अन्नदाताजी–पुरो खवास–चेलां को (दोनूं ओर चंवर मोरछल

32. तख्ते-रवां, खासा कावड़ श्रीजल (गंगाजल की), खासा कावड़

33. भालाबरदार हरया भालां का मय फूंदा काला कै

---

12. महाराजा या दरबार।

13. यह मुगल बादशाहों से जयपुर के राजाओं को सम्मान-सूचक मिला था।

14. ये ठाकुर हरावल में चलने का विशेषाधिकार- प्राप्त थे।

जयपुर: नगर-प्रासाद

(मानचित्र प्रसिद्ध वास्तुविद् स्व. बी.एल. धामा के सौजन्य से)

संकेत

उदयपोल	11. चंद्रमहल
विजयपोल	12. शस्त्रशाला व पोथीखाना
जयपोल	13. सरहद की ड्योढ़ी
गंगापोल	14. मुबारक महल
दीवाने-आम	15. मुबारक महल चौक
जनानी-गैलरी	16. घटाघर
अम्बापोल	17. पुरबियों की ड्योढ़ी
दीवाने-खास	18. रसोवड़ा की ड्योढ़ी
गणेशपोल	19. गैंडा की ड्योढ़ी
प्रीतम निवास	20. आनन्दकृष्णजी का मंदिर

स्तम्भों की दोहरी कतारों से उठी हैं। पीछे की दीवार में दो-मंजिली दीर्घायें या गैलरियां हैं जो जाली के पर्दों में बन्द हैं। दरबार या दूसरे समारोह होते तो रानियां और जनानी ड्योढी की औरतें यहां बैठकर सारा नजारा देख सकती थीं। अब तो यह शानदार हाल सब तरफ से बन्द कर दिया गया है और यह सवाई मानसिंह द्वितीय संग्रहालय की प्रधान कला-दीर्घा बन गया है।

दिल्ली के लाल किले का दीवाने-आम बादशाहों का दरबार-हाल है और इससे बडा है। उसमें संगमरमर का सिंहासन भी है जिसमें कभी कीमती जवाहरात तक जड़े थे। जयपुर के राजाओं के दीवाने-आम में यह तो नहीं, लेकिन मेहराबों और छत में रंगों और सोने की कलम के काम जैसे डिजाइन बनाये गये हैं, वे जयपुर के कारीगर ही बना सकते थे। दिल्ली और आगरा के शाही दीवाने-आम से बढ़कर खूबी यह है कि उनमें जहां लाल बलुआ पत्थर के खम्भे हैं, यहां संगमरमर के सुघड़ स्तम्भ हैं जिन्हें जयपुर के संगतराशों ने सुन्दरतर बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। साथ ही दिल्ली और आगरा में जहां स्तम्भ दर्शकों के लिये रुकावट पैदा करते हैं, वहां जयपुर के दीवाने-आम के स्तम्भों को कुछ ऐसे करीने से लगाया गया है कि भीतर बैठने वालों को बाहर झांकने में और बाहर खड़े रहने वालों को भीतर ताकने में कोई अवरोध नहीं होता। इस बुलन्द इमारत की ऊंची छत में जो विशाल झाड़-फानूस लटक रहे हैं, वे रोशन हो जाते हैं तो सब कुछ स्वप्न-लोक जैसा हो जाता है।

जयपुर के आखिरी राजा सवाई मानसिंह द्वितीय (1922-1970ई.) ने अपने बाप-दादा के इसी दीवाने-आम में 16,081 वर्ग मील में फैली और चौबीस लाख की आबादी वाली जयपुर रियासत को राजस्थान के राजप्रमुख की शपथ लेकर इतिहास के गर्भ में विलीन होते देखा था। 30 मार्च, 1949 के दिन दीवाने-आम में जो आखिरी दरबार हुआ वह उस सारे इलाके की किस्मत बदलने वाला था जिसे अब राजस्थान कहते हैं। जिस भवन में कोई भी हिन्दुस्तान पगड़ी बांधे बिना प्रवेश नहीं पाता था, उसमें सोने-चांदी के सिंहासन पर भारत के लौह-पुरुष सरदार वल्लभ भाई पटेल "उघाड़े-माथे"—नंगे सिर—विराजमान थे। इस दरबार में बहुत से "दरबारी" भी नंगे सिर या सफेद टोपीधारी थे। जर्क-बर्क साफा बांधे हुए सवाई मानसिंह और उनके साथ दूसरे राजा तो अपने कदीमी राज खुशी-खुशी छोड़ रहे थे, लेकिन ये टोपी वाले और नंगे सिर वाले लोग बैठने के इन्तजाम को लेकर ही वहां लड़ने-झगड़ने लगे थे और कुछ तो सफा होकर "वा ॰-आउट" भी कर गये थे।[2] राजस्थान की फूट इतिहास-प्रसिद्ध है और जिन लोगों ने इस ऐतिहासिक दीवाने- आम में राजाओं को अपदस्थ कर राज-काज संभाला, उन्होंने और तो सभी पुरानी बातों को बिसरा दिया, लेकिन फूट की प्राचीन और ऐतिहासिक परम्परा को कायम रखा।[3]

2. [illegible]
3. [illegible]

5.सर्वतोभद्र: दीवाने-खास

जयपुर के राजाओं का "दीवाने-खास" सर्वतोभद्र नामक प्रासाद हुआ करता था। कपाट कोट का या चांदरवाल के दरवाजे से प्रवेश-द्वारों की जो शृंखला आरम्भ होती है वह अम्बापोल पर जाकर पूरी होती है। यह दरवाजा दीवाने-आम और सर्वतोभद्र के बीच की ऊंची और मोटी दीवार में बना है। दीवाने-आम की कुर्सी नीची और सर्वतोभद्र की कुर्सी अपेक्षाकृत ऊंची है। यह भव्य सभा भवन चौकोर है, जयपुर की इमारती शब्दावली में पांच "गज" लम्बा और इतना ही चौड़ा। चारों कोनों को बंद कर चार कमरे या कोठरियां बनाई गई हैं और बाहर चबूतरे पर लाल पत्थर के प्रकाश-स्तम्भ इसे बड़ी भव्यता प्रदान करते हैं। संगमरमर के दुहरे स्तम्भों पर कमानीदार मेहराबों वाला यह भवन खुला होकर भी वैसा खुला नहीं जैसा दीवाने-आम है। इसका मूल नाम "सर्वतोभद्र" इसी नाम की एक वेदी से लिया गया है और यह वैदिक नाप-जोख से ही बनाया गया है।

सरबता की उत्तर-पूर्व की कोठरी से सीढ़ियां ऊपर जाती हैं। छत पर बीचों-बीच एक बारहदरी है जिसमें रंगीन कलम का बड़ा सुन्दर काम है। कभी यहीं राजाओं के शरद-पूर्णिमा के दरबार हुआ करते थे।

राज्य के सरदारों और जागीरदारों में भी खास-खास, मुसाहिब और बड़े ओहदेदार यहां राजा से साक्षात्कार और राज-काज के अहम मुद्दों पर विचार-विमर्श किया करते थे। राजाओं की गद्दीनशीनी, मोअज्जिज मेहमानों के सम्मान में दावतें और ऐसे ही खास-खास समारोहों के आयोजन दीवाने-खास में हुआ करते थे। आम अनपढ़ लोगों ने इसे जहां सरबता कहा, वहां पढ़े लिखे मुंशियों और हाकिम- अहलकारों ने मुगल चलन पर इसका नाम "दीवाने-खास" मशहूर किया। लेकिन भारतीय संस्कृति और हिन्दू परम्पराओं के प्रेमी सवाई जयसिंह ने इसे "सर्वतोभद्र" नाम ही दिया था जो राज्य के अधिकृत कागजों और विद्वानों में आज तक प्रचलित है।

"ईश्वर विलास" महाकाव्य के रचयिता कवि कलानिधि, देवर्षि श्रीकृष्ण भट्ट ने सवाई जयसिंह के उत्तराधिकारी, ईश्वरीसिंह (1743-50ई.) के युवराज घोषित किये जाने के जिस दरबार या मजलिस और जलसे का वर्णन किया है वह इसी सर्वतोभद्र में हुआ था। संवत् 1790 की ज्येष्ठ शुक्ला 13 को सवाई जयसिंह ने अपने वैभव की चरम सीमा पर पहुंच कर यह दरबार किया था और उनका पहला बेटा ईश्वरी सिंह उनके साथी और बैठा था। जयपुर के दीवानी हजूरी दफ्तर का रिकार्ड बताता है कि इसमें "महाराज कंवारजी को जुगराज (युवराज) की पदवी" दी गई और "उठते समय श्री महाराजाधिराज (जयसिंह) ने महाराज कंवारजी को नजर करने की समस्त मुत्सद्दियों को आज्ञा प्रदान की कि वे दरबार में महाराज कंवर

गुमानीराम कायस्थ ने लिखा था। शालिग्राम के 146 स्वरूपों का दिग्दर्शन कराती कार्तिक एक अनुपम पाण्डुलि- भी यहां है। उबेद के फारसी ग्रन्थ "मसनवी-गोरवंद" में सत्रहवीं सदी के मुगल चित्र हैं और यह भी ए दर्शनीय पाण्डुलिपि है।

कला दीर्घा में मुगल और उत्तर-मुगलकाल के बेशकीमती कालीन भी हैं। सत्रहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में मि राजा जयसिंह ईरान, लाहौर, आगरा और दूसरी जगहों से जो कालीन-गलीचे लाये थे, यहां इस तर प्रदर्शित किये गये हैं कि उनके फूलों के डिजाइन और रंगों की आब देखते ही बनती है।

चित्रों, हस्तलिखित ग्रन्थों और कालीनों के साथ यहां राजा की सवारी की कुछ कलात्मक वस्तुयें भी रखी गई हैं। इनमें सोने-चांदी का हाथी का हौदा, तख्ते-रवां, अम्बावाड़ी, पालकी और रानियों के बैठने की छोटी गाड़ी है, मखमल की पोशिश वाली, जिस पर बड़ी खूबसूरत कसीदाकारी है।

सिलेहखाने के अस्त्र-शस्त्र इस संग्रहालय का दूसरा विभाग है जो दीवाने-आम में नहीं, आगे चलकर मुबारक महल के चौक में एक दूसरे हिस्से में प्रदर्शित किये गये हैं। यहां तरह-तरह के आकार की तलवारें हैं, जयपुर और राजस्थान के दूसरे हिस्सों की ही नहीं, फारस और मध्यएशिया में बनी हुई भी। किसी की मूठ मीनाकारी की है तो किसी में जवाहरात जड़े हैं और कइयों की तो म्यानें ही ऐसी कला और कारीगरी से बनी हैं कि बड़ी कीमती हैं। हाथी दांत, सोने और चांदी की मूठियों वाले खमवा, चाकू, छुरे और कटारें हैं, सींग और शंखों से बने हुए बारूद रखने के बर्तन (कुप्पियां) हैं, जिन पर हाथीदांत और सीप की सजावट है। तरह-तरह की बन्दूकें, राइफलें और पिस्तौलें हैं, देशी और यूरोपियन भी, धनुष और बाणों का भी खासा संग्रह है और हैं ढाल, गुर्ज, बाघनख, जिरह बख्तर और न जाने क्या-क्या और कैसे-कैसे हथियार! लड़ाई के साज-सामान की कई सदियां सिलेहखाने में आंखों के सामने आ जाती हैं। लाठियों और बेंतो-छड़ियों को भी यहां देखने लगें तो देखते ही रहें। अकबर के सेनापति राजा मानसिंह का खांडा देखकर यह मान लेना पड़ता है कि जिस योद्धा के हाथ में यह भारी-भरकम हथियार शोभा पाता होगा, उसी ने उस महान् मुगल सम्राट को इतने बड़े साम्राज्य का स्वामी बनाया होगा।

जयपुर नरेश संग्रहालय का तीसरा विभाग एक प्रकार से वस्त्र प्रदर्शनी है। यह मुबारक महल में ऊपर है और इसमें कश्मीर की नायाब बुनाई और कसीदाकारी के शाल, बनारस और औरंगाबाद के किन्खाब, असली रेशम के दुपट्टे और ढाका की वह लाजवाब मलमल भी है, जिसकी अब कहानियां ही शेष रही हैं। सांगानेर में कपड़ों की छपाई का उद्योग अब भी बड़े जोर-शोर से चलता है, लेकिन सांगानेरी कपड़ों के जो पुराने नमूने यहां हैं, वैसी बूटियां और रंग अब कहां बैठते हैं!

पुराने राजाओं की पोशाकें और रानियों के जरी और गोटा-किनारी के काम से लडालूम, जर्क-बर्क बेस भी यहां दिखाये गये हैं। बीच-बीच में कागज की कटाई के नमूने हैं, चौखटों में जड़े हुए। यह देखकर हैरत होती है कि सवाई जयसिंह के बेटे ईश्वरी सिंह के हाथ में कैसा कमाल था जो कागज को काट-छांट कर सीता-राम और हनुमान, राधाकृष्ण और वह भी कदम्ब की छांव तले गैया के साथ इस तरह बना देता था जैसे किसी "परफोरेटिंग" मशीन से बनाये गये चित्र हों।

जाकर बिराजे, दरबार किया, ठाकर लोग आये। परवाना सप्ती पर "राम सही" करी। इस प्रकार (महाराजकुमार) राज्य-कार्य करने लगे। पातशाहजी (मुगल बादशाह) ने खिताब जुगराज पद का बख्शा सो मौजमबेग (मुअज्जमबेग) गुजरबरदार (गुर्जबरदार) लाया और हाथी, घोड़ा, सिरोपाव, जवाहर भी लाया। गुजरबरदार को छह सौ रुपये दिये।"[1]

1743 ई. में सवाई जयसिंह के मर जाने पर ईश्वरसिंह इसी सर्वतोभद्र में गद्दीनशीन हुआ और ातशाह जी श्री महमदशाह जी (मुहम्मदशाह) की हुजूर दिल्ली से खिताब बड़ा महाराजाजी का मनसब स्ताने का हुक्म की फर्द आई सो नोबत बजाय खुशी मनाई। मुतसद्दी वगैरह की नजर लेकर अन्दर पधारे। पया 13,000 दरबार खर्च बाबत बहाल खिताब व मनसब बदस्तूर बड़ा महाराज मुआफिक फर्द करार ति ज्येष्ठ बुदी 5 साल सं. 1800 किये गये।"[2]

तब से स्वर्गीय महाराजा मानसिंह के उत्तराधिकारी वर्तमान कर्नल भवानीसिंह तक की गद्दीनशीनी की स्म इसी प्रासाद मे होती आई है। महाराजा प्रतापसिंह के समय से आम दरबार तो दीवाने-आम में होने लगे लेकिन महाराजा रामसिंह ने अपने समय में आने वाले बड़े-बड़े मेहमानों को इसी भवन में खाने खिलाये। तापसिंह के समय में तो सर्वतोभद्र का शायद और भी अच्छा उपयोग हुआ। पोथीखाने के ग्रन्थकार और रतखाने के मुसव्विर तब यहा बैठकर अपनी कृतियों को लिखते और बनाते। ऐसा उल्लेख पोथीखाने के कई न्थो में है।

महाराजा माधोसिंह के समय में भी अंग्रेज वायसरायों और दूसरे मेहमानों को सर्वतोभद्र मे ही "स्टेट बैंक्वेट" दी जाती थी। भारत की आजादी और राजस्थान के निर्माण के कई सालो बाद महाराजा मानसिंह ने भी झाड़-फानूस से जगमगाते सर्वतोभद्र मे ही सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के प्रथम सचिव निकिता ख्रुश्चेव और धानमन्त्री बुल्गानिन को "बैंक्वेट" दी। जयपुर के राजाओं के मध्यकालीन महल में रूस के ये कम्युनिस्ट नेता जब दावत खाने पहुंचे थे तो शहर मे जैसे भीड़ समा नहीं रही थी। "हिन्दी-रूसी भाई-भाई" का नारा लगाने में जयपुर वाले भी पीछे नहीं रहे थे।

अब तो सर्वतोभद्र बस देखने भर की एक सूनी इमारत रह गया है। इसके खाली आगन मे महाराजा मानसिह ठोस चादी के उन दो लोटो को रखवा गये थे जिनमे महाराजा माधोसिह 1902 में अपने उपयोग के लिये गंगाजल भरकर इग्लैंड ले गये थे।[3] कहने को तो इन्हें लोटा कहते हैं, लेकिन यह दोनों वास्तव में हैं बड़े विशाल पात्र। दोनों बर्तन ढक्कनदार हैं जिन्हें 304 दिन की मेहनत से जयपुर ही के कारीगरों ने बनाया था। पांच हजार रुपया बनाने वालों को मजदूरी का मिला था। इन दोनों रजतपात्रों का वजन 57,000 तोला या सत्रह मन (लगभग 680 किलोग्राम) है और मन भी वह जिसमें 88 तोले का सेर हुआ करता था। "गिनेस बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्ड्स" में भी इन पात्रो का उल्लेख हो चुका है। संसार में कदाचित् इनसे बड़े चांदी के बर्तन और कहीं नहीं हैं।

---

1. ईश्वर विलास महाकाव्यम्, जयपुर, 1958, पृष्ठ 75
2. वही, पृष्ठ 76
3 देखिये परिशिष्ट 5, महाराजा माधोसिह की इगलैण्ड यात्रा।

6.मुबारक महल

जयपुर के महलों में मुबारक महल अपने ढंग का एक ही है। चूने पत्थर से बना है, किन्तु इसके बहिरंग की छटा उन काठ के मकानों जैसी है जो काठमाण्डू या गगटोक में देखे जाते हैं। यह प्रभाव पत्थर को तराश कर उसमे बारीक कुराई द्वारा पैदा किया गया है। दुमंजिले महल का अन्तरग जयपुर के अन्य मकानों जैसा ही है, पलस्तर से परिपूर्ण या फिनिश्ड, पर सुदृढ़ और सुरुचिपूर्ण। पूरी इमारत मे किवाड़ों की जोड़ियां भी ऐसी लगी है कि अन्तरग और बहिरंग के शिल्प से पूरा मेल खाती है।

यह महल नगर-प्रासाद के भवनो मे सबसे नया है। महाराज माधोसिंह (1880-1922ई.) ने यह अपने मेहमानों के उपयोग के लिये बनवाया था। बाद में इसमे जयपुर रियासत का महकमा खास भी रहा और अब इसकी ऊपरी मंजिल मे जयपुर नरेश संग्रहालय का वस्त्र विभाग है और नीचे इस सग्रहालय और पोथीखाने के अधिकारीगण बैठते है। जिस विशाल चौक के बीचों-बीच यह महल है, उसके उत्तर-पूर्वी कोने में सुमधुर आवाज की घड़ियों वाला घंटाघर है, जो एक कुये के ऊपर बना है। यह महाराजा रामसिंह ने बनवाया था। दक्षिण की ओर त्रिपोलिया के ठीक सामने एक विशाल द्वार है, "पूरबिया की ड्योढी।" पूर्व की ओर ऐसा ही विशाल दरवाजा 'गैंडा की ड्योढी' कहलाता है। बी.एल धामा का मानना था कि कभी यहां गैंडा रहता था,[1] किन्तु ठाकुर हरनाथसिंह ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि इस द्वार का सम्बन्ध गैंडे से जोड़ना भ्रान्ति है। वास्तव में गैंडा "लफगंडार" शब्द का विकृत रूप है जिसका अर्थ होता है घरेलू नौकर। यह युक्तियुक्त भी लगता है, क्योंकि इस दरवाजे के बाहर कभी ज्योतिष यन्त्रालय के समानांतर खोजो या नाजरों की हवेलियां थीं। मिर्जा इस्माइल के समय (1941-44ई.) मे ये सभी हवेलियां धराशायी कराई गई थी क्योंकि ये यन्त्रालय की आड बनी हुई थी। इस द्वार को औपचारिक रूप मे वीरेन्द्र पोल भी कहते हैं।

मुबारक महल को सरबता या सर्वतोभद्र प्रासाद से जोड़ता है राजेन्द्र पोल नामक दरवाजा। इसे 'सरहद की ड्योढी' भी कहा जाता है। इस दरवाजे के निर्माण मे संगमरमर का प्रचुर प्रयोग किया गया है और इसकी दीवारों तथा मेहराब मे दर्शनीय नक्काशी है। सर्वतोभद्र तो सवाई जयसिंह ने ही बनवा दिया था और उसमे प्रवेश के लिए इसी स्थान पर सरहद की ड्योढी भी थी। जब मुबारक महल बना तो उस पुराने और सीधे-सादे प्रवेश द्वार को राजप्रासाद के अनुरूप नहीं समझा गया और यह नया द्वार बनवाया गया। दरवाजा क्या है, पूरी इमारत या महल है। इसमे दोनों ओर मेहराबदार दालान बने है और बाहर की ओर संगमरमर के झरोखे झांकते हैं जिनसे इसकी भव्यता बहुत बढ़ गई है।

1. ए गाइड टू जयपुर- आमेर, बी एल धामा, जयपुर, 1955, पृष्ठ 47
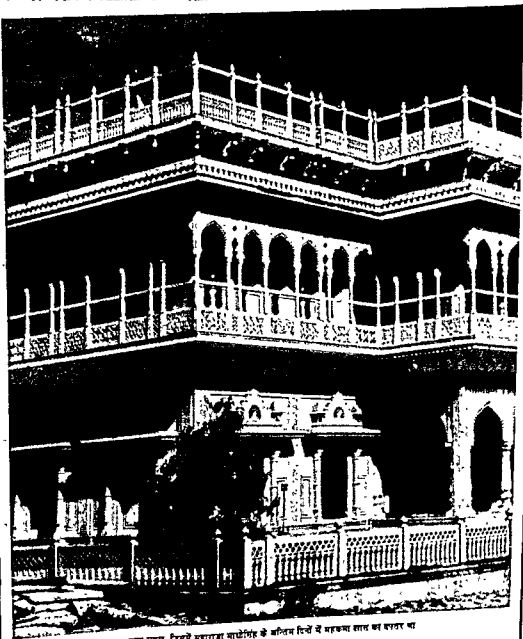
मुबारक महल, जिसमें महाराजा माधोसिंह के अन्तिम दिनों में महकमा खास का दफ्तर था

7. चन्द्रमहल

जयपुर के नगर-प्रासाद का मोर-मुकुट चन्द्रमहल है और इसकी सातवी मंजिल "मुकुट मंदिर" ही कहलाती है। सर्वतोभद्र के पश्चिम मे बड़े और ऊंचे दरवाजो के बजाय जयपुर के स्थापत्य की परम्परागत ताजदार "पोली" है जो अतीव सुन्दर और नयनाभिराम है। यह 'रिधसिध पोल' या गणेश पोल है जो चन्द्रमहल को सर्वतोभद्र से जोड़ती है। इसमें संदेह नहीं कि चन्द्रमहल जैसा आज है, उसमें सवाई जयसिंह से लेकर मानसिंह द्वितीय तक सभी राजाओ का कुछ न कुछ योगदान रहा है,[1] लेकिन अठारहवी सदी के इस भव्य राजपूत राजप्रासाद के प्रधान निर्माताओ मे जयसिंह, प्रतापसिंह और रामसिंह द्वितीय के नाम लिये जा सकते है। सवाई जयसिंह भव्यता के साथ सादगी का हिमायती था, पर प्रतापसिंह के समय में जयपुर की निर्माण-शैली जिस प्रौढ़ता और परिपक्वता को जा पहुंची थी उसमे जयपुर के मजबूत चूने के पलस्तर में अलंकरण का भी बड़ा रिवाज हो गया था। यह "प्रीतम निवास" के विशाल आंगन मे बनी हुई चार पोलो या "पोलियो" से ही स्पष्ट है जिनके अलंकरण में मयूर बने हुए है। यह कक्ष जयसिंह के बनवाये हुए "चन्द्र मंदिर" के पीछे है। प्रीतम निवास, रिधसिध पोल और भीतर का विशाल चौक प्रतापसिंह ने बनवाये थे। दोनो मिलकर चन्द्रमहल की सबसे नीचे की मंजिल है।

सवाई जयसिंह की आज्ञा से नगर-प्रासाद के इस सात मंजिले महल का निर्माण जयपुर के प्रधान नगर नियोजक विद्याधर चक्रवर्ती ने ही कराया था। विद्याधर को, जो महकमा हिसाब की एक शाखा का नायब दारोगा था, 1729 ई. मे, जब जयपुर नगर का निर्माण पूरे वेग से चल रहा था, 'देश दीवाण' नियुक्त किया गया था। 1734 ई. में उसे अश्वमेध यज्ञ का सिरोपाव बख्शा गया था और इसी वर्ष मे उसने ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को 'सतखणा' महल या चन्द्रमहल बनाने के उपलक्ष मे 'सिरोपाव कीमती मालिय 85-3' प्राप्त किया था।[2]

चन्द्र मंदिर मे बरामदे की भित्ति पर जयपुर के राजाओ के पूरे आकार के दर्शनीय चित्र बने है। संगमरमर के आंगन, स्निग्ध स्तंभ और सुरुचिपूर्ण रंग- सज्जा इस राजसी आवास की विशेषताएं है जो सवाई मानसिंह द्वितीय (1922-70 ई.) ने एक जर्मन कलाकार ए.एच. मूलर से कराई थी। 44 वर्ष राज करने और जयपुर जैसा शहर बसा देने के बाद इसी भवन मे सवाई जयसिंह ने निर्निमेष दृष्टि से भगवान गोविन्द को निहारते और व्रजनाथ व गोकुलनाथ जैसे विद्वान पंडितो से भागवत-कथा सुनते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त की

1. परिशिष्ट 1, जयपुर के राजाओं की सूची।

2 हिस्ट्री आफ जयपुर सिटी, ए.के.राय, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 242

जयपुर अपने पीतल के काम के लिए प्रसिद्ध है और रामसिंह के समय में ही महाराजा स्कूल ऑफ आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स ने इसमें बड़ी ख्याति पा ली थी। राजेन्द्र पोल जितनी दर्शनीय है, उतने ही दर्शनीय इसके विशाल कपाट हैं जिन पर पीतल की दर्शनीय सजावट है। अपने शिल्प सौन्दर्य और अलंकृत शोभा के कारण राजेन्द्र पोल सचमुच राजसी है। इससे एक ओर मुबारक महल तथा दूसरी ओर सर्वतोभद्र, दोनों की सुन्दरता और भव्यता में वृद्धि होती है।

राजेन्द्र पोल के बाहर दोनों ओर संगमरमर के हाथी खड़े हैं जिन पर महावत भी सवार हैं। जिन सिलावटों ने यह हाथी बनाये उन्हें इस पशु की शरीर रचना और राज-दरबारों में किये जाने वाले इसके शृंगार का पूरा ज्ञान था। तभी ऐसी हूबहू प्रतिकृतियां बनीं। यह हाथियों का जोड़ा यहां दिवंगत महाराजा मानसिंह ने अपने प्रथम पुत्र महाराजकुमार (अब कर्नल) भवानीसिंह के जन्मोत्सव के अवसर पर रखवाया था।

महाराजा मानसिंह ने ही मुबारक महल के चौक में पश्चिम की ओर एक लम्बी दीर्घा बनवाना आरंभ किया था जिससे जयपुर नरेश संग्रहालय की विविध वस्तुओं को अधिक अच्छे ढंग से प्रदर्शित किया जा सके। नगर-प्रासाद के इस नवीनतम भवन में समय-समय पर अनेक विशिष्ट प्रदर्शनियों का आयोजन किया जाता है।

इस चौक में दक्षिण की ओर पुरबिया की ड्योढी के आगे जो मकान बने हुए हैं, उन्हें "चौकीखाना" कहा जाता है। जब "राज सवाई जयपुर" था तो मर्दानी ड्योढी के काम से जुड़े कतिपय अधिकारी और कर्मचारी चौकीखाना में ही रहते थे। उदाहरण के लिए महाराजा माधोसिंह के विशेष कृपापात्र खवास बालाबख्श को चौकीखाने का ही एक मकान आवंटित था, क्योंकि वह महाराजा के शयन करने तक उनके साथ छाया की तरह लगा रहता था।

तसंह में यह उल्लेख किया है—
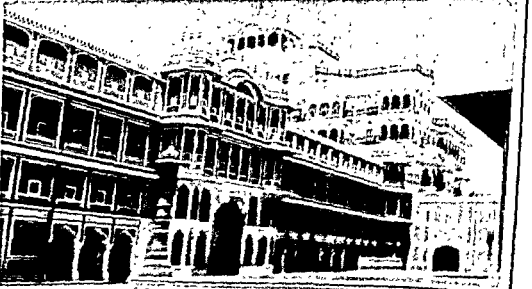
प्रतिबिम्बित जयसाह द्युति,
दीपित दरपण-धाम।
सब जग जीतन को कियौ,
काय व्यूह मन काम।।

—वहां चन्द्रमहल के शीश महलो के विषय में काव्य-रसिक सवाई प्रतापसिंह और उसकी 'कवि बाईसी' भी मौन ही रहे हैं।

चन्द्रमहल की तीसरी मंजिल "रंग मंदिर" कहलाती है। इसमें भी दीवारों, स्तंभों और छत में छोटे-बड़े शीशे हैं। चौथी मंजिल पर "शोभा निवास" है, पांचवी पर "छवि निवास" और इसके भी ऊपर छठी मंजिल पर "श्री निवास" प्रासाद है। यह अलग-अलग नाम जैसे बताते हैं कि आधुनिक राजभवनों और दिल्ली के राष्ट्रपति भवन में "द्वारका सूट", "अम्बर सूट" आदि नाम रखने की परम्परा नयी नहीं है। एक ही राजमहल के विभिन्न कक्षों को अलग-अलग नामों से मध्यकाल में भी जाना जाता था और यह नाम भी शुद्ध भारतीय तथा कक्ष की शोभा के अनुरूप अधिक युक्तियुक्त होते थे। शोभा निवास में रंग और सुनहरी कलम के साथ विभिन्न आकार के शीशों की जड़ाई है। जयपुर के राजा इसी कक्ष में बैठकर दीपावली पर लक्ष्मीपूजन किया करते थे।

चन्द्रमहल की सातवीं मंजिल "मुकुट मंदिर" है। यहां से सारा जयपुर शहर तो आंखों के नीचे आ ही जाता है, दूर की पहाड़ियों और उन पर बने दुर्गों और मंदिरों का भी विहंगम दृश्यावलोकन होता है। एक ही नजर में जयपुर की अप्रतिम नगर-रचना, अनूठे शिल्प-सौष्ठव और भव्य स्थापत्य-कला का दिग्दर्शन हो जाता है।

चन्द्रमहल की इस छत का उपयोग सबसे अधिक शायद महाराजा रामसिंह ने किया था। इस राजा के शौकों में पतंगबाजी भी एक था। चन्द्रमहल और जनानी ड्योढी के बीच रामसिंह के कमरे में एक कोठरी अब तक "पतंगों की कोटडी" कहलाती है। दूर-दूर के पतंग-डोर बनाने वाले तब यहां काम करते रहते थे। रामसिंह ने अच्छी "तुक्कल" बनाने वालों और "मांजा" सूतने वालों को इस हुनर में कमाल हासिल करने के लिये जागीर तक दी थी। चन्द्रमहल की छत से जो तुक्कल उड़ाये जाते वे आदम कद पतंग होते, जिनके पांवों में चांदी की छोटी-छोटी घुघरियां फुंदन बनकर लटकी रहतीं। ठुमकी के साथ जब तुक्कल हवा पर सवार होकर आसमान से बाते करने लगता तो यह बारीक घुघरियां भी ठुनक-ठुनक करतीं। आज तो बस अनुमान ही किया जा सकता है कि कैसा माहौल रहता होगा !

वैसे जयपुर में पतंगबाजी इस नगर की स्थापना के समय से ही चालू हो गई थी। तभी 1770 ई. में बख्तराम साह ने इस नगर के हाट-बाजारों का वर्णन करते हुए लिखा है: 'बन्नागर बुनगर बरकमाज, कह बेचत गुडी पतंगबाज।'[7] किन्तु बख्तराम साह से बहुत पहले महाकवि बिहारी ने आमेर में भी पतंगबाजी अवश्य देखी होगी। सतसई का यह दोहा प्रसिद्ध है—

7. बुद्धिविलास, जोधपुर, 1964, पृष्ठ 19
8. बिहारी सतसई, प्रयाग, 1950

थी। यह 3 अक्टूबर, 1743 की बात है।

चन्द्रमहल में रहनेवाले पहले राजा सवाई जयसिंह की तरह जयपुर के अंतिम महाराजा सवाई मानसिंह (द्वि) का पार्थिव शरीर भी यहां 1970 ई. में उसी स्थिति में जनता के दर्शनार्थ रखा गया था।

चन्द्रमहल की दूसरी मंजिल में "सुख निवास" है जो एक खुली छत पर खुलता है। यह महल भी अपनी दीवारों पर रंगीन बेल-बूटों और फूलों के डिजायनों से सजा हुआ है। कुछ चित्र भी हैं। सुख निवास सवाई जयसिंह ने अपनी चहेती रानी सुखकंवर के नाम पर बनाया होगा जो ईश्वरीसिंह की माता थी। आमेर में भी "सुख मंदिर" है। जयपुर के कवि शासक प्रतापसिंह को यह अत्यन्त प्रिय था। वह प्रायः इसी में रहता और अपनी काव्य-रचना करता था। अपनी एक रचना "स्नेह बहार" के अन्त में उसने लिखा है:

जय जयनगर मुकाम,
धाम जहां गोविन्द को।
पते कियौ विश्राम,
सरन गह्यौ नंद नंद कौ।।
जब ही कियौ विलास,
सुख निवास के माहिं यह।
बांचे बुद्धि-प्रकास,
दुख दारिद सब जाहिं बह।।[3]

अपने एक अन्य ग्रन्थ "रंग चौपड़" की रचना भी प्रतापसिंह ने इसी कक्ष में पूरी की थी:-

श्री गुबिन्द प्रभु के निकट
जयपुर नगरहि मद्ध।
ब्रजनिधि दास पतै कियौ
सुख निवास में सिद्ध।।[4]

भर्तृहरि के "वैराग्य शतक" के ब्रज-भाषानुवाद को भी प्रतापसिंह ने इन पंक्तियों के साथ पूरा किया है:

श्री राधा गोबिंद के
चरन सरन विश्राम।
चन्द्रमहल चित चुहल में
जयपुर नगर मुकाम।।[5]

प्रतापसिंह के ग्रन्थों में रचना संवत् के साथ-साथ सुख निवास, चन्द्र महल और जयपुर नगर मुकाम का स्थान-स्थान पर हवाला दिया गया है। "स्नेह संग्राम" में यह कवि नरेश कहता है:

जयपुर नगर मुकाम
चन्द्रमहलहिं अवलम्बत।
भयौ सुग्रन्थ प्रतच्छ
सुच्छता याई संवत्।।[6]

3. ब्रजनिधि ग्रंथावली, प. हरिनारायण शर्मा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 1933, पृष्ठ 49

4 वही, पृष्ठ 67

5-6. वही, पृष्ठ 128 तथा 21

था जो सबसे पहिले इंसान था। इस राजा की सादगी और वन्दापरवरी, दोनों की कहानियां ही इकट्ठी की जायें तो एक अच्छी खासी पोथी बन जाये। अपने पहिनने की बोतली रंग की अंगरखी और लाल पगडी को रामसिंह खुद ही धो लेता और रंग-सुखाकर पहिन लेता। महाराजा के पोशाकी कम नहीं थे और वह खास कपडों की देखभाल और उन्हें पहिनाने की ही तनख्वाह पाते थे, लेकिन रामसिंह के सरल स्वभाव और अपना काम खुद करने की ताब देखिये कि अपने सिर की नाप के लकड़ी के "मतंगे" पर स्वयं ही पगडी बांध लेता। मतंगा देखना हो तो आज भी पुरोहितजी के कटले में चले जाइये, जहां 'बींद राजाओं' के साफे और पगडियां बांधी जाती हैं और इस बंधाई के दाम भी अब तो अच्छे खासे देने पडते हैं।

इसमें शक नहीं कि रामसिंह जैसे बहु-प्रतिभा-सम्पन्न, शास्त्र और संगीत प्रेमी, बहु पठित और बहुश्रुत, कला-कौशल के संरक्षक, परम्पराप्रिय और सुधारवादी राजा का उत्तराधिकारी होकर रहना एक आसान काम न था। लेकिन माधोसिंह जैसा आदमी भी, जो न ऐसा पढ़ा-लिखा था और न इतना सुसंस्कृत, अपने 'गोपालजी' के भरोसे ही ऐसे बडे बाप का लायक बेटा साबित हुआ। रामसिंह जो बड़ी विरासत छोड़ गया था, माधोसिंह उसके प्रति बड़ा सजग और सचेष्ट था। अपनी जिन्दगी में उसने ऐसी कोई बात न की जिससे रामसिंह के खड़े किए हुए ढांचे में थोडी भी गडबड़ हो। चन्द्रमहल में सवेरे बिस्तर छोडते ही वह सबसे पहिले उस कोठरी में जाता जिसमें गोपालजी की मूर्ति विराजमान थी। फिर हाथ जोडकर भगवान से ये बातें करता जैसे किसी भगेसे के दोस्त या दातार मालिक से बतराते हैं। वह क्या था और क्या हो गया था, इस बारे में उसे कोई मुगालते भी नहीं थे। साफ दिल से वह गोपालजी से अर्ज करता: "गोपाल! ई राज और ई प्रजा को तू ही मालिक छै। मैं तो आयो कोनै, तू ही मनैं ई गद्दी पर ल्यायो छै। अब तू ही म्हारी लाज राखजे, इसी कोई बात मत होवा दीजे क म्हारे कोई धब्बो लाग जाय! गोपाल, माधोसिंह की तू ही निभावैलो!!"

और, गोपालजी ने माधोसिंह की बाम्नत में खूब निभाई। मन-गढन्त मनें-सुनाये किस्सों से वह जाने वालों की बात तो अलग है, लेकिन जिन लोगों ने माधोसिंह और उसके तौर-तरीकों को देखा और खूब नजदीक से समझा-परखा है, वे आज तक "मा दरेश" के गुण-गान करते नहीं थकते। उसके दान-पुण्य के चर्चे जैसे कभी खत्म ही नहीं होते- 'वैसा ओलादोला राजा कौन होगा!'

चन्द्रमहल, जिसके शीर्ष पर अब भी सवाई जयपुर का सवाया पचरंगा झंडा ही फहराता है (यह सवाया झंडा, जिसमें बडे ध्वज के ऊपर उसके एक चौथाई आकार का छोटा ध्वज लगता है, जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिंह की ही देन है), ऐसे अनुपात में बना है कि इसमें सब कहीं घूम कर देखे बिना इसकी विशालता और भव्यता का अनुमान ही नहीं होता। अपने सामने दूर तक फैले सुरम्य उद्यान के साथ यह राजसी आवास सचमुच जीवन के सुख और रंगीनियों को भोगने का एक आदर्श प्रासाद ही रहा होगा।

चन्द्रमहल के पश्चिम में एक छोटे चौक के साथ "माधो निवास" नामक महल है। इसका पश्चिमी भाग माधोसिंह प्रथम (1750-67ई.) ने बनवाया था, शेष भाग रामसिंह द्वितीय (1835-80ई.) ने जोड़ा। इसके पश्चिम में भी एक चौक है जिसके बीच में तरणताल है। माधोनिवास उत्तर की ओर जयनिवास उद्यान में खुलता है। लाल बलुआ पत्थर का इसका द्वार कुराई के काम से सज्जित है, जिसमें दो हाथी भी उत्कीर्ण हैं। इसीसे इसका नाम "गजेन्द्र पोळ" है।

सवाई जयसिंह (1699-1743 ई.), जयपुर नगर का संस्थापक

दीवान विद्याधर [illegible]

8. छत्तीस कारखाने

अपने महल के आसपास के चौकों में ही जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिंह ने छत्तीस कारखाने स्थापित किये थे। राज्य की "बावन कचेहरियां और छत्तीस कारखाने" जयपुर निवासियों की जुबान पर बार-बार आते थे। जब तक राजाओं का राज रहा, जयपुर में तो कोई छुट्टी या तातील तभी मुकम्मिल मानी जाती थी जब छत्तीस कारखाने भी बंद रहें और उनमें कोई काम-काज न हो।

जयपुर की समृद्धि और सम्पन्नता आमेर के राजा भारमल के अकबर की अधीनता स्वीकार करने के साथ आरंभ हुई थी और सवाई जयसिंह के समय में वह अपनी चरम सीमा पर थी। जयसिंह जैसे बहुश्रुत और दूरदर्शी शासक से यह बात भी छिपी नहीं थी कि मुगलों का गौरव अब अपने दिन गिन रहा है और अकबर ने जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, वह लड़खड़ा गया है। बाह्य रूप में मुगल बादशाह के प्रति वफादारी बरकरार रखते हुए जयसिंह ने अपनी कूटनीति और सूझबूझ से जो कुछ किया, उसका एक ही लक्ष्य था —आमेर या जयपुर को राजपूत राज्यों में प्रथम और सबसे बड़ी शक्ति बनाना। अपने इसी लक्ष्य को पाने के लिये उसने अपने राज्य के विस्तार के साथ (आमेर या नये जयपुर की सीमायें अब पूर्व में यमुना, पश्चिम में सांभर की झील, उत्तर में लोहारू और दक्षिण में लगभग चम्बल तक जा पहुंची थीं) नई राजधानी की स्थापना की, अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया और सामंती राज-व्यवस्था का भी पुनर्गठन किया।

सवाई जयसिंह ने ही कारखानों की कल्पना की और इसे मूर्त रूप दिया। किन्तु, जैसा अन्य बातों में उसने किया, कारखानों की स्थापना में भी जयसिंह ने मुगलों की नफासत के साथ अपनी परम्पराओं को बरकरार रखा। अपने कलात्मक वस्तुओं के संग्रह और आवश्यकताओं को देखते हुए उसने कारखानों की संख्या 36 निर्धारित की। आधार तो मुगलों वाला ही था, किन्तु जयपुर में इन कारखानों की संख्या और इनके नाम सर्वथा नये थे— ऐसे जो जयपुर के जनसाधारण की समझ में आयें। बखतराम साह इस सम्बन्ध में हमें बताता है:

> ऊंचे दरवाजे सुगम बाट।
> कंचन सम जटित बने कपाट।।
> लगते बनवाये चौक ईस।
> तहँ रहे कारखानै छत्तीस।। ।51।
> यह हुतौ करखानैं तनैस।
> पारसी नाम ता मध्य दोस।।

चन्द्रमहल के सामने जय निवास बाग, उसके फव्वारे तथा नहरें

8. छत्तीस कारखाने

अपने महल के आसपास के चौकों मे ही जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिंह ने छत्तीस कारखाने स्थापित किये थे। राज्य की "बावन कचेहरिया और छत्तीस कारखाने" जयपुर निवासियों की जुबान पर बार-बार आते थे। जब तक राजाओं का राज रहा, जयपुर में तो कोई छुट्टी या तातील तभी मुकम्मिल मानी जाती थी जब छत्तीस कारखाने भी बंद रहे और उनमे कोई काम-काज न हो।

जयपुर की समृद्धि और सम्पन्नता आमेर के राजा भारमल के अकबर की अधीनता स्वीकार करने के साथ आरंभ हुई थी और सवाई जयसिंह के समय में वह अपनी चरम सीमा पर थी। जयसिंह जैसे बहुश्रुत और दूरदर्शी शासक से यह बात भी छिपी नहीं थी कि मुगलो का गौरव अब अपने दिन गिन रहा है और अकबर ने जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, वह लड़खड़ा गया है। बाह्य रूप में मुगल बादशाह के प्रति वफादारी बरकरार रखते हुए जयसिंह ने अपनी कूटनीति और सूझबूझ से जो कुछ किया, उसका एक ही लक्ष्य था —आमेर या जयपुर को राजपूत राज्यों में प्रथम और सबसे बड़ी शक्ति बनाना। अपने इसी लक्ष्य को पाने के लिये उसने अपने राज्य के विस्तार के साथ (आमेर या नये जयपुर की सीमायें अब पूर्व में यमुना, पश्चिम में साभर की झील, उत्तर में लोहारू और दक्षिण में लगभग चम्बल तक जा पहुंची थीं) नई राजधानी की स्थापना की, अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया और सामंती राज-व्यवस्था का भी पुनर्गठन किया।

सवाई जयसिंह ने ही कारखानों की कल्पना की और इसे मूर्त रूप दिया। किन्तु, जैसा अन्य बातों में उसने किया, कारखानों की स्थापना में भी जयसिंह ने मुगलो की नफासत के साथ अपनी परम्पराओं को बरकरार रखा। अपने कलात्मक वस्तुओं के संग्रह और आवश्यकताओं को देखते हुए उसने कारखानों की संख्या 36 निर्धारित की। आधार तो मुगलों वाला ही था, किन्तु जयपुर में इन कारखानों की संख्या और इनके नाम सर्वथा नये थे— ऐसे जो जयपुर के जनसाधारण की समझ में आये। बखतराम साह इस सम्बन्ध में हमें बताता है,

> ऊंचे दरवाजे सुगम बाट।
> कंचन सम जटित बने कपाट।।
> लगते बनवाये चौक ईस।
> तहँ रहै कारखानै छत्तीस।। ।51।
> यह हुतौ कारखानैं तनीस।
> पारसी नाम ता मध्य बीस।।

नृप फादि हिंदवी नाम कीन।
गृह संख्या यह ठनी नवीन।।52।।

स्पष्ट है कि कारखानों की व्यवस्था तो स्पष्टत: मुगल या फारसी अनुकरण पर की गई थी, पर उनके नाम दोषपूर्ण मानकर जयसिंह ने "हिंदवी" नाम ही रखे और उनकी संख्या अपनी आवश्यकता और सुविधा के अनुसार निश्चित की। पण्डित गोपालनारायण बहुरा के अनुसार उन दिनों के कारखानों की पूरी सूची तो अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाई है,[2] किन्तु जयसिंह के पुत्र माधोसिंह प्रथम ने इस ओर विशेष ध्यान दिया था। उसकी आज्ञा से दलपतिराय ने संस्कृत में "राज-रीति निरूपण शतकम्" नामक ग्रंथ लिखा था जिसमें "यवन परिपाट्यनुसार" कारखानों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं:

शय्यागार-सुखसेजखाना।
मज्जनगृह-गुसलखाना, हम्माम।
देवायतन-तसबीहखाना।
पुस्तकालय-कुतुबखाना।
चित्रागार-तसवीरखाना।
भैषज्य गृह-औषधिखाना, दवाईखाना।
फलागार-मेवाखाना।
कोष्ठागार-जखीरा, अम्बार, कोठार।
महौषधिशाला-मोदीखाना।
कुप्पशाला-रिकाबखाना।
कांस्यागार-ठठेरखाना।
महानस-बबर्चीखाना (रसौड़ा)।
जलगृह-आबदारखाना, पाणेरा।
तांबूलगृह- तंबोलखाना।
प्रतिश्रय-बिलोरखाना, लंगर।
क्रयशाला-इर्बतियाखाना।
सीवनागार-किरकिरायखाना।
नेपथ्यागार-तौशकखाना, कपड़द्वारा।
सुगन्धागार-खुशबोयखाना, सौंधखाना।
वर्णागार-रंगखाना।
कलादागृह-जरगरखाना।
रत्नागार-जवाहरखाना, रत्नगृह।
प्रहरणकोश-कोटखाना, सिलहखाना।
संस्तरगृह-फराशखाना।
श्रीगृह-खजाना।
दानकोश-बेहला।
मन्दुरा-अस्तबल, तबेला।

---

[1]. बुद्धि विलास, राजस्थान पुरातत्त्व मंदिर, जोधपुर, 1964 ई
[2]. लिटरेरी हेरिटेज आफ दि रूलर्स आफ आमेर एंड जयपुर, पृष्ठ 13

. . . .खाना।
ाककमालय-खातिमबदखाना।
ीपिकागार-शमअ, चिरागखाना।
ोतिरालय-मशालखाना।
खशाला-दफ्तरखाना।
गयागार-शिकारखाना।
कनिकालय-कोशखाना।[3]

ह सूची, जैसा कहा जा चुका है, यवन परिपाटी के अनुसार है। सवाई जयसिंह ने इसी आधार पर अप ने स्थापित किये होंगे और सवाई माधोसिंह प्रथम ने कदाचित उनका पुनर्गठन किया होगा। कारखान पना के पीछे उद्देश्य यही था कि विद्वान, कवि, लेखक, चित्रकार, गायक-वादक और नर्तक, कलाका ल्पीजन को राजकीय सरक्षण दिया जाय तथा उन्हें प्रशिक्षित करके अच्छी से अच्छी कलाकृतियां औ ावश्यकता की वस्तुएं तैयार कराई जायें।

राजी ने अपनी पुस्तक में राजस्थान अभिलेखागार, बीकानेर, जयपुर के कपड़द्वारा और अन्य सूत्रो नकारी के आधार पर 34 कारखानो की सूची दी है जो माधोसिंह प्रथम (1750-67ई.) के समय में र ी पहले स्थापित हुए थे। यह सूची इस प्रकार हैः

कपडद्वारा, जिसमे (अ) किर्राकराखाना (ब) जरगरखाना (स) तोशाखाना और (द) खजाना बेहल

पोथीखाना
पुस्तखाना
ख्यालखाना
सलहखाना
फर्राशखाना
ालकीखाना
ीलखाना
र्घीखाना
शुतरखाना
रथखाना
तबेला, आतिश
ग्वालेरा या गोखाना
शिकारखाना
सौंडा
मोदीखाना

5 416-17

17. तालेड़खाना
18. तम्बोलखाना
19. औरावखाना
20. इमारत
21. मिस्त्रीखाना
22. नक्कारखाना या नौबतखाना
23. गुणीजनखाना
24. कारखाना पुण्य
25. बागायत
26. टाबर
27. तारकशी (गोटा-किनारी)
28. खुशबूखाना या इत्र की ओरी
29. नखास (घोड़ों का क्रय-विक्रय)
30. मशालखाना
31. पतंगखाना
32. पातरखाना
33. रंगखाना और
34. रोशन चौकी।

जैसा इन नामों से प्रकट है, कुछ कारखाने तो दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे, जैसे तम्बोलखाना, रसोड़ा, तालेड़खाना आदि। कुछ राजसी लवाजमों और ठाम-झाम में योग देते थे, जैसे नक्कारखाना मशालखाना आदि। बागायत का कारखाना राजकीय बाग-बगीचों की देखभाल के लिये था, कारखाना पुण्य दैनिक तथा विशिष्ट अवसरों पर दान-पुण्य की व्यवस्था करता था, ख्यालखाना और पतंगखाना जैसे कारखाने राजा के व्यक्तिगत शौक को पूरा करते थे और ये दोनों संभवतः रामसिंह द्वितीय (1835-80ई.) ने ही स्थापित किये थे।

सब कारखानों के काम को देखने के लिये एक विभाग था कारखाना-जात। इसके अन्तर्गत ये कारखाने अलग-अलग अथवा कुछ के समूह बन कर जयपुर रियासत के वर्तमान राजस्थान में विलीन होने तक बराबर चल रहे थे। अब तो नगर-प्रासाद में महाराजा सवाई मानसिंह द्वितीय संग्रहालय बन गया है और कुछेक "खाने" जो अब भी अस्तित्व में हैं, इस संग्रहालय के अन्तर्गत ही काम कर रहे हैं।

अब कुछ महत्त्वपूर्ण कारखानों का संक्षिप्त वर्णन करना भी प्रासंगिक होगा।

कपड़द्वारा

सवाई जयसिंह ने जो छत्तीस कारखाने स्थापित किये थे उनमें कपड़द्वारा एक ऐसा कारखाना या विभाग था जिसका रिकार्ड 1949 तक की, जब तक "राज सवाई जयपुर" कायम रहा, सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों, रीतिरिवाजों और 'कायदे-कायदों' को जानने के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है। "आइने-अकबरी" में "कुर्चीयराक का खाना" का उल्लेख है और उसी का हिन्दवी या जयपुरी रूप है कपड़द्वारा। इसमें जरगरखाना, सिरेकिरखाना, तोशाखाना और खजाना पेहला नाम के चार उप विभाग हुआ करते थे। जरगरखाने में सोने और चांदी के जेवरात व बर्तन, दस्तकारी, तारकशी, सलमा-सितारा, गोटाकिनारी और कलाबत्तू के काम होते। सिरेकिरखाना में जवाहरात और कीमती कपड़े रहते। तोशाखाना में राजाओं

अपने द्वारा स्थापित छत्तीस कारखानों में प्रमुख स्थान दिया था। पोथीखाने से आशय पुस्तकालय का है, लेकिन इसे "कारखाना" मानना बड़ा महत्त्व रखता है। पुस्तकालय तो एक बार बनकर सजावट की चीज भी बना रह सकता है, लेकिन उसे "कारखाना" बनाने में प्रयोजन यही था कि वह अनवरत चलता रहे और आगे बढ़ता रहे। इसलिये पोथीखाने में तभी से लेखक, कवि और कातिब (सुलेखक) जब तक रियासत रही, बराबर काम करते रहे। महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की प्रतिलिपियों के साथ- साथ मौलिक ग्रंथों की रचनायें भी यहां बराबर होती रहीं। चूंकि "सूरतखाना" और "ख्यालखाना" भी पहले पोथीखाने के हिस्से थे, इसलिये पहले में चित्रकार और सूरतगर और दूसरे में मिट्टी, कुट्टी, कागज, कपड़े आदि के तरह- तरह के खिलौने बनाने वाले अपने- अपने हुनर का जौहर दिखाते रहते थे और पोथीखाने मे साहित्य, कला और दस्तकारी की त्रिवेणी बहती रहती थी।

पोथीखाने के इतिहास और इसकी बहुमूल्य संपत्ति का विवेचन करते हुए कोई चाहे तो जिन्दगी खपा दे और एक नहीं, अनेक विशद ग्रंथ तैयार कर अमर हो जाय। इसके पीछे सबसे बड़ा तथ्य यह है कि आमेर के राजा मानसिंह प्रथम (1589-1614 ई.) से लेकर महाराजा मानसिंह द्वितीय (1922-70ई.) तक आमेर-जयपुर के जितने भी राजा हुए उनमें चाहे सब विद्वान न हुए हों, लेकिन विद्यारसिक और पुस्तक- प्रेमी अवश्य थे। फिर, पोथीखाना तो कारखानेजात में एक प्रमुख कारखाना था जिसका अपना काम एक निर्धारित कार्यप्रणाली और निश्चित प्रक्रिया के अनुसार चलता ही रहता था।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सवाई जयसिंह ने जब जयपुर बसाया तो उसे अपने पूर्वजों द्वारा संग्रहीत पाण्डुलिपियों, चित्रों और अन्य कलात्मक वस्तुओं का अम्बार मिला होगा। राजा मानसिंह, मिर्जा राजा जयसिंह (1621-1667 ई.), रामसिंह प्रथम (1667-1689 ई.) और विष्णुसिंह (1689- 1699 ई.) मुगल साम्राज्य की सेवा में अनेक सूबों में रहे थे और उन्हें सैनिक अभियानों में सब ओर जाना पड़ता था। ये सभी राजा बहुपठित और ग्रंथों तथा कलाकृतियों के प्रेमी थे। जयपुर बसने से पहले आमेर में भी इन ग्रंथों, चित्रों एवं अन्य कलाकृतियों का रख- रखाव किया जाता होगा। इस ओर शायद महाकवि बिहारी के आश्रय- दाता मिर्जा राजा जयसिंह ने विशेष ध्यान दिया और एक- एक पोथी और चित्र को सहेज कर रखवाया। पोथीखाने के अनेक ग्रंथों और चित्रों पर उसी काल की मुहर लगी है। कई महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियां मनोहर महात्मा के सुलेख में हैं जो मिर्जा राजा का प्रमुख लेखक था और पुष्पिकाओं में वह ग्रंथ- लेखन के स्थान तथा तिथि का उल्लेख भी अवश्य कर देता था।

मिर्जा राजा का पुत्र रामसिंह प्रथम अपने पिता द्वारा स्थापित महाविद्यालय में काशी पढ़कर आया था और अपने पिता तथा स्वयं अपने द्वारा जुटाये हुए ग्रंथों की सार- संभाल में गहरी दिलचस्पी लेता था। पोथीखाने में खास मुहर संग्रह का एक बड़ा भाग रामसिंह का ही जुटाया हुआ है। सवाई जयसिंह के पिता विष्णुसिंह ने भी इस परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए यत्न से ग्रंथ जुटाये और जयपुर के संस्थापक ने तो पोथीखाने की समृद्धि में वह योग दिया कि 44 वर्ष राज्य करने के बाद 1743 ई. में उसकी मृत्यु को "विद्या और विज्ञान की मौत" भी कहा गया।[4]

पोथीखाने के विशाल संग्रह को चार भागों में बांटा जाता है। पहिला भाग तो "खास मुहर" संग्रह है जिसकी दौलत का अन्दाज इस बात से हो सकता है कि इसमें कोई आठ हजार हस्तलिखित ग्रंथ और पाण्डुलिपियां हैं। खास मुहर से मतलब है राजा की अपनी व्यक्तिगत "सील" की हुई किताबें। चूंकि हर राजा किताबों का शौकीन था तो अपनी पसंद और जरूरत की कुछ न कुछ किताबें रखता ही था। यह सम्भव भी [illegible] उनकी खास कोठरी का कमरे के साथ किताबों की आमदनी भी "खास" हो जाती या "सील" कर दी

4 [illegible] 1932 पृष्ठ [illegible] (भाग 3)

जाती। अगले राजा की दिलचस्पी होती तो वह खोली जाती, वरना कुल्फ ही रहती। सवाई प्रतापसिंह (1778-1803 ई.) एक कुशल कवि और विद्वान था और उसके समय तक आते-आते कुल्फ की कई आलमारियां इकट्ठी हो गई थीं। सवाई जयसिंह के बाद इसी राजा ने शायद इन सबकी सार-संभाल कराकर सब ग्रंथों को विषयवार तरतीब से रखवाया। ग्रंथों की सुरक्षा के लिये उन पर छींट, पारचे, मिमरू और अनलस के कपड़े के गत्ते लगाये गये और कइयों पर चरमीने की जिल्दें भी बांधी गईं- चमड़े की जिल्दें। खास मुहर के आठ हजार ग्रंथों के इस संग्रह में महाराजा रामसिंह (द्वितीय) के समय तक की पुस्तकें मिलती हैं जो 1880 ई. में मरा था।

दूसरे भाग में पोथीखाने का 'खासा संग्रह' है और इसमें लगभग साढ़े तीन हजार हस्तलिखित और अनेक बहुमूल्य चित्रों से सुसज्जित ग्रंथ हैं। यह वे ग्रंथ हैं जो विभिन्न राजाओं ने अपने आश्रित कवियों, लेखकों, शायरों, अनुवादकों और कातिबों से लिखवाये, आज्ञा देकर खरीदवाये या जो उन्हें भेंट और उपहार में प्राप्त हुए। महाभारत का फारसी अनुवाद "रज्मनामा" इसी संग्रह का बेशकीमती ग्रंथ है। यह मुगल सम्राट अकबर के लिये उसके नवरत्नों में से एक —फैजी— ने प्रस्तुत किया था और दूसरे रत्न अबुलफजल ने इसकी प्रस्तावना लिखी थी। यह प्रति अकबर के निजी पुस्तकालय की मानी जाती है क्योंकि इस पर अकबर से लेकर आगे के कई बादशाहों तक की मुहरें लगी हैं। जहां तक अनुमान किया जाता है, यह तथा "शाही रामायण" जो फारसी में अकबरी दरबार के दूसरे विद्वानों ने तैयार की थी, सवाई माधोसिंह (प्रथम) के समय में ही जयपुर आकर पोथीखाने की संपत्ति बनी। "रज्मनामा" में 169 और "शाही रामायण" में 172 चित्र हैं और पाठ से अधिक इन चित्रों के कारण इन दोनों ग्रंथों की कीमत ऐसी हो गई है कि बादशाह ही चुका सकते हैं।

यहां यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि जयपुर के आखिरी राजा सवाई मानसिंह ने इस धरोहर की बड़ी चेतावी और समझदारी के साथ हिफाजत की। 1965 में जब पाकिस्तान का हमला हुआ और जोधपुर पर बम बरसाये गये तो महाराजा मानसिंह को सबसे ज्यादा चिंता पोथीखाने की हुई जो इतनी सदियों से नगर-प्रासाद में सुरक्षित था। सबको तो वे भी कहां ले जाते, लेकिन "रज्मनामा" और "शाही रामायण" को वह फौरन यहां से ले गये और अपने पास ही इस तरह सुरक्षित कर दिया कि कोई आंच न आये। धन-दौलत और महल-मालिये तो जाकर फिर लौट सकते हैं, लेकिन ऐसे अलभ्य और अमूल्य ग्रंथ-रत्न यदि नष्ट हो जायें तो फिर कहां से आयेंगे?

जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिंह के गुरु रत्नाकर पुंडरीक महाशब्दे का संग्रह पोथीखाने का तीसरा महत्त्वपूर्ण विभाग है। इसमें भी लगभग ढाई हजार पांडुलिपियां बताई जाती हैं। यह संग्रह पोथीखाने की अपेक्षाकृत नई संपत्ति है। महाराजा माधोसिंह (द्वितीय) के समय (1880-1922ई.) में जब विद्यावाचस्पति पंडित मधुसूदन ओझा पोथीखाने के अध्यक्ष बने तो उन्होंने पुंडरीक जी का यह संग्रह सुरक्षा और बेहतर देखभाल के लिये यहां मंगा लिया और अब यह पुंडरीक संग्रह के नाम से पोथीखाने का ही अंग है।

महाराजा रामसिंह (1835-1880ई.) का काल तो जयपुर का स्वर्णयुग था। उनके जमाने में जहां सारा शहर सजाया-संवारा गया, वहां शिक्षा की भी बड़ी उन्नति हुई। महाराजा कालेज, संस्कृत कालेज और गर्ल्स स्कूल के साथ-साथ महाराजा पब्लिक लाइब्रेरी भी कायम हुई। एक तरफ महाराजा स्कूल ऑफ आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स खुला तो दूसरी तरफ रामनिवास बाग में एलबर्ट हॉल और संग्रहालय की नींव लगी। सवाई जयसिंह और माधोसिंह प्रथम के समय में जैसे जयपुर को दूसरी काशी माना जाता था, वैसे ही रामसिंह के समय में भी जयपुर की विद्या और विद्वानों की ख्याति दूर-दूर जा पहुंची थी। दूर-दूर के विद्वान यहां आकर अपनी ज्ञानपिपासा शांत करते थे। महाराजा माधोसिंह (1880-1922ई.) के समय में भी जयपुर विद्या का केन्द्र बना रहा उसकी आधार भूमि महाराजा रामसिंह के समय में ही तैयार हुई थी।

रामसिंह ने अपनी आज्ञा से विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखवाये और [illegible]

दिया। सवाई जयसिंह की परिपाटी पर चलते हुए उसने धार्मिक पोंगापंथी के निवारण और समाज- सुधार की ओर भी ध्यान दिया। जयसिंह ने जैसे "वैदिक वैष्णव सदाचार" ग्रंथ तैयार कराया था, वैसे ही रामसिंह ने "संज्जन मनोनुरंजनम्" लिखवाया जो धर्मशास्त्र का बड़ा शास्त्रीय विवेचन है और पुकार- पुकार कर कहता है कि संस्कृत कम से कम जयपुर में तो अभी कल तक एक जीवित भाषा थी।

यह वह समय था जब भारत में प्रिंटिंग प्रेस चालू हो गये थे। महाराजा रामसिंह पोथीखाने में मुद्रित पुस्तकों का भी संग्रह करता, यह स्वाभाविक ही था। उसके संरक्षण में कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लीथो में छपे और वे सब पोथीखाने के चौथे विभाग में है। रामसिंह ही जयपुर का पहिला राजा था जिसका अंग्रेजों के साथ बड़ा निकट का सम्पर्क हुआ था। वह कई बार कलकत्ता भी गया था और शिमला तो बार- बार जाता था। कलकत्ता की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने "बिबलियोथिका इंडिका सिरीज" में जितने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किये, वह सब रामसिंह खुद खरीद कर लाया और "इंडियन आर्ट सिरीज" की भी सारी पुस्तकें खरीदीं। यह दोनों ही ग्रंथमालायें अपूर्व थीं और यह सभी ग्रंथ मुद्रित होने पर भी आज अलभ्य और बड़े कीमती हो गए हैं।

"जयपुर पोर्टफोलियो ऑफ आर्कीटेक्चरल डिटेल्स" की बारह जिल्दें तो जयपुर के रेजीडेंसी सर्जन टी.एच. हैण्डले ने इसी शहर में रहते हुए तैयार की थीं। इसी अंग्रेज की मेहनत से "मेमोयर्स ऑफ जयपुर एक्जीबीशन" भी चार भागों में निकली जिसमे "रज्मनामा" के कुछ अंश भी प्रकाशित हुए। यह दोनों माधोसिंह (द्वि) के समय में छपी थीं। रामसिंह जिस कमरे में रहते थे, उसमें चार छोटी कोठरियां बनी हुई हैं जिनमें एक आज तक "किताबों की कोटड़ी" कहलाती है। इस कोठरी में रामसिंह के समय में बनारस और कलकत्ता से जो भी महत्त्वपूर्ण ग्रंथमालायें प्रकाशित हुई, सबकी किताबें मौजूद थी जो अब पोथीखाने की मुद्रित पुस्तकों के संग्रह में रखी हुई हैं।

इसी राजा ने जब रामप्रकाश नाटकघर बनाया तो संस्कृत नाटकों के ही हिन्दी अनुवाद नहीं कराये, बल्कि दुनिया भर के नाटक एकत्रित करा लिए– संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू के नाटक। नाटकों का ही एक बड़ा पुस्तकालय तैयार हो गया। नहीं कहा जा सकता कि केवल नाटकों का इतना बड़ा, छंटा- छंटाया संग्रह, हिन्दुस्तान में और भी कहीं होगा!

महाराजा माधोसिंह (1880-1922ई.) का जमाना देखे हुये तो अभी जयपुर में बहुत लोग मिलेंगे। माधोसिंह का नाम कई बातों में यार लोगों ने ख्वामख्वाह बदनाम कर रखा है। जो लोग यह समझते हैं कि माधोसिंह निरक्षर भट्टाचार्य था, उन्हें यह तो नहीं कहा जा सकता कि माधोसिंह विद्वान था, लेकिन उनकी जानकारी के लिये बताना होगा कि माधोसिंह भी गजब का पुस्तक प्रेमी था। ईसरदा के ठाकुर का बेटा माधोसिंह राजपूत स्कूल में पढ़ा था जो महाराजा रामसिंह ने हवामहल के सामने मदनमोहन जी के मंदिर की एक बाजू में कायम किया था। पांचवीं और छठी क्लास में पढ़ते हुए उसे "गुड करेक्टर" और "प्रोफीशियेन्सी" के लिए उस बिना भीड़- भाड़ के जमाने के दस्तूर के मुताबिक कुछ किताबें इनाम में मिली थीं। माधोसिंह ने इन किताबों को शायद जयपुर के राज से भी ज्यादा प्यार किया और जिन्दगी भर सहेज कर रखा। महाराजा रामसिंह ने अपनी मृत्युशय्या पर उसे दत्तक पुत्र बनाया था। वह राजा बनने के लिए जयपुर आया तो इन किताबों को लाना न भूला और 1922 ई. में उसके मरने के बाद उसकी "खास कोटड़ी" में जो चीजें मिली उनमें यह किताबें भी है, जिन पर अंग्रेजी में जमा- जमा कर "कियामसिंह" (कायमसिंह) नाम लिखा हुआ है, जो माधोसिंह का राजा बनने से पहले, छुटपन का नाम था।

हैरत की बात है कि अनपढ़ माना जाने वाला यह राजा जहां कहीं भी जाता, किताबें खरीदना और उन्हें संभाल कर रखवाना नही भूलता। कलकत्ता, बम्बई और दिल्ली की यात्राओं में माधोसिंह की खरीदी और

ाई हुई किताबें पोथीखाने में मौजूद हैं। 1902 ई. में माधोसिह एडवर्ड सप्तम की ताजपोशी मे शरीक होने के लिए इंग्लैंड गया और वहा भी किताबे खरीदने में चूक नहीं की। 'सफर लन्दन में आई' हुई किताबें भी पोथीखाने की संपत्ति हैं और माधोसिह के लिए कोई मुगालता न हो, इसके लिए यह बताना भी मुनासिब होगा कि इनमे कोई किताब मेयम की नहीं है-- सब धर्मशास्त्र और दर्शन की पुस्तकें हैं या हैं कालिदास के नाटकों के अंग्रेजी अनुवाद।

माधोसिह को भगवान ने संगत के लिए पंडित मधुसूदन ओझा जैसा प्रकाण्ड पण्डित दिया था। ऐसा विद्वान सारे भारत में पिछले एक हजार वर्ष मे तो शायद दूसरा हुआ नही। ऐसे पारस को छूकर कोई भी लोहा सोना बन सकता था, फिर माधोसिंह तो आखिर आदमी था, बड़ा जागरूक आदमी।

महाराजा सवाई मानसिंह द्वितीय संग्रहालय ने संग्रहालय द्वारा प्रदर्शित एवं पोथीखाने के खास मुहर संग्रह में सुरक्षित ग्रंथों के सूची पत्र प्रकाशित कर दिये हैं, फिर भी पोथीखाने का यह विवरण कुछ महत्वपूर्ण, अलभ्य और विशिष्ट ग्रंथों का उल्लेख किये बिना पूरा नहीं किया जा सकता। "रज्मनामा" और "शाही रामायण" जैसी अमूल्य और दुर्लभ पाण्डुलिपियां तो हैं ही, वे मुद्रित पुस्तकें सबसे अधिक दिलचस्प हैं, जो अपने खगोल विद्या के अनुशीलन के लिए सवाई जयसिंह ने यूरोप से मंगवाई थी। इनकी सूची इस प्रकार है 5:--

1. हिस्टोरिया कोलेस्टिस ब्रिटान्निका (तीन भाग)- फ्लेम स्टीडियस	-1725 ई. में मुद्रित
2. ऑब्जरवेशन्स चाइनोइज (दूसरा भाग) पी गाबिल	-1732 ई. में मुद्रित
3. एड एस्ट्रम	-1557 ई. में मुद्रित
4. डिक्शनेरियम लेटिनम	
5. डिस्क्रिप्शन एण्ड यूज ऑफ सेक्टर एण्ड अदर इंस्ट्रूमेंट्स (ज्यामिति)	-1636 ई. में मुद्रित
6. दि पाथ-वे टू नॉलेज	-1551 ई. में मुद्रित
7. सीमेन्स कैलेण्डर (अंग्रेजी)	
8. कॉमन एक्सीडेंस एक्जामिन्ड (अंग्रेजी व्याकरण) चार्ल्स हूले	-1663 ई. में मुद्रित
9. ट्रेट डी फिजीक्स	-1675 ई. मे मुद्रित
10. स्फीरा (लेटिन)- अलाय जोसेफ-डु-बुआय	-1732 ई. में लिखित

इन्हीं की तरह जयसिह ने खगोल विद्या पर मुस्लिम ग्रंथों का भी अच्छा संग्रह किया था। इनके अतिरिक्त जयसिंह के गुरु जगन्नाथ सम्राट द्वारा अरबी भाषा के "मजिस्ती" का सस्कृत अनुवाद "सम्राट सिद्धांत", युक्लिड की ज्यामिती का उसी का किया हुआ अनुवाद "रेखागणित", नयनसुखोपाध्याय का "उकारा ग्रंथ", नित्यानन्द का "जीच नित्यानन्दी शाहजहांनी", "जीच उलुगबेगी" का संस्कृत अनुवाद, नयनसुखोपाध्याय का "शरह- तजकरा करजदी" का संस्कृत रूपान्तर, सोम सिद्धान्त, हयात ग्रंथ (फारसी में सस्कृत से उल्था), जातक संग्रह, मकरद ज्योतिष टिप्पणम्, मुहूर्तकल्पद्रुम, मुहूर्त शिरोमणि, वाराही संहिता बृहज्जातकम्, प्रजापतिदास सूर्य सिद्धान्त, सूर्य- सिद्धांत विचार और सोम सिद्धान्त भाष्यम् जैसे ग्रंथ इस ज्योतिषी एवं खगोलविद् नरेश के समय के ही हैं जिन्हें उसने बार- बार देखा और पढ़ा होगा। फिर वैदिक कर्म कांड यज्ञ- हवन और धर्म- कर्म पर भी अनेक ग्रंथ हैं, कुछ मंगवाये हुए और कुछ अपने विद्वानों से तैयार कराये हुए। दर्शन, योग और भक्ति पर भी ग्रंथों की भरमार है और इतिहास, काव्य तथा साहित्य पर भी प्रचुर मात्रा में पाण्डुलिपियां हैं।

---

5. हिस्टोरी हेरिटेज कल्चर आफ दि कछवाहा एण्ड आमेर एवं जयपुर, पृष्ठ 56

अंग्रेजी की कहावत है कि किसी आदमी को जानना हो तो उन पुस्तकों को जान लिया जाय, जिन्हें पढ़ने का उसे शौक है। इस कसौटी पर जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिंह को सहज ही एक विलक्षण व्यक्ति मानना होगा, जो अपने समय तक के सारे संचित ज्ञान का अध्ययन और मनन करता था और जो कुछ पढ़ता था, उसे व्यावहारिक प्रयोग द्वारा सिद्ध करके भी देखता था।

जयसिंह का उत्तराधिकारी ईश्वरीसिंह संस्कृत, फारसी, हिन्दी और राजस्थानी में समान गति रखता था। अपने गद्दी पर बैठने के साथ ही उसने कवि- कलानिधि श्रीकृष्ण भट्ट को "ईश्वर विलास" महाकाव्य लिखने का निर्देश दिया था। उसके समय में भी पोथीखाने में आयुर्वेद, आगम, भेषज- निर्माण और साहित्य के ग्रंथों की अच्छी वृद्धि हुई। स्वयं ईश्वरीसिंह कृत नारायणदास की 'भक्तमाल' का संस्कृत रूपान्तर भी पोथीखाने में उपलब्ध है। ईश्वरीसिंह के आत्मघात के बाद राजा बनने वाला उसका सौतेला भाई माधोसिंह प्रथम भी जयपुर को "दूसरी काशी" बनाये रखने में सफल हुआ था। शेख सादी के "गुलिस्ता" का संस्कृत अनुवाद "पुष्प वाटिका", दलपतिराय द्वारा "राजरीति- निरूपण" की रचना और अनेक काव्य ग्रंथों का प्रणयन उसके समय में और उसी के आदेश से हुआ। उसका स्वयं का 'पद्यावली सग्रह' और 'शब्द कौमुदी' व्याकरण भी उल्लेखनीय हैं। फिर सवाई प्रतापसिंह का काल तो पोथीखाने का वस्तुतः स्वर्ण- युग था। स्वयं इस कवि- शासक ने बीस से भी अधिक ग्रंथों की रचना की और उसकी कवि- बाईसी ने भी जयपुर के इस ज्ञान कोष को बहुत बढ़ाया। 1778 ई. में चारों वेदों की सम्पूर्ण प्रतियां एक फ्रांसीसी प्रतापसिंह के पोथीखाने से ही ले गया था। इस फ्रांसीसी विद्वान ले.क. एन्टोनिओ लुई हेनरी पोलियर ने 1789 ई. में अपना सग्रह ब्रिटिश म्यूजियम को दे दिया। इसी के आधार पर रोसेन ने संक्षिप्त वेद प्रकाशित कराया था। वेदों की ये प्रतियां राजा राममोहन राय ने भी इंग्लैंड जाने पर देखी थीं।[6]

सवाई जगतसिंह के समय में तो पद्माकर जैसा रससिद्ध कवि जयपुर ही में रहता था। जयसिंह तृतीय सोलह वर्ष की आयु में ही काल- कवलित हो गया था, किंतु सीताराम पर्वणीकर ने "जयवंश महाकाव्य" उसी के समय में लिखा।

रामसिंह द्वितीय ने तो अपनी प्रगतिशील नीतियों और सुधारो से जयपुर को राजपूताना में अग्रणी बना दिया था। पोथीखाना तब एक सजीव कारखाना था और इस काल में धर्मशास्त्र के बहुत ग्रंथ तैयार हुए। महाराजा माधोसिंह के समय की कुछ बातें ऊपर आ चुकी हैं। यहां इतना और जोड़ना उचित होगा कि अंग्रेजी में 'मेमोरियल्स ऑफ जयपुर एक्जीबीशन (चार खण्ड), 1883, जयपुर एनेमल्स, 1886, रूलर्स ऑफ इंडिया एण्ड चीफ्स ऑफ राजपूताना 1897, जयपुर पोर्टफोलिओ ऑफ आर्कीटेक्चरल डिटेल्स (बारह खण्ड) 1898, एशियन कारपेट्स 1905, नोट्स ऑन जयपुर, 1909 और कैटलॉग ऑफ जयपुर म्यूजियम, 1893 जैसे संदर्भ- ग्रंथ इसी राजा की प्रेरणा, उदारता और आर्थिक सहायता से स्विन्टन जैकब, हैडले और एच.एल. शावर्स जैसे अंग्रेजों ने तैयार कर प्रकाशित कराये थे।

पोथीखाने और संग्रहालय का आज जो भी रूप है, वह महाराजा मानसिंह द्वितीय की देन है। वे "ए हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन स्टेट फोर्सेज" भी लिखकर 1967 में ओरियन्ट लौंगमैन्स से प्रकाशित करा गये हैं। उनकी महारानी गायत्री देवी भी "गोरमेट्स गेटवे" (*1965 में प्रकाशित*) और "*ए प्रिन्सेज रिमम्बर्स*" (*महारानी की आत्मकथा*) की लेखिका है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि जयपुर में पोथीखाने जैसी सम्पदा इसलिये जुट पाई और सुरक्षित रही कि यहां के राजा न केवल पुस्तक प्रेमी थे, वरन् कई स्वयं अच्छे वृत्तिकार और लेखक थे।

जयपुर के राज- दरबार के कवीश्वरों को विभिन्न महाराजाओं से जागीरें मिली हुई थीं। वे समय- समय

6. "वैदिक गवेषणा" (बनारसी) में यह उल्लेख "लिटरेरी हेरिटेज आफ दि रूलर्स आफ आमेर- जयपुर" में उद्धृत है।

पर आकर महाराजा को अपनी रचनायें सुनाते थे। महाराजा की सालगिरह तथा पर्व- उत्सवों पर आयोजित होने वाले दरबार इसके लिए उपयुक्त अवसर होते थे। महाराजा रामसिंह के समय में जैसे बेड़ा खवास-चेलान की दैनिक हाजरी होने लगी, वैसे ही कवीश्वरों को भी हाजरी करने का आदेश दिया गया।

दिवंगत महाराजा मानसिंह के समय में महाराजा ने मेयो कालेज के अपने सहपाठी और ताजीमी सरदार पुरोहित प्रताप नारायण कविरत्न को पोथीखाने का मुन्तजिम बना दिया तो वे प्रति सप्ताह काव्य- गोष्ठी का आयोजन करने लगे। स्वयं कवि थे, अतः काव्य- रचना में उनकी स्वाभाविक रुचि थी। बाद में सतकोड़ी मुकर्जी और जोबनेर के ठाकुर नरेंद्रसिंह पोथीखाने के प्रभारी बने तो उन्होंने इस आयोजन को बंद कर दिया, लेकिन उनके बाद गोपाल नारायण बहुरा फिर से हर गुरुवार को काव्य- गोष्ठी करने लगे। उनके समय में भी बेड़ा कवीश्वरान में महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, अम्बाशंकर चतुर्वेदी, जवाहरलाल चतुर्वेदी, पद्‌माकर के वंशज विनोदीलाल भट्ट, पं. मनोहरलाल शुक्ल प्रभृति बड़े रससिद्ध कवि थे जो इन काव्य-गोष्ठियों में भाग लेते थे। इन सबकी स्फुट रचनायें पोथीखाने में सुलिखित और सुरक्षित हैं।

भट्ट मथुरानाथ शास्त्री को भी इन गोष्ठियों में आना होता था, किंतु उन्होंने आवेदन किया कि वे कवीश्वरों में नहीं हैं, अतः उनकी हाजरी माफ की जाय। अपने आवेदन में भट्टजी ने अपने पूर्वज कवि कलानिधि श्रीकृष्ण भट्ट का हवाला दिया जो माधोसिंह प्रथम के जमाने में किसी बात से रुष्ट होकर जयपुर से गये थे। माधोसिंह ने उनको तब यह लिखकर मनाया था कि "आप म्हांका माई- बाप छो। म्हे आपका यां बारै नहीं चालां (आप हमारे माई- बाप की तरह हो, हम आपके कहने के अनुसार ही चल सकते हैं, से परे नहीं)"!

इस दस्तावेज को पर्याप्त समझा गया और भट्टजी की हाजरी माफ हो गई, किंतु महामहोपाध्याय गिरिधर र्मा चतुर्वेदी की उनकी अखिल भारतीय ख्याति के बाद भी हाजरी माफ नहीं हुई। हां, यह आदेश अवश्य हो ा कि चतुर्वेदीजी को समय- समय पर व्याख्यान देने के लिए बाहर जाना पड़ता है, अतः वे जब भी जयपुर से हर जायें तो पोथीखाने में सूचना देकर जा सकते हैं।

रतखाना

जयपुर के राज-दरबार को सवाई जयसिंह ने जिस बौद्धिक धरातल पर जमा दिया था उसमें कवियों और वो की लेखनी के साथ चित्रकारों की तूलिका ने भी ऐसा कमाल दिखाया कि आज तक उसके रंग और गये चमक-दमक रही हैं। सूरतखाना जयसिंह के छत्तीस कारखानों में से एक था, हालांकि यह था तब थीखाने का ही एक हिस्सा। और, जैसा स्थापत्य-कला में हुआ, चित्रकला में भी जयपुर की कलम का जौहर वाई प्रतापसिंह (1778-1803ई.) के समय में ही अपने चरम उत्कर्ष को पहुंचा। औरंगजेब की नीति से शान होकर जब शाही संरक्षण पाने वाले मुसव्विर और सूरतगर दिल्ली और आगरा को छोड़कर अन्यत्र श्रय खोजने लगे तो यह स्वाभाविक ही था कि जयपुर जैसे दरबार में उन्हें सबसे अधिक संरक्षण मिलता। ने-बिखरते मुगल साम्राज्य का सांस्कृतिक उत्तराधिकार तब की हिन्दू रियासतों और राजपूत रजवाड़ों को मिला था और जयपुर का दरबार इनमें सबसे आगे था। यद्यपि जयपुर में विकसित शैली में "स्वतन्त्र ल्पना का अभाव और प्रतिलिपियों का प्रभाव अधिक" रहा, तथापि उत्तर मुगल-काल के उस सांस्कृतिक नर्जागरण में यह कलम उत्तरोत्तर मजबूती और प्रांजल होती गई जो अन्ततः मुगल प्रभाव से अपने आपको बंधा मुक्त कर एक स्वतन्त्र शैली मानी गई—जयपुर शैली— जिसने भारतीय चित्रकला की महान् परम्परा ो कुछ ऐसे चित्र भेंट किये जो आधुनिक-चित्रों के भी सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं और ममत-चित्रों के भी।

पोथीखाने की तरह जयपुर के सूरतखाने के वैभव को भी संसार के सामने प्रकट हुए अधिक समय नहीं आ है। महाराजा मानसिंह (द्वि.) की नाबालगी में जयपुर की रीजेंसी कौंसिल ने पहली बार सूरतखाने की छान

सवाई प्रतापसिंह (1778-1803 ई.)। इस कृष्ण-भक्त महाराजा के इस विशाल पूर्णाकार चित्र में ललाट पर ऊर्ध्व तिलक के स्थान पर त्रिपुण्ड्र
हरसीराम व्यास ने शैव-वैष्णव विवाद के समय लगवाया था

क ही तूलिका का कमाल हैं। कृष्ण की कनिष्ठका पर गिरिराज गोवर्धन उठा हुआ है और उसके नीचे खड़े हैं ग्वाल-बाल, गोप-गोपिकायें और गायें जिन्हें वह यमुना-तीर पर चराते थे। चित्र के बायें कोने में बादलों की घुमड़-घुमड़ के ऊपर इन्द्रलोक है। इन्द्र तो अपमानित होकर कृष्ण के चरणों में झुका जा रहा है और दूसरे देवी-देवता भी ब्रज- भूमि में आ रहे हैं। यद्यपि यह चित्र भी भीड़ से भरा है, लेकिन एक-एक गोप-गोपिका की मुद्रा देखते ही बनती है। गायें भी कलाकार ने सच्चे प्यार और गहरे ज्ञान के साथ बनाई है। देवताओं के विभिन्न वाहन—इन्द्र का ऐरावत, गणेश का मूसा, शंकर का बैल—, तथा सारस और अपनी-अपनी गैया-मैयाओं का दूध पीने के लिए आतुर उछलते-कूदते बछड़े-बछड़ी इतने सजीव, इतने प्राणवान हैं कि दृष्टि ठगी-सी रह जाती है। सारा दृश्य इतना भावात्मक और जीवन से भरपूर है कि वर्णन करना कठिन है। रासमण्डल और गोवर्धन-धारण उन ऊंचाइयों के प्रतीक हैं जिन पर जयपुर के चित्रकार अठारहवीं सदी के अन्त में पहुंच चुके थे। कल्पना और चित्रांकन की दृष्टि से ऐसे महान् समूह चित्र कब-कब देखने में आते हैं!

इन चित्रों के स्तर तक पहुंचने वाला नाचती हुई गोपियों का एक और चित्र सूरतखाने की धरोहर है। इसकी प्रतिकृतियां आनन्द कुमारस्वामी के "इंडियन ड्राइंग्स" (दूसरी सिरीज) की शोभा बढ़ा चुकी हैं। चित्र का आकार और रंगों की आब गजब ढाती है। इन्हें जितना देखा जाय और जितना इनके विषय में लिखा जाय सब कम और नाकाफी है।

जयपुर दरबार के चित्रकारों ने रेखाओं के आलेखन में बड़ी सिद्धि और कुशलता पाई। "स्याह कलम" से बने चित्रों में रंगों की समानता और सुवर्ण के दमकते आलेखन उनकी विशेषता रही। छह फुट लम्बे और तीन फुट चौड़े दो और चित्र जो पहिली आल इण्डिया आर्ट एक्जीबीशन में भेजे गये थे, शीत ऋतु और ग्रीष्म ऋतु के प्रतीक हैं। विशेषज्ञों ने इन चित्रों की तुलना तिब्बत की "बैनर पेंटिंग" और जापानी "काकीमोनो चित्रकला" की तकनीक से की है। एक में एक तरुणी जिसका लिबास राजपूत और मुगल पोशाकों का मिला-जुला रूप है, एक आम के पेड़ के नीचे खड़ी है और एक मृग छौना अपनी भोली-भाली आंखों से उसके सामने खड़ा, उस मृगनयनी के रूप को निहार रहा है। शीत के चित्र में मृग छौने का स्थान सारस ने लिया है और आम के वृक्ष की जगह फूलों से लदा चम्पक है। यहां तरुणी के दायें हाथ में एक मैना भी है।

"मीनियेचर" या लघु- चित्र तो सभी जगह बने है, लेकिन ऐसे बड़े- बड़े चित्र जयपुर के सूरतखाने की ही शोभा है। जिस प्रकार पोथीखाने को चार भागों में बांटा गया है, उसी प्रकार सूरतखाने के भी तीन विभाग किये जा सकते हैं। पहिले में वह चित्र आते है जो बाहर से उपलब्ध हुए और यहां संग्रहीत किए गए। इनमें मुगल शैली के दिल्ली और आगरा से प्राप्त चित्र तथा बूंदी की विख्यात कलम के चित्रों का संग्रह बड़ा महत्वपूर्ण है। इन चित्रों में बहुत-से ऐसे व्यक्तियों को देखा जा सकता है जिनका मुगल दरबार में बड़ा रुतबा था और जिनका उल्लेख इतिहास में मिलता है। दूसरे विभाग में ऐसे चित्र हैं जो सवाई जयसिंह और उसके परवर्ती राजाओं ने यहां के सूरतगरों और मुसव्विरों को आज्ञा देकर बनवाये। रास मंडल और गोवर्धन- धारण के महान चित्र इसी श्रेणी में आते हैं, साथ ही राजाओं के आकृति- चित्र भी। जयसिंह के बेटे माधोसिंह प्रथम (1751-1768ई.) के बहुत चित्र बने, तरह-तरह के "पोज" में और प्रतापसिंह के भी। तीसरे विभाग में वह चित्र हैं जो समय समय पर कलाकारों ने अपनी इच्छा से बनाकर राजाओं को भेंट किए। जयपुर के अनेक इतिहास- पुरुषों के चित्र जो और कहीं नहीं मिल सकते, सूरतखाने के संग्रह में पाये जाते हैं।

पोथीखाने की तरह सूरतखाने को भी प्रतापसिंह ने ही व्यवस्थित रूप दिया और हजारों चित्रों के संग्रह के विषयवार मुरक्के (एलबम) बनवाये।

प्रतापसिंह के बाद रामसिंह के समय में चित्रकारों को बहुत संरक्षण और प्रोत्साहन मिला। इस राजा ने कलाकारों को अपने मनोभावों को इच्छानुसार व्यक्त करने दिया और ऐसी कलाकृतियों की भरपूर कीमत भी

दी। राजराजेश्वरजी के मंदिर में भगवान शिव का जो विशाल चित्र है, वह इसी प्रकार के चित्रों में से है। इसी समय में महाभारत और भागवत की कथाओं पर आधारित चित्र भी बहुत बने और बहुत-से तो रामसिंह की मृत्यु हो जाने के कारण अधूरे ही रह गये जो उसी हालत में दीवारों पर टांग दिये गये हैं। यह आधे- अधूरे चित्र जयपुर की चित्रकला के अंतिम प्रतिनिधि हैं और इनसे पिछली सदी में यहां के कलाकारों की तकनीक समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

रामसिंह के समय में रामचन्द्र मुसव्विर (चित्रकार) का बड़ा नाम था। शहर में एक गली जहां यह चित्रकार रहता था, आज तक मुसव्विर रामचन्द्र की गली कहलाती है। इसे महाराजा ने पांच रुपये रोजाना की जागीर और पालकी का सम्मान दिया था। रामचन्द्र के वंशजों में गंगाबख्श भी नामी कलाकार हो गए हैं।

इस महाराजा के शिवभक्त होने के कारण उन दिनों बख्शीराम व्यास नामक एक शैव ब्राह्मण बड़ा शहजोर हो गया था। उसकी शह से वैष्णव सम्प्रदायों के महन्तों, पुजारियों और अनुयाइयों को भी अपने साम्प्रदायिक ऊर्ध्व तिलक के स्थान पर शैव मत का त्रिपुण्ड ही लगाने को बाध्य किया गया। ब्रह्मपुरी से गोकुलनाथजी और पुरानी बस्ती से गोकुलचन्द्रमाजी की मूर्तियों को लेकर उनके गोस्वामियों ने इसी कारण जयपुर छोड़ा था। बख्शीराम व्यास को ही महाराजा ने जब पोलीथाना- सुरतखाना का हाकिम बना दिया तो उसने सवाई प्रतापसिंह और सवाई जगतसिंह जैसे राजाओं के आदमकद चित्रों में भी उनके ललाट पर उनके वैष्णव तिलक के स्थान पर त्रिपुण्ड ही लगवा दिये। इन दोनों राजाओं के विशाल चित्रों में यह साफ देखा जा सकता है। जयपुर में शैवों की इस मदान्धता और मनमानी पर बड़ी तीखी जन- प्रतिक्रिया हुई थी और सरे-बाजार स्त्रियां ऐसे गीत गाती निकलती थीं—

राजा थारा राज में
बध गयो बखश्यो व्यास।
ऊभां नैं आड़ा करया,
जाज्यो सत्यानास।।

(राजा तेरे राज में बख्शीराम व्यास ऐसा बढ़ गया है कि 'ऊभे' (खड़े) तिलकों को उसने 'आड़ा' (लम्बा) करा दिया है। भगवान करे, उसका सत्यानाश जाये!)

जिस प्रकार रामसिंह की बनवाई हुई इमारतों में यूरोप का प्रभाव स्पष्ट है, उसी प्रकार इस काल के चित्रों में भी यूरोपीय शैली की छाप होना स्वाभाविक था। मुगल-काल का 1857 में पूरी तरह पटाक्षेप हो चुका था और राजाओं के राज- दरबार अंग्रेजों से अपने सम्बन्ध बढ़ाने में लगे हुए थे। इसलिये इस समय अंग्रेज पुरुषों और महिलाओं के चित्र भी यहां काफी बने और उनके फानूस- चिमनी भी इन तस्वीरों में दिखाये गये। [illegible] चित्र तो बनते ही रहे, लेकिन उनमें यूरोपीय शैली का प्रभाव आ गया। इस पर भी इस काल के चित्रों के कलाकारों का परिश्रम देखते ही बनता है। बड़े- बड़े चित्रों में "छाया प्रकाश का अनुपात दिखाना, [illegible] और रेखा- सौंदर्य पर अधिकार रखना बहुत कठिन होता है", पर रामसिंह के समय में ऐसी [illegible] में बनाई गई। चित्रकारों का अभ्यास यहां इतना परिपक्व और प्रौढ़ हो गया था कि [illegible] [illegible] - [illegible], [illegible] - [illegible], हाथी- घोड़ा पर बैठ [illegible] और राज [illegible] [illegible]। [illegible] के चित्रकारों की [illegible] का यह आखिरी दौर था। 1880 में रामसिंह [illegible] [illegible] हो गई। रामसिंह [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] हो गया।

[illegible]

महाराजा द्वारा।

फर्राशखाना और मशालखाना

अन्य कारखानों मे फर्राशखाना जिसमें मशालखाना भी शामिल था, अपने आप में बड़ा उपर कारखाना हुआ करता था। ब्याह-शादियो में अब तो भाड़े पर शामियाने, तम्बू- कनातें लगाने वाली ब दुकानें है, लेकिन जो जमाना गुजर गया उसमें यह सब सरंजाम मांगे ही मिला करते थे। अलग-अलग जा बिरादरियों की पंचायतों में भी यह सामान हुआ करता था। राज के फर्राशखाने में विभिन्न अवसरों अनुकूल तम्बू-डेरे, शामियाने, कनातें, जाजम, दरियां, कालीन और तरह-तरह का सामान रहता था। अ तक वहां ऐसे शामियाने हैं जो चौकोर कमरे की तरह खड़े होते हैं और जिनके बाकायदा लकड़ी दरवाजे-खिड़कियां भी खुलते-जुड़ते हैं। खासा शामियानों में जरी के जर्क-बर्क शामियाने भी होते है, इन बड़े-बड़े तम्बू की सैकड़ों लोग आ जायें।

फर्राशखाने में अकबर के सेनापति राजा मानसिंह की 'रावटी' दर्शनीय है। रावटी छोटे कक्ष को कहते है इस रावटी का चंदोवा और कनातें जरी के सुनहरी काम से सुसज्जित हैं जिनकी सुन्दरता देखते ही बनती है दो-मंजिले शामियाने भी हैं। दूसरी मंजिल लकड़ी के पटे या फाटके लगाकर बनाई जाती है और बाकायद सीढ़ियां चढ़ कर उसमे पहुंचा जाता है। ऊपर की मंजिल महिलाओं के लिये होती है।

महाराजा रामसिंह के समय में तो गैस की रोशनी हो गई थी और फिर बिजली आई, किंतु पहले मशालें ही रात के अंधेरे को चीरती थी। गैस आ जाने पर भी शिकार आदि के लिए बाहर डेरे होने तो रोशनी का इतजाम मशालखाने का ही रहता था।

जयपुर के नागरिक ब्याह-शादी के अवसर पर फर्राशखाने मे शामियानों, कनातों, दरियों आदि की मांग करते और अपने-अपने रुतबे और वसीले से उन्हें यह मिल जाते, वैसे ही जैसे रथखाने में रथ, बहली और बग्घीखाने से बग्घियां मिल जाती थी।

फर्राशखाने को महाराजा मानसिंह (द्वि) के समय में ठाकुर भैरोंसिंह तंवर ने फोल्डिंग फर्नीचर जुटाकर आधुनिक रूप दिया था।

फर्राशखाने के साथ पालकीखाना, पीलखाना (हस्तिशाला), आतिश (अश्वशाला) और शुतरखाना भी थे। पहले तीन तो नगर-प्रासाद में ही थे, किंतु शुतरखाने-ऊंटों के टोलों-को आगरा रोड पर घाट दरवाजे से आगे रखा जाता था। इनमें ऐसे टोले भी थे जिन पर "जुजरबे" या छोटी तोपें रखी जाती थी।

बग्घीखाना

जयपुर की सीधी- सपाट और चौड़ी सड़कें सरनाम रही हैं लेकिन यह उल्लेखनीय है कि महाराजा रामसिंह (1835-1880 ई.) की जवानी तक इस शहर के सभी बाजार और रास्ते-मोहल्ले रेत से भरे थे। जब रामसिंह बालक और कर्नल लडलो (या "लड्डू साब") यहां पोलीटिकल एजेंट था तो पहले-पहल कुछ सड़कें बनी। सबसे पहले सांगानेरी दरवाजे से पुराना घाट तक की सड़क बनवाई गई और इसके कुछ समय बाद आमेर से काला महादेव तक जिसमें कुछ भाग तो पत्थर जड़े थे और कुछ भाग मोरीडे के कंकर से सपाट बनाये गये थे। जयपुर से टोंक जाने वाली सड़क तो रामसिंह की मृत्यु से छह वर्ष पूर्व ही बनकर तैयार हुई थी।[10] इसका नया नाम "सवाई रामसिंह रोड" बहुत उपयुक्त है।

शहर के भीतर भी मुख्य बाजारों की सड़कें रामसिंह के शासन काल के अंतिम वर्षों में ही बनी थी। दोब

10 ए हैंड बुक ऑफ जयपुर, द [illegible], जयपुर, 1999, पृष्ठ 242-44
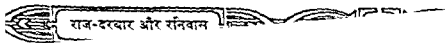
में चौड़ी सड़कें और दोनों ओर पैदल चलने वालों के लिये पटरियां या फुटपाथ बनाये गये थे। तभी यह नियम भी लागू किया गया कि सड़क पर हाथी, घोड़े, ऊंट और सवारी गाड़ियां चलेंगी और पैदल सब पटरी पर। इस नियम की पाबन्दी कराने के लिये चालीस- चालीस गज की दूरी पर पुलिस के सिपाही तैनात किये गये जो सवेरे दस बजे तक और शाम को चार से आठ बजे तक अपनी ड्यूटी बजाते थे।[11]

सड़क बनी तो बड़े लोग रथ बहलियों की जगह बग्घियों में बैठ कर चलने लगे। वैसे जयपुर के राजाओं के लिये हाथी, घोड़े, पालकी या तामझाम की सवारी ही उनकी मान- मर्यादा के अनुरूप मानी जाती थी, किंतु रामसिंह आधुनिक दृष्टिकोण का राजा था और हर बार अपने महल से बाहर निकलने पर लवाजमे को लेकर चलना उसे व्यर्थ का आडंबर और अटपटा लगता था। इसलिए झालाना, भावसागर और खातीपुरा के जंगलों में शिकार के लिए जाता तो वह सिरह ड्योढी या त्रिपोलिया के मुख्य द्वार से न निकल कर चतर की आड़, गोविन्ददेवजी की ड्योढी और दूसरे पिछवाड़े के दरवाजों से अकेला ही या दो-चार साथी-संगी लेकर निकल जाता और बैलों की जोड़ी से खींची जाने वाली बहलों में भी सवारी कर लेता। अच्छी सड़कें बन जाने पर महाराजा की खासा सवारी भी बग्घी या विक्टोरिया हो गई। औरों की बग्घियां जहां एक घोड़े या जोड़ी से खिंचतीं, वहां महाराजा की बग्घी के चार एक-से सफेद घोड़े जुतते। पीछे दो सेवक खड़े चलते जिनके हाथ में चंवर- मोरछल होते। आगे बग्घीवान के बराबर कोचबाक्स पर चेला खवासों में खासम खास कोई बैठता।

रथखाने का एक सग्गड़ तथा बग्घीखाने की एक खासा बग्घी जिसमें महाराजा बैठते थे

11 वही, पृष्ठ 290
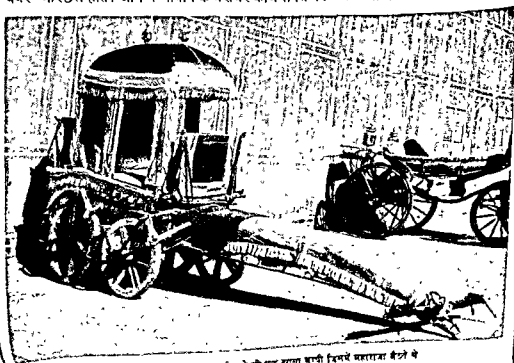
. . . . शान और इज्जत की बात होती।

जयपुर के छत्तीस कारखानो मे बग्घीखाना महाराजा रामसिंह के समय में ही बना और बढ़ा। ब्याह-
शादियों में जैसे लोगों को रथखाने से रथ, बहली या मग्गड मिल जाते थे, बड़े लोगों को बग्घीखाने से बग्घिय
मिलने लगीं। माधोसिंह के समय मे सैकड़ों की संख्या मे बग्घियां थीं और चालीस पचास तो 1949 तक, जब
जयपुर रियासत राजस्थान में मिली, अच्छी हालत में थीं। इनमें सबसे शानदार नाव की शक्ल की वह खास
बग्घी थी जो प्रिंस आफ वेल्स ने अपनी जयपुर यात्रा की यादगार के रूप मे महाराजा रामसिंह को बम्बई
दी थी। इसमे बैटरी से जलने वाली शानदार "लाइट्स" भी लगी हैं। दशहरे की सवारियो मे जिन लोगो
ने देखा है, उन्हें इसकी चमक-दमक आज भी याद है।

माधोसिंह अपने जीवन के अंतिम दिनो (1920-22 ई.) में कार में बैठने लगा था, फिर भी इस राजा की
रपसद सवारी चार घोड़ो की बग्घी ही थी। दुर्गापुरा, खासाकोठी, आमेर, ओदी रामसागर या रामगढ़-
ी भी यह राजा जाता तो बग्घी मे ही जाता। फासला लम्बा होता तो निश्चित दूरियो पर "कोतल" घो
े मिलते जिन्हें वहां बदला जाता।

औपचारिक सवारियो या जुलूसों मे माधोसिंह के सामने छोटी सीट पर होम मिनिस्टर सर पुरोहि
ोपीनाथ और खास मर्जीदान खवास बालाबख्श बैठते, कोचबाक्स पर रूपनारायण या गौरीशंकर चेला
हाराजा मानसिंह की सवारियो मे यह इज्जत पहले गोरधन उस्ता और फिर नाहरगढ़ रोड के निवासी रा
मोहनलाल पल्लीवाल को मिली थी। राजाओं की शान-शौकत की चमक-दमक में यह सामान्य जन भ
ठसक से अपनी भूमिका निभाते थे।

खाना

जयपुर मे जो जमाना गुजर गया उसमे राज के हाकिम-ओहदेदारों की हैसियत इस बात से आंकी जात
कि उनके यहा रथखाने से बहली (भैल) या मग्गड तैनात है। आज भी बड़े और छोटे अफसरो को जीप
मिलती है और उनके निजी उपयोग या दुरुपयोग को लेकर टीका-टिप्पणी भी होती है, लेकिन सरकार
या जीप शायद वैसा "स्टेटस सिंबल" नहीं, जैसा पहले राज की बहली या मग्गड हुआ करते थे। तीज
ारो को जिन हाकिमो या ओहदेदारो की घरवालियो को जनानी ड्योढ़ी का बुलावा आता और साथ
ने के लिये शानदार बालाक्स का रथ या ढकी-ढूमी बहली और मग्गड आता तो अड़ौस-पड़ौस मे घ
ते कि हाकिम साहब का रुतबा बुलन्द हो गया है। सरकारी सवारी की टुचकारी देने वाले बड़ बा
र वाले माने जाते और उनकी इज्जत भी बड़ी होती। लोगों के ब्याह-शादी होती या कोई और "आरा
" और रसूखात होते तो रथखाने से बहली या मग्गड मांगे मिल जाते। बात की बात में काम निपट

हाराजा रामसिंह की जवानी तक सड़कें तो कुछ थी नहीं और जयपुर के छत्तीस कारखानों मे रथखान
र बडा अहम कारखाना था। वर्तमान असेम्बली भवन के बराबर बड़े भारी चौक वाला और चारों ओ
हवेलियां रखने के मकानो से घिरा यह उस काल का स्टेट गैरेज था। बाद में सड़के बनीं और रथ
ो-मग्गडो का स्थान बग्घियो ने ले लिया तो रथखाना अपना महत्व खोने लगा और इस जग
ा मिडिल स्कूल खुल गया जिसे जयपुर वाले आज तक रथखाना स्कूल ही कहते हैं।

खाने की स्थापना कछवाहा सवाई जयसिंह के समय मे ही हो गई थी। उस महान राजा के "इन
" नामक एक दो-मंजिला रथ बनवाने की चर्चा पहले हो चुकी है जिसे दो हाथी खींचते थे। यह र
गल बादशाह मुहम्मदशाह को भेंट किया और बदले में "माही-मरातिब" का सम्मान पाया। जै
शाह को भेंट किया, वैसा ही रथ जयपुर के रथखाने में भी रखा गया जो आज तक सुरक्षित है। यह
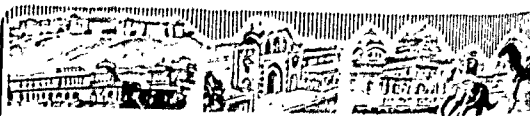
यह दशहरे के अवसर पर देखा जाता था। दशहरे के दूसरे दिन फतहटीबा पर "मलक" का जो मेला लगता था, उसमें इन्द्र विमान को हाथी खींच कर वहां तक ले जाते थे। लकड़ी पर मुगांक के काम से सुशोभित इस हस्ति- रथ में नीचे महिलाओं और ऊपर पुरुषों के बैठने की व्यवस्था थी।

रथखाने में झूलदार रथ थे, हिंडोले की तरह झूलते हुए और "अम्बाबाडी" नामक हाथी के हौदे की तरह इन रथों को हांकने वाले गाड़ीवान और पीछे बैठने वाले चाकर या प्रहरी पर भी छाया के लिये छज्जे झुके होते। कमानीदार रथों या "यबाण्यों" के रथों में यह व्यवस्था विशेष रूप में होती। सग्गड पर छाया के लिये सपाट छत होती, रथ की तरह गुमटीदार या कमानीदार नहीं। बहली या बैल-सग्गड से जरा छोटी होती और चार की सवारी के लिये "तांगा" भी बड़ी खुली- खुली सवारी होता। सामान ढोने के लिये रथखाने में छकड़े होते जिन्हें खींचने वाले बैल ऐसे हृष्ट- पुष्ट की मक्खी फिसलती। एक हल्की- फुल्की गाड़ी जो बिना मांच की होती, "टोकर" कहलाती। टोकर और सग्गड शिकार में भी काम आते। शिकार में शिकारियों की पोशाक प्रायः हरी होती थी और सग्गड पर भी ऐसे अवसरों पर हरी झूल ही डाली जाती थी। इन सबके अतिरिक्त एक और काम की गाड़ी थी "बिरगवान" (शायद ब्रैकवान) जिस पर काफी सामान लादा जा सकता था। इन भारी-भरकम वाहनों को घोड़े या ऊंट खींचते। बाहर गोठ-घूघरी होती तो सामान बिरगवान में भरकर पहुंचाने में सुविधा होती। और तो और, जयपुर में बहुत लोगों को अभी तक महाराजा माधोसिंह का जमाना याद है जब ढके हुए रथों में पीतल के चमचमाते कलशों में, जिन पर लाल कपड़ा ढका होता, खासा कोठी, मेंहदी वाले कुए और मीठी कुई का पानी ड्योढी में लाया जाता, क्योंकि शहर के अधिकतर कुओं का पानी तो खारा था।

आतिश

जयपुर के राजाओं की खासा घुड़साल जिसे जयपुर वाले आतिश के नाम से जानते हैं, कोतवाली चौपड़ से त्रिपोलिया तक फैली है और अब महारानी गायत्री देवी मार्केट बन गई है। "आत" तुर्की शब्द है जिसका अर्थ घोड़ा होता है। आतिश के मैदान में सुबह- शाम खासा घोड़ों को छोडकर कसरत कराई जाती थी। महाराजा रामसिंह (1835-1880ई.) से पहले जयपुर को कोई 75 वर्षों तक जो बुरे दिन देखने पड़े थे उनमें आतिश का हुलिया भी बुरी तरह बिगड़ गया था। मैदान गन्दगी और कूड़े-कचरे से पटा पड़ा था और घोड़ों के ठाण भी टूट-फूट गये थे। रामसिंह ने सारे जयपुर को सुधारा-संवारा तो आतिश के भी दिन फिरे। अस्तबल के सारे ठाणों की मरम्मत करवाई गई, मैदान को साफ कराकर समतल बनाया गया और त्रिपोलिया के पास दरवाजा भी निकलवाया गया। पहले आतिश का एक ही दरवाजा था.जो इस दरवाजे के सामने आज भी है। नये दरवाजे पर एक खूबसूरत कमरा भी तामीर कराया गया जिसमें पिछले दिनों तक स्वतन्त्र पार्टी का कार्यालय था, लेकिन कभी इसमें जोधपुर के महाराजा सर प्रताप जैसे मोअज्जिज मेहमान भी ठहराये जाते थे। प्रिंस आफ वेल्स (एडवर्ड सप्तम) की जयपुर यात्रा के समय सर प्रताप एक अर्से से जयपुर में ही थे, और तब वे आतिश के इसी महल में रहा करते थे। यह 1876 की बात है।

महाराजा रामसिंह ने आतिश के प्रशासन को भी सुधारा और व्यवस्थित रूप दिया। खासा घोड़ों के लिये राजकोष से अच्छे दाने के साथ चीनी, घी और गुड़ तक बंधा हुआ था, लेकिन गबन के अभ्यस्त अहलमदों-क्लर्कों, चौकीदारों और सईसों की मिली-भगत से बेचारे घोड़े भूखों मर रहे थे। उनका दाना-पानी सब ऊपर का ऊपर हजम हो जाता था। सईस-चाकरों की आदतें इतनी बिगड़ गई थीं कि घोड़ों को कसरत कराना तो दूर, बाहर भी नहीं निकाला जाता था और सभी जानवर मुरदार हो रहे थे।

रामसिंह ने अपने विश्वस्त अधिकारी नियुक्त कर इस भ्रष्टाचार, सुस्ती और लापरवाही का काम तमाम किया। घोड़ों को बांधने के लिये पत्थर के सुघड़ खूंटे हर अस्तबल में लगाये गये और उनके बाहर पर्दे लटकाये

गये ताकि सर्दी, गर्मी और बरसात में जानवरों की हिफाजत रहे और उन्हें कीड़े-मकौड़े, मच्छर-मक्खी भी तंग न करें। चारा और दाना निश्चित मात्रा और नियत समय पर देने के कड़े कायदे लागू किये गये। सारे मैदान में हरी दूब लगवाई गई और घोड़ों को नियमित रूप से दौड़ाया जाने लगा। कुछ ही दिनों में सभी जानवर तरो-ताजा और चुस्त दिखाई देने लगे और आतिश के बजट का भी रंग ऐसा बदला कि जहां हमेशा घाटे का रोना रहता था, वहां अब बचत होने लगी।

महाराजा ने अस्तबलों के साथ घोड़ों के साज रखने के भण्डार तथा चाबुक सवारों (घोड़ों को प्रशिक्षित करने वाले), सईसों और पशु-चिकित्सकों के आवास भी बनवाये।

आतिश के मैदान में महाराजा माधोसिंह ने एक सुन्दर बारहदरी या पेवीलियन भी बनवाई जो आज तक वहां है। 1875 ई. में जब ग्वालियर के जियाजीराव सिंधिया जयपुर आये तो आतिश का ऐसा माहौल था कि उन्होंने महाराजा रामसिंह के साथ यहां घोड़ों और घुड़सवारों के करतब देखे। स्वयं सिंधिया ने भी घुड़सवारी के साथ भाले के वार के करतब दिखाये और रामसिंह भी अपने मेहमान से पीछे न रहे। जोधपुर के सर प्रताप ने भी ऐसे ही जौहर दिखाये।

आतिश 1957 तक महाराजा मानसिंह के पोलो के घोड़ों या टट्टुओं का अस्तबल ही था जिसमें गर्मियों में बिजली के पंखे तक चला करते थे। अब तो यह एक व्यस्त और बड़ा अड़ा-भिंचा बाजार हो गया है।

ग्वालेरा

जयपुर की राजकीय डेयरी को "ग्वालेरा" कहा जाता था। नगर-प्रासाद में यह जनानी ड्योढ़ी के सामने ही एक लम्बा-चौड़ा नोहरा है जो कभी गाय-बछड़ों से भरा रहता था। दुधारू गायें तो रहती ही थीं, कुछ गायें "दर्शनी" भी होती थीं। माधोसिंह की रातें चाहे कैसी भी राग-रंग की रही हों, दिन श्रीगोपालजी और उनकी प्रिय गायों के दर्शन से ही आरम्भ होता था। ग्वालेरा से दर्शनी गायों का टोला सवेरे-सवेरे वहां हांक कर ले जाया जाता जहां माधोसिंह शैया-त्याग करता। गोपालजी के दर्शनों के तत्काल बाद गो-दर्शन का पुण्य कमाकर राजा अपना नित्य कर्म करने चला जाता।

राजमहल की दूध की पूरी आवश्यकता कभी ग्वालेरा से ही पूरी होती थी। बाद में ग्वालेरा का नाम तो रहा, किंतु दूध-दही हलवाइयों से ही लिया जाने लगा। ड्योढ़ी का दूध-दही और मिठाइयां देने वाले हलवाई ही तब इस शहर के बड़े से बड़े और नामी हलवाई होते थे।

चूंकि ग्वालेरा में जगह काफी थी, राज की ओर से होने वाले कई बड़े-बड़े "हेडे" या हजारों लोगों के सामूहिक भोज जो पहले हवामहल और गोवर्धननाथजी के मंदिर में हुआ करते थे, यहां होने लगे। महाराजा माधोसिंह की पड़दायतों से जन्मी लड़कियों के विवाह भी ग्वालेरा में ही किये गये थे, क्योंकि इन अनौरस पुत्रियों के लिए जनानी ड्योढ़ी के द्वार पर तोरण नहीं लटकाया जा सकता था।

अपनी मृत्यु के साल-दो साल पहले से इस महाराजा को बड़ी फिक्र लगी थी कि ऐसे सब लड़के-लड़कियों के विवाह उसके सामने ही हो जायें। जोधपुर के महाराजा सर प्रताप ने तब जयपुर के लालजियों के विवाह जोधपुर के रावराजाओं की बेटियों और बहनों से तथा यहां की बाईजी लालों को वहां के रावराजाओं या उनके बेटों से ब्याह देने की तजवीज की जिसे माधोसिंह ने भी ठीक समझा। यह विवाह सब ग्वालेरा में ही हुये। उस समय के एक विवाह के सम्बन्ध में पुरोहित गोपीनाथ की डायरी में यह दिलचस्प टिप्पण है :

"आज (26 अगस्त, 1921) शाम साढ़े चार से पांच बजे तक रावराजा बड़ा तेजसिंहजी के सबसे बड़े बेटे की बरात से गया जो सरगासूली के सामने गंगाधरजी के मंदिर से आरम्भ होकर जनानी ड्योढ़ी के सामने

12. [illegible], बड़ा।

जयपुर को गुलाबी बनाने वाला महाराजा रामसिंह द्वितीय (1835–80 ई.) - एक तैल चित्र की प्रतिकृति

ालेरा तक गई थी। ग्वालेरा से लौटकर फिर उसी मन्दिर पर गया और रावराजा तेजसिहजी के सवरू
ै के ज्येष्ठ पुत्री की बरात मे शामिल हुआ—साढे पाच से छह बजे तक। दो बहिनो के साथ
लग-अलग माताओ की बेटिया है, बाप और बेटे के ऐसे विवाह, जो एक ही दिन और एक ही स्था
म्पन्न हुये—दोनो ने एक ही पोल पर तोरण मारे—यहा न कभी देखे गये थे और न सुने गये थे। ये वि
चमुच अनोखे और असामान्य ही थे।"[11]

आगे चलकर फराशखाना भी ग्वालेरा मे ही आ गया था।

ाकारखाना

शिकारखाना भी अपने आप मे कम महत्वपूर्ण विभाग नही था। यह आजकल का वन विभाग है
गल घने और जानवरो से भरे-पूरे थे तो राजा लोगो का मनोरंजन और व्यायाम शिकार मे ही होत
हमानो और ए.जी.जी या वायसराय जैसे ब्रिटिश प्रतिनिधियो के आने पर भी बड़े-बड़े शिकार, खास
र के शिकार, के आयोजन होते। इन आयोजनो का पूरा प्रबंध शिकारखाना ही करता। महाराजा राम
ौर फिर माधोसिह के समय मे भी जोधपुर के सर प्रताप शिकारखाने मे सम्बद्ध रहे थे। प्रिंस आफ वेल्स
(एडवर्ड सप्तम) ने झालाना के पास जो शेर मारा था, उस शिकार का प्रबन्ध भी सर प्रताप ने ही किया

कानोता के कर्नल केसरीसिह अभी दो वर्ष पूर्व ही दिवगत हुए है। अपने समय मे वह शिकारखाने
क नाम अधिकारी रहे। राजस्थान मे शेर तथा अन्य वन्य प्राणियो के विषय मे उनसे अधिक शायद ही
ानता हो। उन्होने "टाइगर ऑफ राजस्थान" पुस्तक भी लिखी। 1960 मे इग्लैण्ड की मलिका एलिज
ौर उनके पति प्रिंस फिलिप जयपुर आये थे तो कर्नल केसरीसिह ने ही सवाई माधोपुर के जंगल में
शकार की सारी व्यवस्था की थी। जयपुर की सडको पर इन वयोवृद्ध कर्नल साहब को न जानने वा
ासानी से उनकी कार से पहिचान सकता था। उनकी कार पर पालिश नही थी, शेर की आकृति बनी

महाराजा मानसिह (1922-79 ई.) ने सवाई माधोपुर के जगल मे और जयपुर के निकट रामगढ़ म
ो आधुनिक "शूटिंग लॉज" या आखेट गृह बनवाये थे। इनमे रामगढ़ की कोठी एक आरामदेह फ्रेंच
ावास की तरह है। जब कभी रणथंभोर के ऐतिहासिक दुर्ग की छाया मे अथवा रामगढ़ के आसपास
शिकार का आयोजन होता तो मेहमानो के लिए इन कोठियो के आसपास तम्बुओ- शामियानो की एक
बस जाती। इस शिविर मे फराशखाने की ओर से लगाये जाने वाले तम्बू हर प्रकार की सुख- सुविधा से
होते।

रसोड़ा या रसोवड़ा

मुबारक महल के चौक के दक्षिणी द्वार—पूर्वाभिमुख की ड्योढी के— पास ही पश्चिम में एक द्वार
'रसोवड़ा की ड्योढी' कहलाता है जो नगर-प्रासाद के खासा रसोवड़ा में जाने का रास्ता है। रसोवड़े की
तो अब महाराजा मानसिह संग्रहालय की प्रदर्शनियो के लिए बनाई गई दीर्घा ने ले ली है और जो रसोवड़
रहता था, उसकी अब कही गंध भी बाकी नही है।

जयपुर शहर की जिंदगी जब राज-दरबार, जनानी और मर्दानी ड्योढियो तथा बावन कारखानो
छत्तीस कारखानो के इर्द-गिर्द ही घूमती थी तब महाराजा माधोसिह के खासा रसोवड़े मे भी सैकड़ो अ
अपना भरण-पोषण करते थे। महाराजा के निजी हाथ खर्च से चलने और उनकी पसन्द के भोजन बन
कारण ही यह "खासा" कहलाता था। तालेदखाना, तम्बोलखाना और आबदारखाना खासा रसोवड़े
कारखाने के अंतर्गत ही छोटे कारखाने थे। स्वयं महाराजा, महारानियो, खास मर्जीदान पड़दायत- पास

जानी, बल्कि लिखकर सनद भी कर लीं। उनके अपने हाथ से लिखे हुए चार बड़े-बड़े रजिस्टर हैं जिनमें खाने-पीने की चीजों की विधियां भरी पड़ी है। सब मिलाकर ढाई हजार चीजों की लम्बी फेहरिस्त है जिसमें दो सौ से अधिक किस्म की रोटियों-चपातियों-बाटियों, सैकडों तरह के हलुवों और विविध व्यंजनों की तफसील है। पाक-शास्त्र की विधियां छापने वाले किसी भी पत्र या पत्रिका को यह रजिस्टर एक अरसे तक बड़ी दिलचस्प सामग्री देते रह सकते हैं।

जसवन्तसिंह के इन चार रजिस्टरों को पाक-विद्या के चार हस्तलिखित ग्रन्थ ही मानना चाहिए। अजीब गोरखधन्धा हैं ये रजिस्टर। रोटियों की गिनत कहने लगे तो कई पृष्ठ भर जायें, मांस की चलाये तो एक से एक लाजवाब मांस बनाने की विधियां प्रकट होती रहें। यही हाल मिठाइयों का, आचार-मुरब्बों का और कढ़ी-रायतों का है। केवल एक रजिस्टर की विषय-सूची पर थोड़ी-सी नजर डालते हैं:

"रसोवड़ा व उसकी जरूरी चीजों की सफाई, रसोवड़े के काम में आने वाले बर्तन किस धातु के हों, मसालों की किस्में, मसालों के गुण-अवगुण, मसालों का प्रयोग, छह रसों के गुण-अवगुण, तरकारियां कैसे छीली-काटी जायें, कैसे धोई जायें, कैसे उबाली जायें, किस तरकारी में क्या मसाला वर्जित है, नमक व खटाई डालने का समय और तरकीब, अन्न की किस्में, गुण-अवगुण, मेवों, दूध, दही, छाछ, मक्खन, मलाई, घी और तेल के गुण-अवगुण, इनके प्रयोग, विभिन्न खाद्य पदार्थों की शुद्धता की पहिचान, फौरन दही जमाने की तरकीब" इत्यादि इत्यादि।

यह उन सैकड़ों शीर्षकों में से कुछ इने-गिने है जिनसे यह पता चले कि रसोई को रसायन बनाने के लिए कितनी तफसील में जाना पड़ता है। इन प्रारम्भिक निर्देशों के बाद भोजन-सामग्री का ब्यौरा शुरू होता है। पहले तरकारियां लें तो उनमें मिलती है: नमक की तरकारी, आटे की तरकारी, दूध की तरकारी, लहसुन की बास कम करना और ग्वारपाठे की कड़वाहट खोना। फिर है गेहूं की रोटी की किस्में—फुल्का, मोटी रोटी या मंडकिया, मोयनदार बटिया, विभिन्न अनाजों की रोटियां, बिना पानी की रोटी, मीठी, बाजरे की नमकीन रोटी, उड़द के आटे की रोटी, उड़द की दाल की रोटी, तिलों की रोटी, चावल की रोटी, छोलों की रोटी, दूध की रोटी, बेसनी रोटी, राजा शाही, रोटी शीरमाल, बाकरखानी रोटियां, नान ताफता, नान मजदी, नान तनक, नान वर्की, रोटी तहदार, नान कतलया, नान मशहरी, नान अब्ब्ज फरशारी अंडे के साथ, शकरकंद की रोटी, शिकारी रोटी, मखानों की खुशबूदार रोटी, मसाले की रोटी, खस्ता रोटी, सोंधी रोटी, बादाम की रोटी, ग्वारपाठे की रोटी, मेवेदार मीठी रोटी, मुगलिया मीठी रोटी, केले की मीठी रोटी, सतनजे की रोटी, मिलवां अनाजों की रोटी... और न जाने और कितनी रोटियां ही रोटियां!

जयपुर के राजाओं की ही बात नहीं, सभी राजा-महाराजाओं और नवाबों की खाने-पीने की भी सनकें होती थीं। जो सामान्यतः न खाई जाती हो, ऐसी चीजों को न केवल खाने योग्य, बल्कि बहुत स्वादिष्ट बनाकर खाना भी रईसी में शामिल होता था। ऐसे कई उदाहरण खासा रसोवड़े की इस फेहरिस्त में हैं। नमक की सब्जी एक ऐसा ही उदाहरण है।

हां, नमक की सब्जी भी यहां बनती थी और बन सकती है और इसका तुर्रा यह है कि और नमक डालो तो नमक का जायका आये, वरना मालूम ही न हो कि खालिस नमक की सब्जी है। बनाने की तरकीब यह है कि गडा थोर जिसे जयपुर में घोटा थोर भी कहते हैं, उसका दूध मंगाओ और नमक की डलियों को, जिनकी सब्जी बनानी है, इसमें तीन दिन तक भिगोओ। यह दूध इतना ही डालना चाहिए कि हर रोज नमक पी जाये। इस तरह तीनों दिन दूध बदलना होगा। चौथे दिन दो किलो पानी में डलियों को उबालो और पानी फेंक दो। फिर ठण्डे पानी से नमक की डलियों को धो डालो और माफिक मामूल मसाला भून कर सब्जी बना लो। इस सब्जी में नमक फिर से डालने पर ही मजा आयेगा।

महाराजा के निजी मेहमानों और उनके साथ आने वालों का ही खाना खासा रसोवड़े में बनता था। जनानी ड्योढी जिन माजी साहबों, महारानियों, पड़दायत- पासवानों आदि से तब भरी थी, उनका खाना अपने-अपने रावळों में उनके निजी नौकर-चाकरों द्वारा ही बनाया जाता था। इनकी अपनी जागीरें थीं और अपने ही कामदार जो माजियों, महारानियों आदि के नाम से आज तक प्रसिद्ध नोहरों में अपनी कचेहरियां चलाते थे और सारा इंतजाम करते थे।
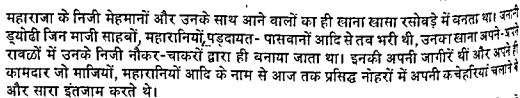
रसोवड़े के कारखाने में तातेड़-खाना जलदाय विभाग या "वाटर वर्क्स" था। इसके दारोगा को वेतन में जागीर मिली हुई थी और उनका काम यही था कि हर समय ठण्डा और गर्म पानी तैयार रहे। चांदी के रामझारों को लेकर तैयार रहने वाले जलधारी और पाळों को पकड़े रहने वाले सेवक (पालेवाले) तातेड़खाने के अमले में थे। यह भी उल्लेखनीय है कि तातेड़खाने को नहाने-धोने और हाथ धुलाने के पानी का ही प्रबंध खास तौर से करना पड़ता था। पीने के लिये महाराजा गंगा-जल रखाते थे और माजियां, महारानियां और पड़दायतें अपनी-अपनी पसंद के कुओं-कोठियों से कावड़ो में पानी मंगवाती थीं।

तम्बोलखाने में पान लगते थे। महाराजा, महारानियों और खास मेहमानों के लिए "खासा बीड़े" और छोटी गिलौरियां तैयार होतीं जिनमें कत्थे-चूने-सुपारी-इलायची और पीपरमेंट के साथ केसर, बादाम और खोपरा भी डाला जाता। जिन मेहमानों के लिए उनके ठहरने की जगह ही भोजन के थाल भेजे जाते, पान की "खल्ली" भी साथ भेज दी जाती। जनानी ड्योढी के अलग-अलग रावलों से प्रायः पानों की फरमाइश आती रहती और तम्बोलखाने से पान के बीड़ों और गिलौरियों की 'तासकियां' जाती रहतीं। तम्बोलखाने के अधिकारी (दारोगा) को भी बड़ी जागीर मिली हुई थी। औखदखाने में दारूखाना अथवा मधुशाला भी शामिल थी। सुगनजी वैद नामक जैन इस उप विभाग के दारोगा थे जिसमें पन्द्रह-बीस वैद्य-हकीम दवा-दारू बनाने में लगे रहते थे। जवाहरमोहरा, बसंतमालती, चांदी, सोने, लोहे और अभ्रक आदि की भस्में जैसी दवाएं तथा रोजाना खर्च का आसव, दशमूल, गुलाब, नारंगी, केतकी, केवड़ा, सौंफ, पोदीना आदि की शराबें बराबर खिंचती रहती थीं। पहली बार खींचने पर "रासी" निकलती जिसे दुबारा भभके पर चढ़ाकर खींचा जाता। तीसरी बार खींचने पर दो-दो तीन-तीन बूंद टपकती। इस तरह "आसा" या आसव बनता। तैयार शराब को चांदी के छोटे-बड़े कलशों-तुंगों– अथवा चीनी तथा शीशे के कंटरों में भरकर डबल मुहर के गोदामों में रख दिया जाता। यह गोदाम मुन्तजिम या नायब मुन्तजिम रसोवड़ा की निगरानी में ही खोले जाते और जो कुछ निकालना होता उसे निकालने के बाद फिर से डबल मुहर लगाकर बंद कर दिए जाते।[14]

माधोसिंह खाने का बड़ा शौकीन राजा था, पर "जीमण" का समय नियत नहीं था। रसोवड़े में सवेरे बारह बजे पहले और रात को आठ व नौ के बीच खाना तैयार रखा जाता था और जब भी भीतर से महाराजा या किसी पड़दायत के रावले से थाल भेजने का हुक्म आता, रसोवड़े में बड़ी हलचल मच जाती। सभी व्यंजन 'हाट केस' में गर्म रखी जाती थीं या आनन-फानन में गर्म कर पहुंचा दी जाती थीं।

जयपुर में 1922 ई. तक महाराजा का "खासा रसोवड़ा" कैसे चलता था, उसमें क्या-क्या उप-विभाग थे, कैसे-कैसे व्यंजन बनाये और खाये-खिलाये जाते थे, रनिवास के भीतर आये दिन होने वाले गोठ-भोजों या "जीमण-चूटण" का कैसा सरंजाम था– इन सब बातों की जानकारी का खजाना जगतसिंह थे, जो बीकानेर के हनुमानगढ़ में रहते थे।[15] हालांकि उस जमाने में वे रसोवड़े में काम नहीं करते थे लेकिन 1937 ई. में रसोवड़े के नायब बन जाने पर उन्होंने पुराने लोगों से यह सब बातें न केवल सुनी और

14. [illegible]
15. [illegible]

. . . . . . में सहायक होंगे। पूरी फूल जाने पर दवानी नहीं चाहिए
फूल हुए हिस्से को बारीक धारवाली छुरी या चाकू से खोल देना चाहिए। इसमें लवा, बटेर या छोटी
ा रख कर बहुत सावधानी से दबाकर मैदा या आटे के पतले गलेफ से बंद करना चाहिए। चिड़िया के
क छोटी सी बरफ की डली भी रखनी होती है जिससे जानवर को ठण्डक रहे। फिर गलेफ चढ़े हुए हिस्से
शियारी से नाममात्र को तला जाता है और पूरी गरम-गरम ही परोसी जाती है। भोजन करने वाला जैसे
फूली हुई पूरी को तोडता है, चिड़िया फड़फड़ाकर उड जाती है और भोजन करने वाला उपहास का
न जाता है। जैसा पहले कहा, यह तरकीव बहुत मंधे हुए बावर्ची या रसोईदार के ही बस की बात है।
यपुर मे मोहम्मदअली नामक बावर्ची सिद्धहस्त था। उसके द्वारा एकत्रित "मीनू" तथा कानोता के
नारायणसिंह के तृतीय पुत्र सरदारसिंह द्वारा संग्रहीत पाक विद्या की विधियों से भी जसवंतसिंह ने अपने
र भरे थे।

काहारी भोजन की चर्चा के बाद मांसाहारी "मीनू" की महिमा भी इन रजिस्टरों मे देखते ही बनती
ड़ों प्रकार के मांस, पुलाव, विरियानी, कीमा, सूप और शोरबे बनाने की तरकीबें और अंग्रेजी खाने के
व्यंजन पकाने की विधियां भी छांट-छांट कर इकट्ठी की गई हैं।

ाराजा माधोसिंह के खासा रसोवडे में रसोईदार लोग नित नये नुस्खे आजमाते थे और जादूगरों की
पने हाथ की सफाई या कारीगरी से खाने वालों को बाग-बाग कर देते थे। चूरमा-बाटी यहां का अत्यंत
आहार रहा है और रसोवड़े के रिटायर्ड नायब जसवन्तसिंह के रजिस्टरों मे चूरमे और बाटी की
किस्में बयान है। दूध का चूरमा बनाने की तरकीब देखिये

किलो दूध कड़ाही मे डालकर तेज आंच पर ओटाओ, ओटाते समय दूध को खिरनी की मोटी जार
जो मस्ते का काम दे सके, बराबर हिलाते रहो। दूध का जब मावा बन जाये तो उसका पानी बिल्कुल
र लिया जाना चाहिए और इस प्रक्रिया में उसे कड़ाही के लगने नहीं देना चाहिए। पानी खुश्क होने
हो जायेगा। इस आटे को धीमी आंच पर सेक कर ठण्डा कर लिया जाता है। इसमें बूरा व मेवा
अत्यन्त स्वादिष्ट दूध का चूरमा बन जाता है।

के चूरमे की तरह लहसुन, प्याज, मूली और कैरी की खीर भी बनती है। इनमें से जिस चीज की खीर
, उसे छील कर पतले-पतले टुकड़े काटे जायें— चावल का विकल्प। भगौने में पानी उबाल पर आ
ह "चावल" डाले जाते है। फिटकरी या नीबू का रस डालकर दो-चार मिनट बाद पानी निकाल
ा है। ऐसा तीन-चार बार करने पर लहसुन, प्याज, मूली या कैरी की बास या खटास कतई निकल
फिर दूध ओटा कर यह बनाये हुए चावल डाल कर खीर बना ली जाती है जो बडी लजीज होती है।
दार की परीक्षा बादाम गलाने या किसी पदार्थ मे पड़े हुए ज्यादा नमक को कम करने जैसी हाथ की
भी होती थी। बादाम को चाहे जितना उबालो, गलता नहीं है पर गलाने की दो तरकीबें है। गरम
दाम फोडकर और छिलका उतार कर चार घंटे तक उबाले जाते है। गलाने की लाग होती है
ुहागा, लेकिन इससे बादाम का जायका विगड़ जाता है और इसे सुधारने के लिए बादामों को फि
ला जाता है। दूसरी तरकीब आसान है और वह यह कि पानी गरम किया जाय। आंच यदि खेजड़े
के कोयले की हो तो अच्छे गलते हैं। पानी मे पहले थोड़ी-सी चूल्हे की राख और फिर फोड़ कर
बादाम डाले जायें। चार घंटे उबलने के बाद गल जायेंगे और जायका भी कतई नहीं बिगड़ेगा।
चीज मे नमक अधिक पड जाने पर कम करने के भी दो तरीके हैं। गूंथे हुए आटे का कच्चा लोया उस
ल देने से वह नमक को खींच लेता है। दूसरे, देगची के मुंह पर गीला कपडा ढक कर ढक्कन लगा
भाप के जरिये उड़ कर कम हो जाता है। थोड़ा-सा बूरा या नीबू डाल कर भी नमक कम किया

इसी तरह आटे की सब्जी भी बनाई जा सकती है। इसे चक्की की तरकारी भी कहते हैं। एक किलो आटे को कपड़े में बांध कर या गूंद कर पानी में धोओ और सफेद मैदा का पानी निकाल दो। जब सफेद पानी निकलना बंद हो जाये तो आटे को जमाकर चकियां काट लो। फिर इन चकियों को घी में तलकर वांछित मसाला भून कर सब्जी बनालो। बिना तले भाप से पका कर भी यह सब्जी बनाई जा सकती है।

पानी या दूध में उबाल कर अदरक की तेजी दूर करने के बाद घी, शक्कर, मावा और मेवा डालकर अदरक का बड़ा स्वादिष्ट हलुवा भी बनाने की तरकीब है।

अब एक मजाक की पुड़ी या पूरी बनाने की तरकीब देखिये। सगों-सम्बंधियों को भोजन कराते समय बड़े सिद्धहस्त रसोईदार से ही यह तरकीब पार पड़ सकती थी। इसके लिए मैंदा में मोयन डालकर पूरी बनाई जाती है। मैदा के बजाय आटे की पूरी भी बनाई जा सकती है पर इसमें घी का मोयन और मैदा की मिलावट

महाराजा माधोसिंह द्वितीय (1880-1922 ई.)

आवश्यक है। मोयन और मैदा पूरी को खूब फुलाने में सहायक होंगे। पूरी फूल जाने पर दबानी नहीं चाहिए और फूले हुए हिस्से को बारीक धारवाली छुरी या चाकू से खोल देना चाहिए। इसमें लवा, बटेर या छोटी चिड़िया रख कर बहुत सावधानी से दबाकर मैदा या आटे के पतले गलेफ में बंद करना चाहिए। चिड़िया के साथ एक छोटी सी बरफ की डली भी रखनी होती है जिससे जानवर को ठण्डक रहे। फिर गलेफ चढ़े हुए हिस्से को होशियारी से नाममात्र को तला जाता है और पूरी गरम-गरम ही परोसी जाती है। भोजन करने वाला जैसे ही इस फूली हुई पूरी को तोड़ता है, चिड़िया फड़फड़ाकर उड़ जाती है और भोजन करने वाला उपहास का पात्र बन जाता है। जैसा पहले कहा, यह तरकीब बहुत सधे हुए बावर्ची या रसोईदार के ही बस की बात है।

जयपुर में मोहम्मदअली नामक बावर्ची सिद्धहस्त था। उसके द्वारा एकत्रित "मीन" तथा कानोता के ठाकुर नारायणसिंह के तृतीय पुत्र सरदारसिंह द्वारा संग्रहीत पाक विद्या की विधियों से भी जसवंतसिंह ने अपने रजिस्टर भरे थे।

शाकाहारी भोजन की चर्चा के बाद मांसाहारी "मीन" की महिमा भी इन रजिस्टरों में देखते ही बनती है—सैकड़ों प्रकार के मांस, पुलाव, बिरियानी, कीमा, सूप और शोरबे बनाने की तरकीबें और अंग्रेजी खाने के विविध व्यंजन पकाने की विधियां भी छांट-छांट कर इकट्ठी की गई हैं।

महाराजा माधोसिंह के खासा रसोवड़े में रसोईदार लोग नित नये नुस्खे आजमाते थे और जादूगरों की तरह अपने हाथ की सफाई या कारीगरी से खाने वालों को बाग-बाग कर देते थे। चूरमा-बाटी यहां का अत्यंत लोकप्रिय आहार रहा है और रसोवड़े के रिटायर्ड नायब जसवन्तसिंह के रजिस्टरों में चूरमे और बाटी की सैकड़ों किस्में बयान हैं। दूध का चूरमा बनाने की तरकीब देखिये·

चार किलो दूध कड़ाही में डालकर तेज आंच पर ओटाओ, ओटाते समय दूध को खुरनी की मोटी जात लकड़ी से जो मस्त का काम दे सके, बराबर हिलाते रहो। दूध का जब मावा बन जाये तो उसका पानी बिल्कुल खुश्क कर लिया जाना चाहिए और इस प्रक्रिया में उसे कड़ाही के लगने नहीं देना चाहिए। पानी खुश्क होने पर आट

जाता है।

नमक को हमेशा मिट्टी या चीनी के बर्तन में रखने का रिवाज है। यह बर्तन हमेशा ढका रहना चाहिए क्योंकि इस पर छिपकली बैठ जाती है तो उस नमक को खाने वाला कोढ़ी हो जाता है। तांबे या पीतल के बर्तनों में रखने से नमक पर कसाव में हरा रंग आ जाता है जो जहर है।

खिचड़ी के तौर पर कुछ विचित्र बात मिलती है। किसी भी भारतीय शाकाहारी या मांसाहारी व्यंजन लिख लाइए, उसके सैकड़ों प्रकार इन रजवाड़ों में दर्ज हैं। खिचड़ी की बात ही देखिये, यह तीन प्रकार की बनती है – पहली बीमारों के लिए, दूसरी तन्दुरुस्त के लिए और तीसरी खाने के शौकीनों के लिए। खिचड़ी मानी है और जब भी बासी खिचड़ी ज्यादा ज्यादा लगती है। दही, पापड़ और अचार के साथ भी खिचड़ी खाई जाती है। वात और कफ के रोगी को मेथी के बघार की खिचड़ी, पित्त के रोगी को धनिया के बघार की खिचड़ी, पेट की खराबी वाले को इलायची के बघार की खिचड़ी और अरुचि वाले को जीरे की बघार की खिचड़ी मुआफिक आती है।

और खिचड़ी की किस्में ये हैं: खिचड़ी मामूली, भुनी खिचड़ी, मिलवां दाल की खिचड़ी, खड़ी मसूर की दाल की खिचड़ी, मूंगफली खिचड़ी, खिचड़ी मसाला, प्याज भरी खिचड़ी, अमीरी खिचड़ी, जहांगीरी खिचड़ी यखनी, अकबर-शाही खिचड़ी, हरे मटर की खिचड़ी, चिवड़ा की खिचड़ी, हरे चने की खिचड़ी, बाजरे की खिचड़ी खासा, बाजरे की मीठी खिचड़ी और कोई पचासों तरह की खिचड़ियां और भी!!

जब तक रियासत रही और खासा रसोवड़ा कारखाने की तरह चला, इसमें सम्बद्ध भण्डार या मोदीखाने में फल व मेवे भी बहुत आते थे। बादाम-पिस्ता-काजू की बोरियां भरी रहती थीं और केसर के बड़े-बड़े डिब्बे खाली होते थे। उस जमाने में रसोवड़े की आइस-क्रीम और कुल्फी भी नामी होती थी।

सामिष और निरामिष भोजन को महाराजा, महारानियाँ तथा उनके मेहमानों को परोसे जाने से पहले चखने की परम्परा थी। इसके लिए 'चखणे' लोग रहते थे, जिनका पेट व्यंजनों को थोड़ा-थोड़ा चखने से ही भर जाता था।

लवाण के चौथमल नामक एक चखणे का किस्सा है। वह चखणा भी था और रसोवड़े में आटा छानने व सामान तोलने का काम भी करता था। महाराजा माधोसिंह ने एक दिन चख-चख कर संड-मुसंड हो जाने वाले इस कारिन्दे को देखा तो बोले, *'यो कांई खावै छै ज्यो इस्यो लाल होरह्यो छै?' (यह क्या खाता है जो ऐसा सुर्ख हो रहा है?)* जब किसी ने कहा कि सब खासा रसोवड़े का प्रताप है तो महाराजा ने फरमाया कि 'ईंकी बावली बांधद्यो' (शेर के लिए जो पाडा बांधा जाता है उसे बावली बांधना कहा जाता है। महाराजा ने पाडे की जगह चौथमल को बांध देने को कहा था)! आमेर और कूकस के बीच रामसागर की ओदी के सामने चौथमल की बावली बांध दी गई। घने जंगल के बीच ओदी रामसागर मे बैठकर शेर को पाडा खाते देखना महाराजा का शौक था। चौथमल बावली बंध गया, उसे यकीन था कि महाराजा ने मजाक किया है, वे कभी उसे शेर का भोजन नहीं बनने देंगे। ऐसा ही हुआ। आधी रात तक शेर तो आया नहीं, लेकिन महाराजा को ध्यान हुआ कि चौथमल बंधा है तो उन्होंने खवास-चेलों से पूछा, ''अरै वो बंध ही रहयो छै कांई हाल तक? अब तो बिचारा नै खोल ल्याओ नहीं न्हार खाजावैलो।'' (क्या वो अभी तक बंधा है, बेचारे को खोल लाओ, वरना शेर खा ही जायेगा) बस, चौथमल दो-ढाई घंटे खतरे में रह कर सकुशल रसोवड़े मे आ गया।

इस चौथमल को महाराजा 1902 में अपने साथ इंग्लैण्ड भी ले गया। वहाँ वह उस कोठी के बाहर बैठा अपने साथियों से हंसी- मजाक कर रहा था, जिसमें महाराजा ठहरे थे। तभी महाराजा से मुलाकात के लिए कोई ऐसा अंग्रेज आया जो भारत में काफी रह चुका था और कुछ हिन्दी भी जानता था। उसने चौथमल के हृष्ट-पुष्ट शरीर को देखकर पूछा, ''क्या कुश्ती लड़ोगे?''

कहूं आवझ भंकार झांझ झल्लरि बजई।
जलतरंग उप्पंग ताल करतल सजई।।
कहूं सोर सरवीन सरस सर मंडरिय।
कहूं पिनाक रबाब वेणु विधि किन्नरिय।।132

राज-दरबार या राजा के महल में जो कुछ होता था, उसका अनुसरण सामन्त-सरदार भी करते थे। राजा [मा]नसिंह का छोटा भाई माधोसिंह नृत्य और नाटक में गहरी रुचि लेता था। उसे बादशाह ने भानगढ़ का [प]रगना जागीर में दिया था, लेकिन सैनिक अभियानों में उसे भी अपने अग्रज की तरह दूर-दूर के सूबों में जाना [अ]ौर रहना पड़ता था। आगरा में उसकी हवेली —माधव भवन— में तानसेन और अन्य प्रमुख गायक एवं [सं]गीतज्ञ आते ही रहते थे।[17] खानदेश के कर्णाटक ब्राह्मण पुण्डरीक विट्ठल ने "राग मंजरी" माधोसिंह के [नि]मित्तार्थ ही लिखी थी। खानदेश मुगल साम्राज्य में मिल जाने के बाद यह कवि अकबर के दरबार में आ गया [थ]ा।

रामसिंह प्रथम के समय में नृत्य मुद्राओं पर "हस्तक रत्नावली" नामक ग्रंथ बना। उसके समय में या [प]हले से ही राजमहल में पातुरें या नृत्यांगनायें रखने का भी रिवाज था जो अंत पुर की महिलाओं को संगीत [अ]ौर नृत्य सिखाती थीं। आमेर के राजा न केवल संगीत ग्रंथ जुटाते और लिखवाते थे, वरन् राग-रागनियों के [चि]त्र भी बनवाते थे।

आमेर की सम्पन्नता और महत्ता सवाई जयसिंह के समय बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और अपने अन्य कारखानों के साथ जयसिंह ने गुणीजनखाना भी स्थापित किया होगा। खेद की बात है कि उसके राजत्व-काल की अन्यान्य बातों की जहां विस्तृत और प्रचुर जानकारी उपलब्ध है, वहां संगीत और नृत्य के विषय में अधिक कुछ नहीं मिलता। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्रतापसिंह का काल (1778-1803 ई.) जैसे पोथीखाने का स्वर्णयुग था, वैसे ही गुणीजनखाने के लिए भी स्वर्णयुग ही था। गुणीजनखाने को इसी राजा ने व्यवस्थित और विकसित किया। उसके दरबार में कवि- बाईसी, वीर-बाईसी, वैद्य-बाईसी और पंडित-बाईसी के साथ-साथ गांधर्व-बाईसी भी थी। "बाईसी" शब्द सेना के लिए प्रयोग में आता था, लेकिन अपने कवियोचित स्वभाव से प्रतापसिंह विभिन्न विधाओं या गुणों में पारंगत बाईस व्यक्तियों या बाईस से कम ज्यादा होने वाले दलों या समूहों को भी बाईसी ही कहता था। सुना तो यह भी जाता है उसके अपने बनाये हुए काव्य-ग्रंथों की संख्या भी बाईस थी और यह ग्रंथ-बाईसी कहलाती थी। गांधर्व-बाईसी में सब गुणीजनखाने के ही सदस्य थे जिनके प्रधान थे उस्ताद चांद खां या दूलह खां। प्रतापसिंह इन्हें अपना संगीत गुरु मानता था और उसने इन्हें "बुधप्रकाश" की उपाधि से सम्मानित भी किया था। बुधप्रकाश कितने बड़े संगीताचार्य थे, इसका अनुमान उनके बनाये हुए संगीत ग्रंथ "स्वर-सागर" से होता है जिसमें "सरगम" और "चीज" के बेहतरीन नमूने संकलित हैं। दो बानगियां यहां प्रस्तुत हैः

राग कल्याण (ताल सुर फाखता)

धम्म गम गैरे गमरे गरेसा। धानी रेसा। प प ध सारे।
सारे गम रेगरेसा। धानीरेसा।। धम्म....।। स्थायी।।
प प ध सारे, सारेगम, रेगरेसा।। धानीधमगरेगम, रेगनीरेसा।
सुच्छम सुरन सोध मध सरगम बनाय,
पाय रन तें भेद, कर कर 'बुध प्रकास'।
त्रिभुवन कारन अति प्रवीन परताप सारक

17. ब्रज की कलाओं का इतिहास, पुरुषोत्तम दास मित्तल, पृष्ठ 454 55

पतंगखाना और मिस्त्रीखाना

महाराजा रामसिंह के पतंगबाजी के शौक ने "पतंगखाना" को भी एक कारखाना बना दिया था। जमाने में बहुत बड़े-बड़े पतंग बनाये जाते जिन्हें "तुक्कल" कहते थे। आकाश में चढ़ जाने पर तुक्कल की तान यह होती कि उडाने वाला डोर को भले खूंटी से बांधकर निश्चिंत हो जाय। रामसिंह अपने महल में, जिसे "कमरा" कहा जाता था, एक कोठरी पतंगों से ही भरी रखता। पतंगबाजी का शौक माधोसिंह ने भी साधा किंतु रामसिंह के सामने वह नगण्य ही था।

नगर-प्रासाद के संग्रहालय में अब भी पुराने पतंगों और डोर के कुछ नमूने सुरक्षित है जो पिछले दि संग्रहालय के नव-निर्मित प्रदर्शनी कक्ष में 'भारतीय कला में खेल-कूद' प्रदर्शनी में दिखाये गये थे। पतंग बड़े बड़े होते थे, अतः उन्हें उडाने के लिये डोर भी मोटी और मजबूत होती थी। लखनऊ के कुछ पतंग बनाने वा और डोर सूंतने वाले महाराजा रामसिंह के जमाने से बराबर यहां आते रहे थे। उनकी सूंती हुई डोर की क विशाल चर्खियां भरी है जिनसे आदमकद तुक्कल उड़ाये जाते थे। महाराजा के तुक्कल कट जाते या टूट जाते उन्हें वापस लाने के लिये घोड़े दौड़ाये जाते और पतंग जहां भी पहुंचता, वहीं से वापस आ जाता।

रामसिंह के समय में "मिस्त्रीखाना" भी कायम हुआ और बहुत बढ़ गया। अंग्रेजों के साथ बढ़ते संप और नये चलन से आधुनिक फर्नीचर की आवश्यकता न केवल महलों, वरन् दफ्तरों-कचेहरियों में भी होने लगी थी। इसके अतिरिक्त राजकीय वाहनों बग्घी, रथ, बहली, सग्गड आदि के रख-रखाव का लम्बा-चौड़ा काम भी था। यह सब करने के लिए मिस्त्रीखाना नागरपाड़े के रास्ते में कायम हुआ। इसमें महाराजा की आज्ञा से विशेष ढंग की कुर्सियां, सोफा-सेट, टेबिलें और आलमारियां बनाई गई, जिन्हें नगर-प्रासाद में आज भी 'रामसिंह-पैटर्न' का फर्नीचर बताया जाता है।

मिस्त्रीखाने में अब जयपुर जलदाय विभाग का दफ्तर है, पर जयपुर के लोग उसे मिस्त्रीखाना ही कहते हैं।

गुणीजनखाना

गुणीजनखाना गायकों, वादकों और नर्तकों को राज्याश्रय एवं संरक्षण देने वाला कारखाना या विभाग था। संगीत और नृत्य मे मनुष्य को स्वाभाविक लगाव होता है। ये आत्मा की खुराक है और यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि आमेर के राजा मुगल दरबार में घुल-मिलकर जैसे-जैसे बड़े होते गये, इन्होंने जीवन के हर क्षेत्र में अपने बड़प्पन का परिचय दिया। जैसे उनके आश्रय में लेखक, कवि, चित्रकार और अन्यान्य कलाकार एवं शिल्पी अपने-अपने हुनर के जौहर दिखाते रहे, वैसे ही संगीतज्ञ और नर्तक भी फले-फूले और उन्होंने संगीत के संसार में जयपुर का नाम बहुत ऊंचा उठाया। विगत शताब्दी मे जयपुर की ख्याल गायकी ग्वालियर, इंदौर और किराना (आगरा) घरानों की समसामयिक गायकी से होड़ लगाती थी। जयपुर का कत्थक नृत्य भी बनारस और लखनऊ घरानों की कला से टक्कर लेता था और यहां के बीनकार बड़े सिद्धहस्त माने जाते थे।

किंतु, उन्नीसवीं सदी की इस उत्कृष्टता के पीछे कम से कम विगत ढाई सदियों की साधना, अभ्यास और रियाज था और था आमेर–जयपुर के राजाओं का संगीत-प्रेम और संरक्षण। पोथीखाने में उपलब्ध अनेक ग्रंथों से इस बात की पुष्टि होती है। अकबरी दरबार मे जब तानसेन अपने संगीत से बराबर को सम्मोहित करता था तो आमेर के राज-दरबार में भी वीणा, रबाब, जलतरंग और मृदंग वाद्यों से सुमधुर संगीत की सृष्टि होती थी। सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में रचित "मान चरित्र" में अमृतराय नामक कवि इसे बताता है–

बहुत बीन प्रवीन जंत्र जंत्र बाजहिं।

बहु मृदंग संख्यान तार तान सराहिय।।13।।

समुच इनका बड़ा विकास हुआ। रामसिंह के गुणीजनखाने के लिए उस जमाने के संगीत-गुरु अलादिया खां
ा कथन है:

"जयपुर महाराजा के पास उस जमाने में बहुत बड़ा गुणीजनखाना था। हर माह दरबार में गवैयों को
क-डेढ़ लाख रुपये वेतन मिलता था। हैदरबख्श जी, दूल्हे खां जी के बेटे, महाराजा के पहले उस्ताद करीम
ख्श जी (हैदर बख्श जी के भाई), मोहम्मद अली खां (मनरंग के पोते), बहराम खां जी, धग्गे खुदा बख्श जी
ागरेवाले, गुलाब अब्बास (धग्गे खुदा बख्श जी के बेटे), ताऊस खां जी, कल्लन खां (धग्गे खुदा बख्श के
ोटे बेटे), मजी खां, इमरत सेन जी (तानसेन जी की बेटी की औलाद), आलमसेन जी (अमीरसेन जी के भाई),
मीर खां, मम्मू खां जी, वजीर खां जी, छोटे खां जी, इलाही बख्श (हैदरबख्श जी के भाई), लालसेन जी
ानिए, मुबारक अली खां साहब (बड़े मोहम्मद खां रीवां वालों के बेटे), रजब अली खां (महाराजा रामसिंह के
मेरे उस्ताद), खैरात अली खां अलवर वाले (रजब अली खां के भाई) आदि कलाकारों का वहां मुकाम
ा।"[20]

गुणग्राहक महाराजा रामसिंह ने रजब अली खां से वीणा- वादन सीखा था। अपने इस गुरु को उन्होंने जागीर दी थी, रहने को हवेली इनायत की थी और पालकी का सम्मान भी बख्शा था। पानों के दरीबे के मोहल्ले में रजब अली खां की हवेली पुराने लोग आज भी बताते हैं। यह महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के मकान के पास ही थी।

डागर घराने के प्रमुख उस्ताद बहराम खां के अंतिम संरक्षक भी महाराजा रामसिंह ही बने। बहराम खां पंजाब में महाराजा रणजीतसिंह के दरबार में और फिर अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर के पास रह आये थे। वे 1857 में दिल्ली छोड़ने वालों में थे।

जयपुर की प्रसिद्ध गलता गादी पर तब महन्त हरिवल्लभाचार्य विराजमान थे। वे बड़े हरफन मौला और संगीत धुरन्धर थे। उन्होंने "रागमाला" पर एक ग्रंथ की रचना की, जिसकी एक सचित्र प्रति लंदन में इंडिया आफिस के पुस्तकालय में बताई जाती है। महाराजा रामसिंह के शासन-काल में ही "संगीत रत्नाकर" और 'संगीत राग कल्पद्रुम' जैसे ग्रंथ बने थे। ये प्रामाणिक ग्रंथ हीरानन्द व्यास ने लिखे थे।

प्रतापसिंह के बाद रामसिंह का राज्य-काल ही गुणीजनखाने की प्रगति में कोस-मीनार की तरह है। कहते है उस समय 161 कलाकार या गुणीजन गुणीजनखाने के चिट्ठे पर थे— वेतन भोगी थे।[21] वाद्य यंत्रों को बनाने और सुधारने के लिए बढ़ई और कुम्हार भी थे। महाराजा गुणीजनखाने के कलाकारों को पूरा मान देते थे। जो कलाकार मर जाते, इनकी विधवाओं तक के लिए पेंशन का प्रावधान था।[22]

महाराजा के संगीत-प्रेम का एक उदाहरण है। वे चन्द्रमहल के पार्श्व में बने अपने कमरे में करामत खां को गैस की रोशनी के नीचे बैठाकर पक्के ध्रुपद और दूसरी गायकी का आनंद लेते थे। करामत खां गुणीजनखाने के आखिरी दिग्गजों में से था, जिसे खुदा ने उम्र भी एक सौ आठ साल की दी थी। अपने बुढ़ापे में वह महाराजा के कमरे में अपनी जगह को याद कर लोगों से कहा करता था कि "बस मेरे गाते-गाते ही आधा सेर, तीन पाव रबड़ी तो मेरे मालिक (महाराजा) मल्हार करके खिला देते थे।" कलाकार और उसके संरक्षक के बीच तब कैसी अनौपचारिकता और घनिष्ठता थी।

यह दिग्गज संगीतज्ञ लेखक को भी हल्की-हल्की याद में है। तब बुढ़ापे ने उसे पूरी तरह झुका दिया था (सौ साल से ज्यादा उम्र होगी तब) और वह प्रतिदिन एक तांगे में बैठकर महाराजा कालेज के अंग्रेजी विभाग के

[20] [illegible] 19[illegible] पृष्ठ [illegible]
[21] वही पृष्ठ 10[illegible]
[22] वही पृष्ठ 1[illegible]

सकल चरण पद्-बरसान नियास।।

सीज, पद: राग हमीर (ताल सुरफाखता, ध्रुपद)

पांच बदन सुखसदन पांच त्रैलोचन मंडित।
अरधचन्द अरु गंग जटन के जूट प्रमंडित।।
भूषन भस्म भुजंग माद नादेश्वर पंडित।
धनक-भंग में मगन अंग आनंद उमंडित।।
बाघंबर अंबर धरे अरधांग गौरि कंचन-बरन।
जय कीर्ति-उजागर गिरि-बसन्त बाँधप्रकाश वंदितचरन।।१।।[18]

सवाई प्रतापसिंह की साहित्य, संगीत और कला, तीनों में समान रुचि ही नहीं थी, गहरी पैठ भी थी। उसके समय में गुणीजनखाने के संगीतविदों ने सात अध्यायों में संगीत का एक विशद ग्रंथ तैयार किया था "जिसकी जोड़ का हिंदी भाषा में इस विषय का दूसरा ग्रंथ नहीं है।"[19] इस ग्रंथ का नाम है "राधा गोविन्द संगीत सार" और यह मुद्रित रूप में जयपुर की महाराजा पब्लिक लायब्रेरी में उपलब्ध है। इस ग्रंथ में छापे की अशुद्धियां तो काफी रही हैं, किंतु भारतीय शास्त्रीय संगीत का इसमें बड़ा श्रम और निष्ठा के साथ विवेचन किया गया है। इसी समय की एक अन्य रचना राधाकृष्ण कवि का "राग रत्नाकर" है जो अपेक्षाकृत छोटा रीति-ग्रंथ है और प्रकाशित भी हो चुका है।

प्रतापसिंह को राधागोविन्द का इष्ट था और वह प्रतिदिन दर्शन करने के बाद भगवान की स्तुति का पद सुनाता था। इन पदों की रचना उसने जीवनभर की और उसकी गांधर्व-बाईसी ने इन पदों को राग- रागनियों में बांधा। विशेष पर्वों और उत्सवों पर गोविन्ददेव और प्रतापसिंह के अपने बनवाये हुये ब्रजनिधि के मंदिर में रास और लीलाओं का आयोजन होता और संगीत के आयोजन तो होते ही रहते। किशनगढ़ के कवि नरेश सावंतसिंह या नागरीदास के समान प्रतापसिंह न केवल भक्ति रस से सराबोर काव्य रचना करता था, वरन् अपनी रचनाओं को सुर-ताल में बांध कर भावनाओं के सागर में डूबता-तैरता रहता था। एक दिन भक्ति भाव में विभोर होकर उसने स्वयं भगवान के सामने गाया:

लगनि लगी तब लाज कहा री।
गौर-स्याम सौं जब दृग अटके।।
तब औरन सौं काज कहा री।
पीयो प्रेम-पियालो तिनको।।
तुच्छ अमल को साज कहा री।
"ब्रजनिधि" ब्रज-रस चाख्यो जाने
ता सुख आगे राज कहा री।

राज ने इस कवि-शासक को जिन्दगी भर सुख भी क्या दिया था ! निराशा की घड़ियों में वह बार- बार भगवान को पुकारता और काव्य-रचना और संगीत की साधना में सुख की अधिक प्रतीति करता।

प्रतापसिंह ने साहित्य, संगीत और कला के उन्नयन के लिए जो कुछ किया, वह अराजकता, अशांति और षड़यंत्र-कुचक्रों के उस काल में एक विरोधाभास ही था। 1803 में उसकी मृत्यु के बाद तो जयपुर में बड़ी अशांति फैली और महाराजा रामसिंह के वयस्क होने पर ही पुनः शांति, व्यवस्था और वह माहौल लौटा जिसमें संगीत और नृत्य जैसी ललितकलाओं का पोषण एवं विकास हो सकता है। रामसिंह के संरक्षण में

18. ये नमूने 'ब्रजनिधि ग्रंथावली' में दिये गये हैं। पृष्ठ 48-49
19. ब्रजनिधि ग्रंथावली, पृष्ठ ४८,

अध्यक्ष प्रोफेसर डी.सी.दत्ता को वीणा सिखाने मिर्जा इस्माइल रोड पर पुरोहितजी के बाग तक आता था। अपनी मंद और कांपती हुई आवाज में एक दिन करामत खां ने दत्ता साहब को एक "चीज" सुनाई। जब दाद दी गई तो इस वयोवृद्ध संगीतज्ञ ने कहा "आवाज में तो अब दम कहां से लाऊं, लेकिन गले में लोच बाकी है। मने टके पाव मलाई जो खाई है!"

गुणीजनखाने में सभी कलाकार विभिन्न वर्गों या श्रेणियों में विभाजित थे। सबसे बड़े उस्तादों को रोजाना ो हाजरी माफ थी। उन्हें तत्कालीन परिपाटी के अनुसार नगर— प्रासाद के "हरे बगले" में जाकर नहीं गाना ड़ता था, वैसे इस बगले में सूर्योदय से सूर्यास्त तक संगीत होता ही रहता था। हां, जब विशेष अवसर होते, हाराजा याद करते या उनके कोई विशिष्ट मेहमान आते तो उस्तादों को भी याद किया जाता और वे जाकर पनी स्वर-लहरी से उनका मनोरंजन करते।

महाराजा माधोसिंह (1880-1922 ई.) ने दिवंगत महाराजा की अन्य बातों की तरह गुणीजनखाने की र्यादा भी बनाये रखी। रामसिंह के समय के कुछ दिग्गज अभी मौजूद थे। करामत खां और रियाजुद्दीन खा ागर, फूलजी और मन्नूजी भट्ट तथा किशनजी उस्ताद ऐसे ही दिग्गजों में से थे जो इस "कच्चे जादू" के ये-नये प्रयोग करते रहते थे। इस महाराजा के समय में ही विद्यावाचस्पति पंडित मधुसूदन ओझा ने एक चित्र "खरड़ा" तैयार किया था जिसका नाम है "राग- रागिनी संग्रह"।

संगीत के साथ-साथ जयपुर के कत्थकों ने कत्थक नृत्य की उस शैली का विकास किया जो आज जयपुर शैली अथवा 'जयपुर घराना' कहलाती है। लखनऊ व बनारस घरानों के साथ इस घराने ने इस शास्त्रीय नृत्य को पावों की गति के विशेष आयाम दिये। हरिहर प्रसाद, हनुमान प्रसाद और नारायण प्रसाद जयपुर के विशिष्ट और प्रतिनिधि कत्थक नृत्यकार थे। महाराजा रामसिंह के अंतिम दिनों और महाराजा माधोसिंह के शासन के आरंभ में गुणीजनखाने में आठ परिवारों की नौकरी थी।

सवाई मानसिंह संग्रहालय की रजिस्ट्रार चन्द्रमणि ने गुणीजनखाने के संबंध में विशेष अध्ययन किया है। इसके अनुसार कत्थक एक जाति थी जो शेखावाटी में रहती थी।[21] शेखावत सरदारों के मुगल दरबार की चाकरी में जाने पर उनके नर्तक भी उनके साथ गये और मुगल दरबार में काम करने लगे। मुगल साम्राज्य के क्षय के साथ गायक और नर्तक भी दिल्ली-आगरा छोड़कर अन्य प्रांतीय राजधानियों में चले गये। जयपुर ऐसे कलाकारों के लिए बहुत अनुकूल दरबार था। कहते हैं, भानु जी नामक कत्थक का वंशज दूल्हा जी या गिरधारी जयपुर आया था। हरिहरप्रसाद और हनुमान प्रसाद गिरधारी के ही पुत्र थे। इन भाइयों को यहां "देव-परी का जोड़ा" कहते थे। हरिहरप्रसाद ताण्डव को अधिक महत्व देता था और हनुमानप्रसाद लास्य को। हनुमान प्रसाद कृष्ण- भक्त या गोविन्द- भक्त था। गोविन्दजी के मंदिर में फर्श पर गुलाल बिछाकर वह जब नृत्य करता था तो उसके गतिमान चरण हाथी का आकार बना देते थे।

स्वर्गीय नारायण प्रसाद हनुमान प्रसाद का ही पुत्र था। बचपन से ही नृत्य का रियाज कर वह ऐसा सिद्धहस्त नृत्यकार बन गया था कि अनेक राजाओं से वाह- वाही पाई थी। संगीत-नृत्य सम्मेलनों में भी उसकी खूब धूम रहती थी। अपने जीवन की संध्या में वह दिल्ली चला गया था। जयपुर में आज भी उसके अनेक शिष्य है, जिनमें बाबूलाल पाटनी भी हैं। डा. जयचंद शर्मा के अनुसार कत्थक नृत्य की 'जयपुर घराना' शैली की दो शाखाएं है और दोनों के ही प्रवर्तक चूरू जिले के रहने वाले थे।[22]

गुणीजनखाने की गायिकाओं में गौहर जान तो अभी बहुत से जयपुर वालों को याद है। इस गायिका को महाराजा मानसिंह द्वितीय ने भी अच्छा मान दिया और वह जब तक जीती रही, पेंशन पाती रही। महाराजा

21 कल्चरल हेरिटेज ऑफ जयपुर, 1979, पृष्ठ 101
22 रंग-श्री (त्रैमासिक) [illegible] 1982 [illegible]

गौहर जान, महाराजा माधोसिंह के गुणीजन खाने की सर्वाधिक चर्चित गायिका

माधोसिंह के जमाने की इस तालिका के साथ कुल 14 साजिन्दे और नर्तकियां गुणीजनखाने की नौकरी में थीं। इस कारखाने में और उनकी संगत के लिए सारंगियाजों, पखावजियों, तबलचियों और अन्य वादकों का पूरा अमला था।

गुणीजनखाना जब रियासत के विलय के साथ खत्म हो गया तो जयपुर के गायक, नर्तक और वादक भी बिखर गये। सेनिया घराना जिसने पहले बीन (वीणा) और फिर सितार-वादन में बड़ा जबर्दस्त नाम किया था, पाकिस्तान चला गया। डागर बंधु कलकत्ता और दिल्ली में ध्रुपद-धमार के लिए अपनी मौलिक डागर वाणी का प्रशिक्षण देते हैं। संगीत-नाटक अकादमी में भी कुछ लोग सेवारत हैं और दिल्ली का कत्थक केंद्र जयपुर घराने की विशिष्टताओं के साथ कत्थक का प्रशिक्षण देता ही है। अब तो जयपुर में भी कत्थक केंद्र खुल गया है और देखना यही है कि ऐसी संस्थाओं में संगीत-नृत्य की यह परम्परा कितनी सजीव रह पाती है जो कभी गुणीजनखाने ने इस कलापूर्ण नगरी में स्थापित और विकसित की थी।

कारखाना-पुण्य

कारखाना-पुण्य या पुण्य का कारखाना जयपुर में आज के देवस्थान विभाग का पुरखा था। राजकीय मंदिरों की प्रबन्ध व्यवस्था, भोग-राग और राजा-रानियों की ओर से पर्व-त्योहारों पर किए जाने वाले दान-पुण्य का लेखा यही कारखाना रखता था। माधोसिंह का दान-पुण्य विख्यात है। उनके समय में कभी बादल महल तो कभी सीतारामद्वारा, कभी गोविन्ददेवजी तो कभी अन्य किसी मन्दिर में ब्राह्मणों की वरणी चलती ही रहती, जप-तप-पूजा-पाठ का सिलसिला बराबर बना रहता। आये दिन ब्रह्म-भोज भी होते। जयपुर के ब्राह्मणों ने इस राजा के राज में छक कर लड्डू खाये थे और यह सब आयोजन पुण्य के कारखाने द्वारा ही होते थे। पुण्य के कारखाने का हाकिम इस नाते बड़ा प्रसिद्ध और लोकप्रिय अधिकारी होता था। जयपुर के प्रसिद्ध गौरीलाल कवीश्वर के वंश में कवि गोविन्द लाल ने अपने समय में किशनलाल शाह की इस पद पर नियुक्ति होने का इस प्रकार स्वागत कि[illegible]

दीनन के पालने को
देवालय सम्भालने को,
इनके दुख टालने को
चित्त हरखायो है।
विप्र सुख पावने को,
देवता रिझावने को,
पुण्य अधिकावन को
उर से लगायो है।।
"गोविन्द" सुजान पुण्य
द्वारा बीच शत्रु को सु,
वेगि निरमूलने को
हुकम यो सुनायो है।।
साह किशनलाल जू को
भूपति निज माधवेस,
यातें कारखाना पुण्य,
काम सम्भलायो है।।

बागायत

छत्तीस कारखानों में "बागायत" भी बडा पुराना कारखाना रहा है। सवाई जयसिंह ने 1727 ई. में जयपुर बसाया था और उससे भी पहले जय निवास बाग लगवाया था। दूब के लान, सजावटी पेड-पौधे और फूलों से भरी क्यारियां बागायत या गार्डनिंग हैं और यह सब खर्चे या "लागायत" का काम है। अपने जमाने में राजा लोग लागायत को बर्दाश्त करते ही थे। जयपुर बसने के साथ ही पुराने घाट में कई बाग-बगीचे तैयार हो गए और कुछ ही समय मे "माजी का बाग" भी बना। महाराजा रामसिंह ने बागायत के महकमे से अपना ही काम नहीं लिया, जयपुर की जनता के लिए लम्बा-चौड़ा रामनिवास बाग भी बनवाया। राजस्थान के रजवाडो में तब आम नागरिको के मनोरंजन और आमोद-प्रमोद के लिए कौन ऐसी सुविधायें जुटाने की सोचता था?

रियासती काल के अंतिम वर्षों में नीदड के रावजी के रास्ते के निवासी खान साहब अहमद अली खां बागायत के हाकिम थे। बड़े सिद्धहस्त बागवान थे, जिन्होंने महाराजा मानसिंह के समय में जयनिवास, रामबाग और रेजीडेंसी (माजी का बाग) के पुराने और विशाल बागों को सवार कर आधुनिक रूप दिया। ये चार रुपये से चार सौ रुपये माहवार के वेतन तक पहुंचे थे। अहमद अली खां के लडके मोहम्मद अब्दुल गफ्फार अब भी इन बागों को संभाल रहे हैं। महाराजा मानसिंह के खर्चे पर वह दो बार इंग्लैण्ड हो आये थे और भारतीय के साथ पाश्चात्य उद्यान-कला का वे जैसा सफल सामंजस्य बैठते हैं वह जयपुर के महलायत की बागायत मे प्रकट है।

तारकशी और खबर

कारखानों में एक कारखाना तारकशी का था जिसमें गोटा-किनारी का काम होता था। गोटा, किरण, लप्पी, गोखरू जैसी वस्तुओं की मांग जनानी ड्योढी में बराबर रहती थी। फर्राशखाना, रथखाना, पीलखाना, शुतरखाना और अतिथि से भी सजावटी झूलों आदि के लिये ऐसी चीजों की मांग आती थी। जयपुर की स्थापना के बाद सवाई जयसिंह ने गुजरात व खंभात से तारकशी के कारीगरों को बुलाकर इस नगर में बसाया था। 1876 ई. में प्रिंस ऑफ वेल्स के जयपुर आने पर महाराजा रामसिंह ने पूरे सौ हाथियों का जुलूस निकाला था जो सभी जर्क-बर्क सजाये गये थे। तारकशी का कारखाना तब महीनों दिन-रात काम कर रहा था। पूरे लवाजमे की सजावट के साथ-साथ सभी शागिर्दपेशों, महावतों, सईसों, शुतरसवारों और सिपाहियों को तब नयी पोशाके या वर्दियां भी दी गई थीं। तारकशी से सम्बद्ध एक कारखाना बदलाकशी का भी चलता था।

"खबर" का कारखाना या महकमा राजा का इंटेलीजैंस डिपार्टमेंट था। रामसिंह के समय में इसे बड़ा सक्षम बनाया गया था और तार-टेलीफोन की सुविधायें न होने के बावजूद खबरनवीसो के संगठन के जरिये रियासत के कोने-कोने के समाचारों के पर्चे राजा को मिलते रहते थे। अखबार तो थे नहीं, लेकिन "खबर के पर्चे" बडी फुर्ती और मुस्तैदी के साथ आते थे और सभी खुराफाती या बदमाश लोग इस बात से डरते थे कि कहीं "खबर का पर्चा" न पहुंच जाए! खबरनवीस की हैसियत महाराजा माधोसिंह के समय तक खूब बनी रही। यह राजा अपने तक पहुंचने वाले खबर के पर्चों पर तुरत कार्यवाही करता था।

उसके बाद तो जमाना तेजी से बदला और कारखाना खबर भी अन्य पुरानी बातों की तरह एक भूली-बिसरी बात हो गया।

माधोसिंह के जमाने में 'खबर के पर्चे' कितनी फुर्ती और मुस्तैदी से भेजे जाते थे और उन पर कार्रवाई भी कितनी तेजी से होती थी, इसके उदाहरण पुरोहित गोपीनाथ (तत्कालीन गृहमंत्री या कौंसिल के होम मेम्बर) ने दिये है।

ो इस इश्तिहारबाजी ने जयपुर के शासन को एकदम चौकन्ना कर दिया। 3 तारीख को जब खवास ालाबख्श ने महाराजा के सुरक्षित भरतपुर पहुंच जाने का तार दिया तो यहां इन इश्तिहारों की ही चर्चा गर्म ी। उधर महाराजा को भरतपुर मे खबर का पर्चा मिल गया था और 5 तारीख को उन्होने खवास ालाबख्श को भरतपुर मे जयपुर रवाना कर दिया था।

खवास बालाबख्श 6 जनवरी को सवेरे ही यहां पहुंचा और दिन भर सारी बात भलीभांति समझ बूझ कर ात को भरतपुर लौट गया। रायबहादुर पुरोहित गोपीनाथ को महाराजा की अनुपस्थिति मे महल चौकीखाना) मे ही रहना पड़ता था क्योंकि महाराजा जब भी कहीं बाहर जाते, ड्योढ़ी से चौबदार आकर ाह संदेश दे जाता कि 'श्रीजी की सवारी बाहर पधारेगी सो आप ड्योढ़ी मे रहें।'

प्रधानमंत्री नवाब फैयाज अलीखां ने खवास के जाने के बाद पुरोहित गोपीनाथ को बताया कि खवास को भरतपुर से उन्हें महज यह कहने के लिए भेजा गया था कि जयपुर में जिस तरह के इश्तिहार चिपकाये गये है, वे बड़े महत्व के है। ये एक संगीन मामला है जिसमें सरकार और राज का हित भी निहित है, अतः जो भी कार्रवाई की जाय, वह पूर्णतः रेजीडेंट के परामर्श और सहमति से की जाय।

प्रधानमंत्री ने पुरोहित गोपीनाथ को यह भी बताया कि सवेरे जब वे रेजीडेंट से मिले थे तो उसने भी इस मामले को बड़ी गंभीरता से देखा और कहा कि इन इश्तिहारों के पीछे जर्मन धन होने की संभावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता। जयपुर के राजनीतिक अपराधों और राजद्रोह की प्रवृतियों की जांच के लिये नियुक्त विशेषाधिकारियों के काम की भी आलोचना की गई- ये विशेषाधिकारी थे पुरोहित हरिनारायण, बी.ए. और मोहम्मद मीर। अन्त मे प्रधानमंत्री ने पुरोहित गोपीनाथ को बताया कि वे रेजीडेंट से यह कहने जा रहे है कि वह गवर्नमेंट सी.आई.डी. के किसी भी अफसर को दोषियों का पता लगाने के लिये नियुक्त कर सकते हैं। प्रधानमंत्री ने उनकी ओर से पुरोहितजी को ऐसा एक मसविदा बना देने का अनुरोध किया जो तुरन्त प्रस्तुत कर दिया गया। किन्तु, अगले दिन सवेरे ही महाराजा के निजी सचिव रायबहादुर अविनाश चन्द्र सेन और खवास बालाबख्श भरतपुर से लौट आए और कहा कि महाराजा यह चाहते है कि इस मामले की जांच सरदार बिशनसिंह से कराई जाय, जिनकी सेवायें जयपुर को देने के लिये वे (महाराजा) पहले ही सरकार को लिख चुके हैं। लिहाजा रेजीडेंट को दिये जाने वाले पत्र के मसविदे में महाराजा की इच्छानुसार परिवर्तन किया गया और यह संशोधित पत्र लेकर सेन और नवाब फैयाज अलीखां रेजीडेंट से मिलने निवाई रवाना हुए। रेजीडेंट का कैम्प तब वहीं था। इस बीच संदेह मे दो आदमी गिरफ्तार किये गये, एक था रामचन्द्र दरोगा और दूसरा था अपेलेट कोर्ट के नायब सरिश्तेदार का लड़का मकबूल हसन।

नवाब फैयाज अलीखां और अविनाश चन्द्र सेन रेजीडेंट को महाराजा की ओर से संशोधित पत्र दे आये और रेजीडेंट से उनकी जो बात हुई उससे पूर्णतः संतुष्ट होकर लौट आये।

जयपुर से दूर बैठकर महाराजा माधोसिंह इस प्रकार जयपुर की हर घटना पर पूरी निगाह रखता था और महकमा खबर का इस दृष्टि से बड़ा महत्त्व था।

इत्र की ओरी

राजपूतों के दरबार का समापन हमेशा इत्र-पान से होता था और इसी कारण नगर-प्रासाद में एक "इत्र की ओरी" भी थी। इसमे कभी बालू मिट्टी से भी इत्र बनाया जाता था।

यह कोई बहुत पुरानी बात नहीं, लोगों की याद की बात है। महाराजा माधोसिंह (1880-1922ई.) वर्षा-विहार के लिए प्रायः खासा-कोठी (अब राजस्थान स्टेट होटल) या दुर्गापुरा में खवासजी के बाग में रहता था। उमस और घुटन के बाद वर्षा की रिमझिम रेत के टीलों पर सबसे अधिक सुहावनी लगती है। तपी हुई बालू

जयपुर तब छोटा और परकोटे के भीतर सिमटा हुआ था। मोटर वाहन थे नहीं, अतः यातायात की कोई भी दुर्घटना हो जाना तब एक खबर होती थी। 1914 ई. की डायरी में अनेक खबर के पर्चों का उल्लेख है, जैसे 9 अप्रेल को "पर्चा खबर इत्तलाई आया घायल चोट लग जाने एक शख्स के ट्रांसपोर्ट की गाड़ी से बाजार में।" इसी तरह 10 अप्रेल का पर्चा था "घायल से जाने एक औरत को दरवाजे के भीतर किसी मुसाफिर (कस्टम के दारोगा) का जिसने अपने वास्ते दरवाजा खुलवाकर भीतर आने की चिट्ठी भी हासिल की थी।" जयपुर में तब रात के 11 बजे शहर के सभी दरवाजे बंद कर दिये जाते थे। न कोई भीतर से बाहर जा सकता था और न बाहर से भीतर आ सकता था। हां, किसी को खास जरूरत होती तो चिट्ठी हासिल कर ऐसा करता था। 1923 ई. में जाकर यह आदेश हुआ था कि चांदपोल दरवाजे को रात भर खुला रखा जाये। इसके कुछ समय बाद सांगानेरी दरवाजे को भी खुला रखा जाने लगा था।

11 अप्रेल, 1914 ई. को भी पुरोहित गोपीनाथ को एक दिलचस्प 'पर्चा खबर' मिला जिसमें सूचना थी कि राजमहल (दूणी के पास, जो अब टोंक जिले में है) में जहां जयपुर स्थित अंग्रेज रेजीडेंट के लिए खेमा गाड़ा जा रहा था, मधुमक्खियों का एक छत्ता टूट गया और कई लोगों को मक्खियों ने डंक मार दिये। राजमहल एक रमणीय स्थल है, जहां अंग्रेजों के बहुत कयाम होते थे। चूंकि ये पर्चा रेजीडेंट से ताल्लुक रखता था, इसे महाराजा को 'मालूम' कराने हरिद्वार भेज दिया गया। महाराजा का कैंप तब वहीं था।

दूसरे दिन इस पर्चे का 'फालोअप' एक अन्य पर्चा आया। इत्तला थी कि रेजीडेंट जो राजमहल जाने के लिए बंथली (आज की वनस्थली) गांव तक जा पहुंचा था, मधुमक्खियों के डर से वहीं से जयपुर लौट आया। महाराजा के 'मालूम' के लिये यह पर्चा भी हरिद्वार भेज दिया गया।

एक दिन गौरीशंकर नामक खबरनवीस से यह पर्चा मिला कि चौमूं के ठाकुर देवीसिंह की मोटर से एक भिखारिन की टक्कर हो गई और उसे चोट आई।

एक और दिन पर्चा आया कि गलता में दो ब्राह्मणियां डूब कर मर गयी हैं। आवश्यक कार्रवाई के लिए यह पर्चा फौजदार को भेजा गया। फौजदार को एक अन्य पर्चा भी भेजा गया जिसमें शिकायत थी कि शिवपोल के पास जागेश्वरजी महादेव पर किन्हीं लोगों ने पत्थर फेंके हैं।

इसी प्रकार एक खबर के पर्चे में मालियों की खुराफात से शहर में शाक-सब्जी महंगे होने की बात थी।यह पर्चा आवश्यक कार्रवाई के लिये रेवन्यू डिपार्टमेंट को भेज दिया गया। घाट दरवाजे के बाहर एक लाश पड़ी रहने का पर्चा महाराजा को 'मालूम' हो जाने के बाद ड्योढी से आया और तुरंत कोतवाली भेज दिया गया। चौकड़ी सरहद (नगर-प्रासाद का क्षेत्र) में कई जगह जुआ होने के पर्चे भी उन दिनों मिलते ही रहते थे।

महकमा खबर के खबरनवीस अपने पर्चों के जरिये महाराजा को रियासत भर की गतिविधियों से अवगत रखते थे और संचार तथा परिवहन के साधन आज जैसे न होने पर भी इस राजा को अपने हर कैम्प में जयपुर की सारी खबरें समय पर मिलती रहती थी। एक ओर विदेशी प्रभुसत्ता के प्रतिनिधि अधिकारियों को तुष्ट रखना और दूसरी ओर अपने राज्य की प्रजा में किसी प्रकारकीअशांति और बेचैनी न फैलने देना उस काल की शासन-नीति के निर्देशक सिद्धांतों की तरह थे। जिन पर मुस्तैदी के साथ अमल किया जाता था।

1916 ई. की जनवरी की बात है। पहला विश्वयुद्ध चलते दो वर्ष होने जा रहे थे कि 3 तारीख को दोपहर 12 बजे खबर का पर्चा लगा कि जलेब चौक में अनेक कचेहरियों के दरवाजों, कौंसिल भवन, नवाब साहब की हवेली और त्रिपोलिया पर ऐसे इश्तिहार चिपकाये गये हैं जिनमें मुसलमानों को ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध हथियार उठाने और तुर्कों की हिमायत करने के लिए भड़काया गया है। महाराजा माधोसिंह मदल-बल पिछली शाम को ही अपनी स्पेशल ट्रेन में हरिद्वार जाने के लिए भरतपुर रवाना हो चुका था और उसके जाते

9. बेड़ा खवास-चेला:

जयपुर की मर्दानी ड्योढी के साथ 'बेडा खवास-चेलान' भी जुड़ा था। पं. गोपालनारायण बहुरा : मान्यता है कि खवास और चेले बहुत पहले से ही रहते आये थे, किन्तु इनका बाकायदा संगठन (बेड़ा) सव माधोसिंह प्रथम के समय में हुआ। माधोसिंह अपने सौतेले भाई के आत्मघात के बाद उदयपुर से आव जयपुर की राजगद्दी पर बैठा था। माधोसिंह के साथ अनेक पल्लीवाल ब्राह्मण और दूसरे लोग भी आये थे माधोसिंह ने इनमें से अपने विश्वस्त अनुचरों का एक पार्श्ववर्ती संघ बनाकर अपने पास रखा था। बाद : राजाओं ने इसी परम्परा को निभाया और वे अपने परम विश्वासपात्र बडे-बड़े सेवकों को इस बेड़े में रख लगे।

खवास-चेलों की संस्था के मूल की प्राचीनता आठवीं सदी की रचना 'समराइच्च कहा' से भी प्रमाणित होती है। इसमें "भाण्डागारिक" और "चेल्लि भाण्डागारिक"[1] नाम आये हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि : लोग नरेशों के विविध भण्डारों की चौकसी पर रहते थे और बडे विश्वासपात्र होते थे। तुर्की सुल्तानों और मुगल बादशाहों के यहां भी 'चेले' होते थे जिन्हें निजी हुक्म से खास-खास कामों पर भेजा जाता था। मुगलों के उत्तरकालीन इतिहास में नूरखां नामक चेले का उल्लेख हुआ है जिसे जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह के विरुद्ध अजमेर भेजा गया था।

'खवास' वस्तुतः 'खास' का बहुवचन है और अरबी में 'चेला' बड़े को कहा जाता है। राजा या बादशाह के अंग-रक्षक खवास ही होते थे, जबकि जर, जेवर, नकदी, मुहर आदि चेलों के पास रहते थे। राजा के अत्यधिक निकट रहने वाले खास अनुचर विशिष्ट कार्यों के लिये प्रयुक्त होते थे। यही लोग महत्त्वपूर्ण संदेशों को निर्दिष्ट स्थान एवं व्यक्ति तक पहुंचाते थे और संधि-विग्रह जैसे राजनीतिक-कूटनीतिक कार्यों को भी सम्पन्न कराते थे। खवासों में अपनी कार्यकुशलता, विश्वासपात्रता और योग्यता के बल पर लोग अमात्य और मन्त्री के पदों तक पहुंच जाते थे। जयपुर में इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं।

नांगल जैसा-बोरा के निवासी जैसा या जयसाह बोहरा का बेटा खुशालीराम बोहरा माधोसिंह प्रथम का प्रधान जलधारी या जल-सेवा करने वाला खवास ही था। महाराजा ने इस ब्राह्मण-पुत्र की प्रतिभा को पहिचाना और उसे राज्य-प्रबन्ध के कामों में लगाया। सवाई पृथ्वीसिंह के समय वह प्रधान मंत्री के पद तक पहुंचा और उसे 'राजा' का खिताब दिया गया।[2]

1. इस सूचना के लिए लेखक पं. गोपालनारायण बहुरा का आभारी है।
2. मुगल साम्राज्य का पतन, भाग 3, यदुनाथ सरकार, पृष्ठ 327

भीगने से जो सोंधी बास उठती है उसकी एक अपनी महक, अपनी गन्ध होती है। माधोसिंह को यह बहुत भाती थी, इसलिए "इत्र की ओरी" से कहा गया कि इस गन्ध को भी गिरफ्तार किया जाय और जैसे गुलाब चमेली, हिना आदि की रूह मिलती है, मिट्टी का इत्र भी मिले। "इत्र की ओरी" में काम करने वाले गन्धियों ने कोशिश की और इस भीनी महक का इत्र बनाने में सफल रहे।

माधोसिंह के समय में खासा कोठी की इमारत तो थी लेकिन उसके चारों ओर का डोला या "कच्चा उसवाल" बरसात होने पर मिट्टी से ही बांधी जाती थी। यह दीवार खासी ऊंची होती थी और सपाट लकड़ी के तख्तों से पीट-पीट कर बड़ी सुघड़ और सुडौल बनाई जाती थी। खासा कोठी के "डोल बंधाई" का रिवाज महाराजा मानसिंह के समय में भी बहुत बरसों तक चलता रहा था।

रिसाला कमां के डील। पहले इस रिसाले में सबको दाढ़ी रखना अनिवार्य था

राजा और खवास-चेलों की निकटता तथा पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालने वाला एक बड़ा प्यारा स्सा है जो पुराने लोगो को अब भी याद है। सवाई माधोसिंह (प्रथम) के साथ उदयपुर से आने वालो मे एक जाधर पल्लीवाल भी था जिसे महाराजा ने चौकडी रामचन्द्रजी में एक विशाल सात चौकों की हवेली और ागीर प्रदान कर इस वेडे मे रखा था। गजाधर के वंशजों में जब मोतीलाल निःसन्तान मर गया तो घनश्याम ल्लीवाल उदयपुर से आकर उसका दत्तक हुआ। गजाधर का उल्लेख कवि-कलानिधि श्रीकृष्ण भट्ट ने पनी 'पद्य-मुक्तावली' में भी किया है। श्री कृष्ण भट्ट भी सवाई जयसिंह के आग्रह पर जयपुर आये थे और वाई प्रतापसिंह के समय तक जीवित थे।

महाराजा माधोसिंह (द्वि.) का जमाना था। महाराजा उन दिनों प्रायः दुर्गापुरा-स्थित खवासजी के बाग में हता था। दारोगा घनश्याम पल्लीवाल, जो पढ़ा-लिखा और कवि भी था, महाराजा के अनुचरों में वही था। एक दिन जब महाराजा दुर्गापुरा से नगर-प्रासाद मे आ गया (प्रायः हर शनिवार को जनानी महफिल होने के ारण महाराजा अपने महल में आ जाता था) तो पीछे खवास-चेलों की तबीयत भी वर्षा के सुहावने मौसम मे भुरभुरा उठी और उन्होंने सांगानेर जाकर चूरमा-बाटी-दाल की गोठ करने का इरादा किया। वे लोग जब किसी एक को दुर्गापुरा की कोठी के पहरे पर बैठाकर सांगानेर चले गये तो पीछे से अचानक महाराजा वापस आ गया और वहां किसी को न पाकर गुस्से से आगबबूला हो गया। आधी रात के लगभग घनश्याम पल्लीवाल और सब लोग सांगानेर से लौटे तो क्रुद्ध महाराजा ने सबको पुलिस के द्वारा बेड़े के हाकिम राजा उदयसिंह के सामने पेश करने का हुक्म दिया। सांगानेर से पैदल चलकर आये बेचारे इन लोगों को तब पैदल ही दुर्गापुरा से त्रिपोलिया बाजार मे राजा उदयसिंह की हवेली लाया गया क्योंकि वहीं उन लोगों के हाकिम का निवास था। वहां पहुचे तो तीन बज गये होंगे। हाकिम साहब खुमारी में उठे तो फरमा दिया कि अभी क्यों लाये हो, सवेरे देखेंगे, वापस ले जाओ! अब क्या होता, वहां से फिर दुर्गापुरा कूच किया और सारी रात सांगानेर- दुर्गापुरा-जयपुर- दुर्गापुरा तक पाव रगडते ही बीत गई। युवा घनश्याम पल्लीवाल तो इस परेड से ऐसा मायूस और निराश हुआ कि उसने मन ही मन न सिर्फ महाराजा की खवासी, बल्कि जयपुर भी छोड़ देने की ठान ली।

सवेरे जब महाराजा अपनी नित्य की आदत की तरह आकर आम के पेड़ तले मूढे पर बैठ गये थे तो घनश्याम ने हौसला जुटाकर उनके सामने जाने की जुर्रत की और अपना लिखित इस्तीफा लिये हाथ जोडकर कहा, "अन्नदाता!" महाराजा को आदमी और आदमी के स्वभाव की पूरी परख थी। यह ताडकर कि वह रात की परेड के बारे में ही कुछ कहेगा, महाराजा ने मूढ़ा घुमाकर अपना मुंह दूसरी ओर कर लिया। घनश्याम पल्लीवाल भी मानस बनाकर गया था, वह उसी ओर जा खड़ा हुआ जिधर महाराजा का मुंह था और पुनः बोला, "अन्नदाता!!"

जब महाराजा ने फिर मूढ़ा घुमाकर मुंह मोड लिया तो घनश्याम ने भी उधर ही जाकर अर्ज की, "अन्नदाता, मनैं तो अब माफी दी जाय, मैं तो उदयपुर ही चल्यो जाऊं लो, मनै माफी....."

महाराजा ने अब हाथ से घनश्याम को अपने पास बुलाया। जाने पर वह देखता है कि महाराजा की आंखों से आंसुओं की धार चलकर उसकी दाढ़ी को भिगो रही है। रुंधे गले से उस राजा ने अपने इस रुष्ट खवास की आंखों में आंखे डालकर कहा, "मैं माफी देऊं, जी नै भी देऊं, मैं ही माफी देऊं! थे कदे मनैं माफी कोनै दे सको? कदे तो थे भी मनै माफी देबो करो!!"

घनश्याम कहना तो बहुत कुछ चाहता था, लेकिन अपने रात के हुक्म पर पश्चाताप करने वाले महाराजा को ऐसे भाव-विह्वल देखकर अब उसे कुछ भी कहना अनावश्यक लगा। अपने स्वामी की ग्लानि और आंखों मे आंसू देखकर सेवक की आंखें भी सजल हो गई, गला भर आया और वह यह कहता हुआ वापस हो गया कि, "अब कांई भी कोनैं कहूं, अन्नदाता, कांई भी कोनैं करूं !"

सवाई जगतसिंह के समय में रोड़ाराम खवास भी प्रधानमन्त्री के पद तक पहुंचा था और जाति में दर्जी होने के कारण उसे लोग तब 'गुई-शमशेर गज बहादुर खवास रोड़ाराम' कहते थे। जयपुर के निकट वर्तमान दुर्गापुरा गांव पहले रोड़ाराम की जागीर में होने के कारण रोड़पुरा ही कहलाता था। महाराजा माधोसिंह का विश्वस्त और मर्जीदान खवास बालाबख्श रोड़ाराम का ही वंशज था और मन्त्री या मुसाहिब न होते हुए भी वह उस काल में महाराजा से अपनी निकटता के कारण इतना शहजोर हो गया था कि हर महकमे और हर इजलास में 'हुक्म श्रीजी, जबानी खवास बालाबख्श, मारफत लाला हरिनारायण, बजरिये ढलैत......' चलता था।

महाराजा रामसिंह के समय में रियासत के हर महकमे का सुधार किया गया था। जब यह देखा गया कि बहुत-से लोग पड़े-पड़े मुफ्त में खानगी (निर्वाह) की पैतृक जागीरों का उपयोग करते हैं और कुछ काम नहीं करते तो उनसे नाममात्र की ही सही, नौकरी लेना शुरू किया गया। रोजीनदारों (दैनिक वेतन भोगियों) की विविध महकमों में व अन्य जागीर उपभोक्ताओं की हाजरी खवास-चेलों के साथ ही होने लगी और वे महाराजा के मौखिक आदेशों का पालन करने लगे।

महाराजा माधोसिंह (द्वि.) के समय में बेड़ा खवास-चेलान की महत्ता खूब बढ़ गयी थी। खवास बालाबख्श तो नाक का बाल बन ही गया था और राज-काज के हालात पर नजर रखने के लिए इस महाराजा ने हर अहमियत के महकमे और अदालतों तक में एक-एक चेला तैनात कर दिया था। यह चेला इजलास में प्रेक्षक की तरह बैठा रह कर हर कार्रवाई और हर फैसले पर नजर रखता और जैसा भी जायजा लेता, उसकी रिपोर्ट महाराजा को पहुंचाता। इससे हाकिम और अहलकार सभी सशंकित रहते थे, क्योंकि दफ्तरों-कचेहरियों में चलने वाली रिश्वतखोरी और दूसरी अनियमितताओं के समाचार तत्काल महाराजा के पास पहुंच जाते थे।

महाराजा रामसिंह का विश्वास किशनलाल चेले पर बहुत था। यह अग्रवाल वैश्य महाराजा की खासा कोटड़ी का प्रभारी था। किशनलाल का दामाद गौरीशंकर आगरा का निवासी और सुशिक्षित था। इसे भी बेड़ा चेलान में रखा गया और वह महाराजा रामसिंह के 'कमरे' का प्रभारी बना। माधोसिंह के समय में किशनलाल का पुत्र रूपनारायण भी बड़ी हैसियत का आदमी था जो महाराजा के साथ 1902 में इंग्लैण्ड भी गया था। चेलों की तत्कालीन हैसियत का अनुमान उन हवेलियों को देखकर किया जा सकता है जो आज भी नगर-प्रासाद के चेलों के मोहल्ले में खड़ी हैं।

कपड़द्वारा में उपलब्ध कागजात से पता चलता है कि खवासों को अपेक्षाकृत बड़ी जागीर मिलती थी, जबकि चेलों को नकद वेतन अधिक दिया जाता था। इन लोगों को दी गई जागीरों के पट्टों से जाहिर है कि राजा के इन व्यक्तिगत अनुचरों को उनके कपड़ा, पेटिया, लोई और चाकर के खर्च के आधार पर जागीर मिलती थी। इसका मतलब यह है कि पोशाक (कपड़ा), भोजन (पेटिया), जाड़ों में ओढ़ने की लोई या कम्बल और अपने निजी नौकर (चाकर) का खर्च चलाने लायक जागीर मिलती थी। किसी-किसी को 'पातल' या प्रतिदिन के भोजन का अनुदान भी दिया जाता था और कुछ खवास-चेलों को घोड़ी (सवारी) रखने को भी जागीर के रूप में ही अनुदान मिलता था। आठ से दस हजार रुपये सालाना की जागीरें कइयों को थी।

महाराजा माधोसिंह के जमाने में जिन तरुण लोगों को खवास-चेलान के प्रशिक्षण के लिए रखा जाता था, उन्हें 'छोरा' (छोकरा) कहा जाता था। ये छोरे ही आगे चलकर खवास और चेले भी बनते थे। प्रसिद्ध है कि प्रति सायंकाल ये 'छोरे' महाराजा को हाजरी देते थे तो शहर में अपने-अपने गली-मोहल्लों के समाचार उन्हें बताते थे। यों इन छोरों से गप्प लड़ाते-लड़ाते ही महाराजा को अपनी राजधानी के घटनाचक्र और जन-प्रतिक्रियाओं की पूरी जानकारी हो जाती थी।

राजा के महल में खास चौकी— जागीरदारों का पहरा- पहली रक्षा पंक्ति की तरह रहता था। फिर खवास-चेलान रहते थे और नाकों पर ढलैत-चोबदार तैनात होते थे। बाहर ड्योढियों पर पुरबिये, हरकारे, बरकंदाज आदि रहते थे। पूर्बियों की ड्योढ़ी इसका उदाहरण है। चौकड़ी सरहद में महलों के बाहर और जलेब चौक में जलेबदारों का पहरा होता था, जो इस क्षेत्र की शान्ति-व्यवस्था बनाये रखने को तैनात रहते थे।

महाराजा माधोसिंह ने अपने शासन के बाद के वर्षों में अपनी सुरक्षा के लिये खास चौकी जागीरदारों की आवश्यकता नहीं समझी और उनकी जगह 'रिसाला कला' के डीलों व सिपाहियों को नियुक्त किया। तब से राजा के निकट तो खवास-चेले ही रहते थे, किन्तु चन्द्रमहल के नाके, रिधसिध पोल, गजपोल आदि बाहर के नाकों पर ये डील खड़े रहते थे। ये प्राय सभी राजपूत और दाढ़ीवाले होते थे। जाड़ों में वे काली शेरवानी, लाल कमरबंद, लाल पगड़ी, सफेद पायजामा और काले जूते पहनते और गर्मियों में शेरवानी काली के बजाय सफेद होती।

नगर-प्रासाद या चौकड़ी सरहद में नगर परिषद का कोई दखल नहीं था और जलेबदार ही इस बात की देखरेख करते थे कि किसी ने अनुचित और अवैध निर्माण तो नहीं कर लिया। मनमाने निर्माण-कार्यों की प्रवृत्ति इस नगर में आजादी के बाद ही बढ़ी है। रियासती जमाने में इसका नियंत्रण और नियमन कड़ाई के साथ नियमानुसार किया जाता था। फिर चौकड़ी सरहद तो राज-दरबार और रनिवासों की चौकड़ी थी। अब तो अतिक्रमण और अवैध निर्माण के मामले में चौकड़ी सरहद का भी बुरा हाल है।

खवासों और चेलों के सम्बन्ध में यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि वे महाराजा के निजी सेवक और अनुचर ही नहीं थे, उनके परम विश्वासपात्र भी थे। शायद इसीलिये तरुण महाराजा जयसिंह तृतीय पर कड़ी निगरानी रखने वाले तत्कालीन स्वार्थी मन्त्री संघी झूंथाराम ने अपनी पूर्व अनुमति के बिना खवास-चेलों के भी महाराजा से मिलने पर रोक लगा दी थी। चेलों की निष्ठा और विश्वासपात्रता को संदिग्ध करने वाली एक घटना जयपुर के इतिहास में मिलती है। वह है जयसिंह तृतीय की विमाता, माजी राठौड़जी के कामदार पौजूराम की हत्या। जनानी ड्योढ़ी के प्रसंग में आगे लिखा गया है कि इस कामदार को ड्योढ़ी के प्रांगण में ही हणवन्त चेला ने मौत के घाट उतार दिया था और इसके बाद ही गवर्नर-जनरल ने रियासत के आन्तरिक शासन-प्रबन्ध में हस्तक्षेप करना 'जयपुर दरबार और जनता के हित में' उचित मानकर कैप्टेन स्टुअर्ट को यहां पहला पोलीटिकल एजेंट या रेजीडेंट बनाकर भेजा था। एक और उदाहरण खवास बालाबख्श का है जिस पर कपड़द्वारा में गबन के आरोप में मुकदमा चला था, किन्तु उसके स्वामी महाराजा माधोसिंह की मृत्यु के बाद।

खवास लोगों को ऐसे कामों का दायित्व भी सौंपा जाता था जो स्वयं महाराजा के करने के होते थे। उदाहरण के लिए लेखक को आगरा विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार स्वर्गीय श्यामसुन्दर शर्मा के पिता गोपीनाथ याद आते हैं जो इस शहर में और शहर के आस-पास के मन्दिरों के दर्शन ही करते फिरते थे। जयपुर तो मंदिरों का नगर है। यहां एक हजार से ऊपर मंदिर बताये जाते हैं। फिर आमेर, घाट, गलता और नगर के बाहर के मंदिरों को मिलाकर तो यह संख्या और बढ़ी हो जाती है। महाराजा कब इन सब मन्दिरों में पहुंच सकते थे? इसलिए एक आसामी इस बात की होती थी कि महाराजा की ओर से 'स्थानापन्न दर्शनार्थी' रहे। जिन गोपीनाथ की यहां चर्चा की गई है, वे प्रतिदिन महाराजा की ओर से मन्दिरों के दर्शन करते और उनकी परिक्रमा लगाते थे।

स्थानापन्न दर्शनार्थी की तरह प्रतिदिन चन्द्रमहल में गोविन्ददेवजी के मन्दिर तक महाराजा की ओर से चंवर दण्डवत् करने की भी एक आसामी थी और जयपुर के सार्वजनिक सरदार और हरफनमौला रईस पुरोहित

खवास-चेले महाराजा के लिए उनके अपने ही आदमी थे, अपने घर के आदमी, स्वजन।

बेड़ा खवास-चेलान 1949 में राजस्थान बन जाने तक कायम था। 1952 में जब जागीरों का पुनर्ग्रहण हुआ और खवास-चेलों की खानगी जागीरें भी जाने लगीं तो सरकार ने मामूली नौकर समझकर उनकी जागीरों का मुआवजा न देने की तजवीज कर दी, जबकि अन्य जागीरदारों को मुआवजा देने का प्रावधान था। अपने साथ राजाओं के विशेष व्यवहार के आधार पर उन्होंने अनेक आवेदन और ज्ञापन दिये। जयपुर के हि भूतपूर्व महाराजा और राजस्थान के राजप्रमुख को एक आवेदन में खवास-चेलों की ओर से कहा गया कि खवास-चेलों की हैसियत वही है, जो खास चौकी और ताजीमी सरदारों की है। उन्हें जो भी जागीरें राज ने दी थीं वे 'तनखादारी' में नहीं दी थी और ये जागीरें किसी भी कानून या अधिकार से वापस नहीं ली जा सकतीं। वे तो उस निष्ठा और समर्पण का प्रतिदान था जो खवास-चेले महाराजाओं के प्रति रखते आये हैं। अत. उन्हें 'तनखादार' की हैसियत देना उनके विशेषाधिकारों का हनन है और ऐसे आदेश को वापस लिया जाना चाहिये।

उनकी जागीरें न लेने की मांग तो इस जमाने में कैसे स्वीकार हो सकती थी, उनको मुआवजे दिये गये और जयपुर रियासत के साथ ही बेड़ा खवास-चेलान भी इतिहास के गर्भ में समा गया।

बेड़ा खवास-चेलान के साथ नगर-प्रासाद में कभी 'बेड़ा अरबियान' भी था जिसमें अरबी सिपाही नौकर थे। बाद में और लोग भी इसमें नियुक्ति पाने लगे। इस बेड़े का बाजा या बैण्ड विशिष्ट था। चाकरों में 'अहदी' भी होते थे। जैसा नाम से ही प्रकट है, ये लोग पड़े रहते थे और बिना किसी खास काम-काज के मुफ्त की खाते थे। कभी किसी से कोई बकाया की वसूली करनी होती या कोई और बात मनवानी होती तो हुक्म हो जाता कि अमुक के दो अहदी भेज दो और अमुक के चार। ये अहदी फिर वहां जाकर पड़ रहते और जिसके भी जाते उसके लिए भार-स्वरूप हो जाते, क्योंकि जब तक वांछित काम न हो जाता, ये वहीं पड़े रहते और वहीं खाते-पीते। अहदियों के नाम भी अजीबोगरीब होते थे, जैसे 'मेंढा,' 'मोर', 'बन्दर' आदि आदि। 'मेंढा' बड़ा मजबूत माथे वाला 'अहदी' था जो जरूरत पडने पर अपनी खोपड़ी से भी भिड़ सकता था।

फिर ड्योढी में ढलैत (ढाल धारण करने वाले संदेशवाहक) और चोबदार (डंडा या छड़ लेकर पहरा देने वाले) भी थे। इनमें पूरबिया (पूर्व की ओर से आने वाले रक्षक, मुबारक महल के दक्षिणी प्रवेशद्वार को पूरबियों की ड्योढी ही कहते हैं), खास बरदार (बन्दूकधारी रक्षक), हरकारे (हर काम करने में होशियार) और बरकंदाज (बिजली की गति से दौड़ कर संदेशों का आदान-प्रदान करने वाले) भी शामिल थे। इन सब सेवकों-अनुचरों के चौकी-पहरे की स्थिति इस प्रकार समझी जा सकती है:
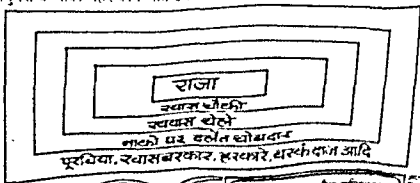
10.जनानी ड्योढ़ी

सैकड़ों महिलाओं से आबाद रहने वाला जयपुर के राजाओं का अन्तःपुर सिरह ड्योढ़ी और चन्द्रमहल के उस पार, ऊंची दीवारों से घिरा, किन्तु भीतर बड़े-बड़े चौकों, दालानों और हवेलियों से भरापूरा है। ये हवेलियां अलग-अलग रावळे हुआ करती थीं और उनमें रहने वाली माजियों, महारानियों, पासवानों या पड़दायतों के नाम से ही जानी जाती थीं। यह पर्दानशीनों की अपनी नगरी थी। जयपुर जैसे लम्बे-चौड़े नगर में जैसे नगर-प्रासाद सारे नगर का सातवां भाग घेरने वाली एक अन्तरंग नगरी है, वैसे ही नगर-प्रासाद की अन्तरंग उप-नगरी है जनानी ड्योढ़ी, जिसमें पुरुष संज्ञाधारी बच्चे तक का प्रवेश निषिद्ध रहा है, आज तक निषिद्ध है।

जब तक राजतंत्र था और राजा-रानी अपने-अपने राज्यों के स्वामी थे, रनिवास या रावले भी अपना महत्त्व रखते थे। जयपुर में ही हजारों लोगों की आजीविका का साधन जनानी ड्योढ़ी हुआ करती थी। हर माजी, महारानी, पासवान या पड़दायत की अपनी जागीर होती, अपनी जायदाद होती, अपने महल और मन्दिर होते। इनकी व्यवस्था और देखरेख के लिए प्रत्येक के अपने कामदार, अहलकार और शागिर्दपेशा लोग होते। बाहर जैसे मर्दाना दरबार होता, जनानी ड्योढ़ी में जनाना दरबार जुड़ता। सामन्तों, हाकिम-ओहदेदारों की औरतें अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार इस दरबार में बैठक पातीं। राजा की जगह यहां माजी या बड़ी महारानी मसनद पर होतीं। गाने-बजाने, नाच और नाटक तक की महफिलें होतीं जिनमें जनानी ड्योढ़ी की बाइयां- बादलियां 'अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करतीं।'

जनाने दरबारों और महफिलों के लिए जनानी ड्योढ़ी में अलग से दीवानखाना बना हुआ है। अपनी सालगिरह और दूसरे मुबारक मौकों पर राजा भी जनानी ड्योढ़ी में जाते। यदि कोई माजी होतीं तो राजा उनके सामने 'गोडी नवाकर' गद्दी के सिरे पर बैठते, मां-बेटे का अदब निभाते। माजी न होकर यदि महारानी होती तो राजा उनके बराबर वह जगह लेते जो पत्नी के साथ पति को लेनी चाहिए।

जयपुर के राजदरबार की परम्परायें और मर्यादायें रामायण की अयोध्या के समान बांधी गई थीं। इन परम्पराओं में सवाई जयसिंह की दिलचस्पी तो सुविदित है ही, उससे बहुत पहले राजा मानसिंह की भी कम नहीं थी। अकबर के प्रधान सेनापति और प्रशासक इस राजा की लगभग दो दर्जन रानियां गिनाई जाती हैं। फिर खवासें या पासवानें भी कई रही होंगी। उसके अन्तःपुर का अनुमान उस जनाने महल से लगाया जा सकता है जो आमेर के महलों का सबसे पुराना भाग है। उसके कोनों पर बनी छतरियां और गुमटियां भी फतहपुर सीकरी की याद दिलाती हैं। मानसिंह के समय (1589-1614 ई.) में ही मुगल दरबार के साथ

रामप्रताप के छोटे पुत्र उदयनारायण को इस पर नियुक्त किया गया था। उदयनारायण अब इस दुनिया में
रहे, किन्तु वे लेखक को बताते थे कि जिन दिनों वे कनक दण्डवत् लगाते थे, शरीर से बड़े अच्छे हो गये
प्रतिदिन नियत समय पर गोविन्ददेवजी के मन्दिर जाकर वे स्नान करते और पीताम्बर धारण कर दण्ड
लगाते। यह व्यायाम था और दुग्ध-पान के लिए राज से ही गाय मिली हुई थी, अतः स्वास्थ्य ब
स्वाभाविक था।

जयपुर के राजाओं का एक नित्य नियम यह था कि वे प्रातःकाल साढ़े चौसठ रुपये का दान करते थे।
राजा की आय का एक अंश था जो नहीं कहा जा सकता कि किस आधार पर निर्धारित किया गया था। रा
हाथ लगाने के बाद यह रकम प्रतिदिन रामगंज बाजार में नीलगरों के नले पर रहने वाले गंगासहाय बहुर
दी जाती थी। एक रथ इस खवास के तैनात था जिसमें बैठकर बहुरा कभी इस चौकड़ी तो कभी उस चौक
निकल जाते और उन्हें जो भूखे, गरीब और मोहताज मिलते, उनमें यह रकम बांट आते। यह भी महार
माधोसिंह (1880-1922 ई.) के जमाने की बात है।

महल के इन सभी नौकरों का एक-एक 'पुरा' (दल) महाराजा की सवारी में भी चलता था। जलेब
लोग एक बड़ा रस्सा लिये चलते थे जिससे प्रत्येक विभाग की दूरी कायम रहती थी। इसे 'लैन डोरी' कहते

इनके अतिरिक्त महल में चहारिया-फराशों का बेड़ा और मशालची तथा बेलदार भी रहते थे जो अ
नाम के अनुरूप ही काम अंजाम देते थे।

राजमहल में नौकरी देने के कारण ये लोग उस जमाने में अपने-अपने समाज में बड़े प्रतिष्ठित माने
थे।

श्री रानी चौहानि है, रानिनु की सिरमौर।।2।।

....

....

चौहानी रानी लता, राम रूप फल फूल।
खगमग मधुकर वृंद सब, परे रहौ गहि मूल।।[9]

सवाई जयसिंह की रानी और ईश्वरीसिंह की माता खीचणजी की भी धार्मिक ग्रन्थों में रुचि थी। पोथीखाने में दो पाण्डुलिपियां है जो उसी के लिए लिखकर तैयार की गई थीं। ये है— 1. पदसंग्रह, रसिक प्रिया और रामचन्द्रिका तथा 2. भागवत भाषा। ईश्वरीसिंह ने कुल सात वर्ष राज्य किया, फिर भी उसके नौ रानियां थी और ग्यारह पड़दायतें उसकी चिता में जलकर सती हुई थीं।

ईश्वरीसिंह के सौतेले भाई माधोसिंह प्रथम के समय का "जनाना मजलिस" का एक चित्र सूरतखाने में उपलब्ध है जिससे तत्कालीन जनानी ड्योढ़ी का माहौल सामने आ जाता है। इस राजा के छह रानियां थी और चार पड़दायतें उसके साथ सती हुई थीं। माधोसिंह के बाद कोई 70-75 साल का समय राजस्थान और विशेषतः जयपुर के लिए बड़ा बुरा था। राजमहलों में आये दिन छल-कपट और षड़यंत्र-कुचक्र चलते और पर्दे के पीछे रहने वाली जनानी ड्योढ़ी प्रायः इनका केन्द्र रहती। इन सत्तर वर्षों में बार-बार जयपुर की हुकूमत की बागडोर जनानी ड्योढ़ी की औरतों के हाथ में गई और जैसी खींचतान चली उसमें राज्य की शासन व्यवस्था और अर्थ-तन्त्र चौपट हो गये। माजियों और महारानियों के कामदार और दूसरे मुंह लगे लोगों की खूब बन आई और दासी-पत्रियां या बांदियां तक 'बडारण' और 'राज-बडारण' बनकर इतनी शक्तिशाली हो गईं कि मुसाहिब भी उनके मर्जीदान होने लगे और मनमानी करने लगे।

यह सिलसिला 1767 में आरम्भ हुआ जब पांच साल का बालक पृथ्वीसिंह या पिरथीसिंह माधोसिंह प्रथम का उत्तराधिकारी और राजा बना। इस बालक राजा की अभिभावक थी उसकी सौतेली मां[10] चूंडावतजी, जो मेवाड़ में देवगढ़ के राव की बेटी थीं। राज-काज के साथ बालक की सुरक्षा और पालन-पोषण के लिये भी वही उत्तरदायी थी। बेटी का यह इकबाल बढ़ा तो बाप, राव जसवन्तसिंह भी देवगढ़ से यहा आ गया और राज-काज में इस पराये के दखल ने अन्य सामन्तों-जागीरदारों को नाराज कर दिया। कई गुट बन गये और इन धड़ों में बड़ी कशमकश चलने लगी।

एक ओर माजी चूंडावतजी और उसके पिता राव जसवंतसिंह मंत्रियों को अपने इशारे पर चलाने तो दूसरी ओर चौमू-सामोद के नाथावत, झिलाय के राजावत, मनोहरपुर के शेखावत और माचेड़ी के नरूका ठाकुर कभी एक मन्त्री को दूसरे के और कभी सबके सब मन्त्रियों को राव जसवन्तसिंह के विरुद्ध उकसाते। मन्त्रियों में थे बोहरा खुशालीराम और फीरोज फीलवान। बोहरा खुशालीराम माधोसिंह का जल धारी था, किन्तु उसकी सूझ-बूझ और विवेक से प्रभावित होकर माधोसिंह ने उसे मन्त्री पद तक पहुंचा दिया था। ऐसी ही कैफियत हाथी हांकने वाले फीरोज फीलवान की थी। सरदारों को ऐसे साधारण जन इन बड़े ओहदों पर कैसे सुहाते? वे तो इन ओहदों पर अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे। इसलिये पर्दे के पीछे से आने वाले

9 लिटरेरी हेरिटेज ऑफ दि रूलर्स ऑफ आमेर एण्ड जयपुर से उद्धृत।

10 [illegible] का इतिहास (हस्तलिखित)। [illegible] है कि [illegible] और पृथ्वीसिंह व प्रतापसिंह की [illegible] थी।

रहेगा और इस युद्ध से लौट कर वह सबसे पहले मेवाड़ी या सीसोदिया रानी के महल में ही विश्राम करेगा।[6]

इन शर्तों ने भावी राजनीतिक घटनाचक्र को बहुत प्रभावित किया। यहां इनके औचित्य या अनौचित्य पर विचार करना अभीष्ट नहीं, प्रयोजन केवल यह बताना ही है कि रनिवास में रानियों की स्थिति को लेकर कैसी कशमकश चला करती थी और किस प्रकार रानियां अपनी-अपनी हैसियत से सत्ता-संतुलन को इधर-उधर करा देती थीं।

"जनानी ड्योढी की रानियां-महारानियां जहां संगीत, नृत्य, वादन, चित्रकला और काव्य-इतिहास की ज्ञाता होती थीं, वहां अश्व-संचालन, शस्त्र शिक्षा आदि साहसपूर्ण कलाओं में भी निपुण होती थीं। वे राजमहलों का शृंगार और राजा-महाराजा की भोग्य सामग्री मात्र नहीं होती थीं। युद्ध, विग्रह आदि संकटकाल में वे अपनी जनानी सेना संगठित कर किलों के मोर्चे संभालती थीं। अपने स्वामी को कुल-गौरव की रक्षा के लिये प्रेरित करती थीं। संधि-विग्रह के समय महत्वपूर्ण मंत्रणाओं में भाग लेती थीं और शान्ति-काल में ताल-तड़ाग, कूप-वापिकाएं और मन्दिर-पांथशालाओं का निर्माण कर जनोपयोगी कार्य करती थीं। निराश्रय, निर्धन और गरीब कन्याओं के विवाह आदि में अर्थदान करती थीं। अपने पति अथवा पुत्र के युद्ध में उलझे होने पर अथवा सुदूर प्रान्तों में आवास करने के दिनों में पीछे राज्य-कार्य को सुव्यवस्थित रूप में संचालित रखने के लिए प्रयत्नरत रहती थीं। पति की मृत्यु के पश्चात् अपने अवयस्क पुत्र नरेश के अभिभावक के रूप में राज-कर्मचारियों की नियुक्ति, पृथक्करण आदि कार्यों का संचालन भी करती थीं।"[7]

जयपुर की जनानी ड्योढी नगर-प्रासाद में चन्द्रमहल के साथ ही सवाई जयसिंह (उसके 27 रानियां थीं) ने बनवाई होगी और उसमें तब वह सब परम्परायें रही होंगी जो आमेर में ही स्थापित हो गई थीं। खेद है कि जयसिंह की जनानी ड्योढी का कोई ब्यौरा तो उपलब्ध नहीं है, किन्तु इतना निश्चित है कि पन्ना मियां उसकी जनानी ड्योढी का प्रभारी नादर या खोजा था। आमेर में पन्ना मिया का कुण्ड आज भी प्रसिद्ध है और दर्शनीय है। वह पहले मुगल हरम में था, किन्तु जयसिंह का पिता विष्णुसिंह उसे आमेर ले आया था।

बताया जाता है कि पन्ना मियां ने मथुरा-वृंदावन में जयपुर की ओर से अच्छी संपत्ति खरीदी थी। उसकी अपनी जायदाद भी काफी थी जो उसके मरने पर राज की ही हो गई। पोथीखाने के कई चित्रों पर पन्ना मियां की मुहर है। उसकी मृत्यु जयपुर में ही हुई थी और उसकी कब्र बास बदनपुरा की 'दरगाह कदम- रसूल' में है।

मिर्जा राजा जयसिंह के समय (1621-67 ई.) में "गंगा लहरी" और 'रस गंगाधर" के लेखक पण्डितराज जगन्नाथ का शिष्य और महाकवि बिहारीलाल का भानजा कुलपति मिश्र जनानी ड्योढी में कुछ खासखास परिचारिकाओं और सेविकाओं को पढ़ाता था। बहुराजी का तो कथन है कि बिहारी, कुलपति मिश्र और प्राणनाथ श्रोत्रिय की आरंभिक नियुक्तियां मिर्जा राजा की जनानी ड्योढी की महिलाओं को शिक्षा देने के लिए ही की गई थी।[8] महारानियों की सेविकाओं द्वारा नकल उतारी गई अनेक पाण्डुलिपियां पोथीखाने में उपलब्ध हैं। यह चलन माधोसिंह द्वितीय की मृत्यु (1922) तक कमोबेश चलता ही रहा। महाराजा रामसिंह प्रथम की एक पातुर मोहनराय द्वारा रचित "क्रीड़ा विनोद" नामक कृति भी मिलती है। रामसिंह की माता आनन्द कुंवर चौहानजी भी बड़ी सुसंस्कृत और विदुषी थीं। 'बिहारी सतसई' की एक खंडित प्रति में— जो रामसिंह के अध्ययन के लिए तैयार की गई थीं— इस रानी की प्रशस्ति इस प्रकार है—

6. सवाई जयसिंह, राजेन्द्र शंकर भट्ट, दिल्ली
7. राजस्थानी निबन्ध संग्रह, सी.डि. शोखावत, पृष्ठ 170
8. लिटरेरी हेरीटेज ऑफ दि रूलर्स ऑफ आमेर एंड जयपुर, 1976, पृष्ठ

आदेशों पर चलने वाले मंत्रियों के विरुद्ध षडयन्त्र रचे जाते रहे। प्रतापसिंह नरुका ने राव जसवंतसिंह को उखाड़कर ही दम लिया और फीरोज की उमी ने अततोगत्वा हत्या करादी। बोहरा खुशालीराम चार-चार बार कैद में डाला गया, लेकिन हर बार छूट कर वह अपने ओहदे पर बहाल होता रहा, यह उसके व्यक्तित्व और उसकी योग्यता का प्रमाण है।

कैकेयी ने तो भरत को राज दिलाने के खातिर रामचन्द्र को चौदह वर्षों का बनवास मांगकर ही अपना मनोरथ सफल माना था, किन्तु फतहसिंह चांपावत के अनुसार माजी चूडावतजी ने अपने तेरह- वर्षीय पुत्र प्रतापसिंह को राज दिलाने के लिये पन्द्रह साल के पृथ्वीसिंह को मौत के घाट ही उतरवा दिया, विष देकर।[11] कहा यह गया कि घोड़े से गिर पड़ने के कारण महाराजा की मृत्यु हुई है। पृथ्वीसिंह के भी तीन विवाह हुए थे।

रावले के बावले राज में जयपुर का राज-कोष वैसे ही रीता हो रहा था और जागीरदार-सामंत गांव पर गांव दबा रहे थे। उधर दिल्ली का बादशाह और मरहठे खिराज और चौथ वसूल करने के लिये जब-तब चढ आते थे। सभी को भरम यह था कि रुपये की जयपुर में कोई कमी नहीं है; मानसिंह प्रथम, मिर्जा राजा जयसिंह और सवाई जयसिंह ने बहुत धन जुटाया था, वह सब कहां गया? वास्तविकता यह थी कि जयपुर का खजाना यहां की आपसी लूट-खसोट और आपाधापी मे ही खाली हो रहा था।

जब पन्द्रह साल का राजा पृथ्वीसिंह मर या मारा गया और तेरह साल का उसका सौतेला भाई प्रतापसिंह गद्दी पर बैठा तो स्वाभाविक था कि राज रावळा ही करता। प्रतापसिंह की मा, माजी चूडावतजी बालक राजा की सरक्षक और अभिभावक बनी रही और माजी की मेहरबानी से फीलवान फीरोज बड़ा शहजोर हुआ। जो धड़े या गुट पृथ्वीसिंह के समय मे बने हुए थे, समय के अनुसार हेरफेर के साथ अब भी चल रहे थे। मुसाहिबों और ठाकुर-जागीरदारों की आपसी कशमकश इस हद तक पहुची थी कि अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये दिल्ली की शाही फौज तक को मुसाहिब ही उकसा कर खिराज वसूली के लिये हमला करवा देते थे। प्रतापसिंह की नाबालगी में हमादानखां का हमला इसी प्रकार के उकसावे का परिणाम था।[12] चारों ओर अराजकता, अनाचार और स्वार्थ-साधन का बोलबाला था।

प्रतापसिंह ने बड़े होकर अवश्य ही इस दशा से राज्य को उबारने की जी-तोड़ कोशिश की, लेकिन माचेड़ी के राव प्रतापसिंह नरुका ने जो आजादी हासिल करली थी, उसे खत्म करना अब टेढ़ी खीर था। नरुका ने जयपुर के कमजोर और फूट-परस्त शासन का लाभ उठाकर स्वतन्त्र अलवर रियासत की नीव डाली थी। लेकिन प्रतापसिंह लालसोट के निकट तुंगा की लडाई में महादजी सिंधिया जैसे नामवर मरहठा सेनापति को हराकर राजस्थान के वीरों और योद्धाओं में अपना नाम जुड़वाने मे सफल रहा और अपने पच्चीस वर्षों के शासन में उसने जयपुर को भी अनेक सुन्दर महलो और भव्य देवालयो से सजाया।

प्रतापसिंह का समय वह समय था जब राजा-रईस अपने वैभव को अपने रावले से आंकते थे। प्रतापसिंह भी इसका अपवाद कैसे रहता? वह था भी बड़ा सुन्दर, सहृदय और रसिक कवि। उसने जहां पोथीखाने और दूसरे कारखानों की सार-सभाल कराई, जनानी ड्योढ़ी को भी बढ़ाया और व्यवस्थित किया। जनानी ड्योढ़ी के भीतर गोवर्धननाथजी का मंदिर संभवतः प्रतापसिंह के समय में ही बना। इसकी सेवा-पूजा की अधिकारी आज तक महिलायें ही हैं।

गुणीजनखाने के कलावंत जनानी ड्योढ़ी में गान-विद्या, नृत्य-कला, नाट्य-कला आदि की शिक्षा देने जाते थे। सुलेखन की शिक्षा भी दी जाती थी। सवाई प्रतापसिंह (1778-1803 ई.) के समय की बाइयों की लिखी हुई अनेक पुस्तकें मिलती हैं जिनमें प्रायः भजन सग्रहीत हैं। यह नक्लें अधिकांश में चम्पा नामक एक

11 ए शॉर्ट हिस्ट्री आफ जयपुर, डा. कर्नलसिंह, पृष्ठ 87
12 वही, पृष्ठ 90

जनानी ड्योढ़ी का एक दृश्य। सामने प्रवेशद्वार और दोनों ओर गवाक्ष। यह चित्र राजकुमारी [illegible] के विवाह की शाम लिया गया था
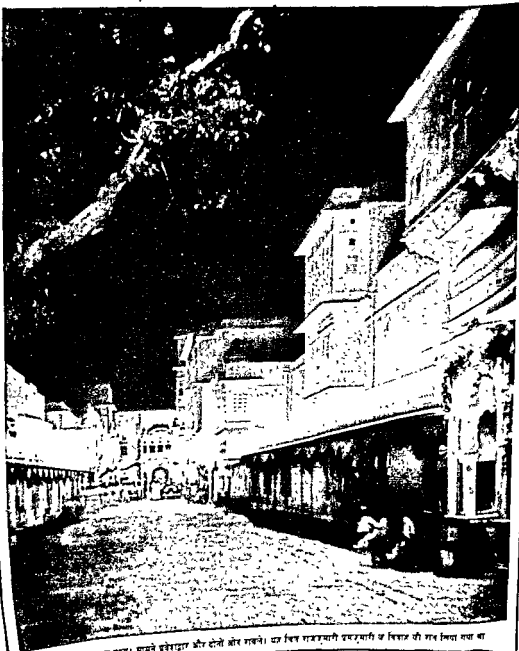
कैसे चार बेटे हुए थे, पर जीवित एक भी न रहा। एक रानी भटियाणी के गर्भ था और जनानी ड्योढ़ी में यह बात कोई जानता था और कोई नहीं। षड्यन्त्र यह किया गया कि नरवर के मोहनसिंह को मानसिंह के नाम से राजा बना दिया जाय। तत्कालीन राजपूताना के ए.जी.जी. सर डेविड ऑक्टरलोनी ने यद्यपि जगतसिंह के मरते ही अपना एक मुंशी राजमहल की गतिविधियों पर नजर रखने के लिए भेज दिया था पर ड्योढ़ी के बाहर के मुखिया मोहनराम ने इस मुंशी को भी फोड़ लिया और दो-एक बड़े जागीरदारों की मिली-भगत से मानसिंह को गद्दी-नशीन कर डाला। ए.जी.जी. के मुंशी की मुंशीगीरी भी ऐसी चली कि ब्रिटिश सरकार से भी मंजूरी का औपचारिक खरीता आ गया।

अब तो जनानी ड्योढ़ी में और बाहर सरदारों-जागीरदारों में भी बड़ी खलबली मची कि यह सब क्या हुआ और कैसे हो गया? यह तथ्य प्रकट किया गया कि महारानी भटियाणी सचमुच गर्भवती है। सामोद के रावल बैरीसाल ने बड़े-बड़े सरदारों की एक बैठक सरबता में बुलाई और यह तय किया गया कि अन्य रानियां और प्रमुख ठाकुरों की ठकुरानियां जाकर बतायें कि रानी सचमुच गर्भवती है या नहीं। यह जांच हुई और सभी उपस्थित सरदारों ने दस्तावेज लिखकर हस्ताक्षर किये कि यदि लड़का होगा तो वही "हमारा मालिक और जयपुर का महाराजा होगा।"

जयपुर को इस भटियाणी के पेट से तीसरा जयसिंह मिला और जगतसिंह की बाईस रानियों (अब माजियों) और चौबीस पड़दायतों से भरी जनानी ड्योढ़ी ने मोहन नाजर और उसके सहयोगियों के कुचक्र को विफल बना दिया। कोशिश तो बहुत की गई कि जब तक नवजात राजा बड़ा न हो जाय, नरवर के मानसिंह को ही राज करने दिया जाय, किन्तु सामोद के रावल बैरीसाल और चौमूं के ठाकुर कृष्णसिंह ने, जिनका अंग्रेजों से अच्छा वसीला था, यह पार न पड़ने दी। मानसिंह चन्द दिन ही राजा रहकर गद्दी से उतर गया और जयपुर की जनता जयसिंह के बड़े होने और राज-काज को सुधारने की बाट जोहने लगी।

यह आशा भी दुराशा में ही बदल कर रही। जयसिंह की मां भटियाणी थी और इस नाते शिशु राजा की ओर से राज के रथ की लगाम उसी के हाथ में गई। सबसे बड़ी माजी थी राठौड़जी, उसे भला यह कैसे सुहाता! वह नाराज होकर अपने पीहर जोधपुर चली गई। पीछे रही नवयुवती माजी भटियाणी और उसका मर्जीदान कामदार संघी झूंथाराम, जो दीवान या रेवेन्यू मिनिस्टर बना दिया गया था। प्रधानमंत्री वैसे रावल बैरीसाल था, पर उसकी चलती नहीं थी। उससे अधिक बोलबाला तो रूपा बडारण का था जो माजी की प्रधान सलाहकार थी। रूपा और संघी झूंथाराम की मिली-भगत ने माजी को बराबर बहकाये और भड़काये रखा और राजकोष का सफाया अवश्यंभावी होने लगा। जगतसिंह की ओर से 1818 ई. में रावल बैरीसाल ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ जो संधि की थी, उसके अनुसार कम्पनी सरकार को दी जाने वाली 8 लाख रुपये सालाना खिराज की रकम भी बकाया चलने लगी। बदइन्तजामी से राज्य की आय भी घटकर 20 से 30 लाख रुपये के बीच ही रह गई।

उन दिनों सारे शहर में जनानी ड्योढ़ी के षड्यंत्रों और घटनाओं की ही चर्चा रहने। माजी बड़ी राठौड़जी की यही इच्छा थी कि सामोद और चौमूं के नाथावत सरदार अपनी हैसियत और दबदबे का कुछ उपयोग करें और [illegible] (संघी झूंथाराम) और रूपा बडारण के चंगुल से माजी भटियाणी को निकालें। यह काम आसान नहीं था और रावल बैरीसाल तथा ठाकुर कृष्णसिंह चौमूं ने इंतजार और अनुकूल समय की प्रतीक्षा करना ही उचित समझा। किन्तु जब माजी राठौड़जी जोधपुर चली गई थी तब [illegible] राठौड़जी के कामदार और अपने [illegible] की ड्योढ़ी में ही हत्या करवा दी। इस पर बड़ा हल्ला मचा और कम्पनी सरकार को जयपुर के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप करने का [illegible] मिल गया। 1 मार्च, 1821 को सवाई जयसिंह की [illegible] "[illegible]" [illegible]

गुनीजन अजायबघर के निर्देशन में की गई थी। साहब का पिता गोविन्दराम भी एक मुसव्विर था पोथीखाने में काम करता था। यह सिलावटों के मोहल्ले में बद्रीनाथजी के मंदिर के पास रहता था। उल्लेखनीय बात यह है कि इन पिता-पुत्रों के मोहरे एकदम मिलते हैं और यह बताना कठिन है कि पिता की लिखावट कौन-सी है और पुत्र की कौन-सी !

प्रतापसिंह के बारह रानियां थीं, किन्तु दीदारबख्श नाम की भगतन या नर्तकी-वेश्या के प्रति उनकी विशेष आसक्ति थी। इस भगतन से मोहनराम और रतनराम नामक दो लड़के भी हुए। पासवानों में रूपराय, तम्बूरीराय, रानीसरस, रतिरूप राय, श्यामसरस और रसप्रवीण थीं, जिनमें से दो सती हुई थीं। रंगराय से धनभद्रराम नामक लड़का और मोहनकंवर नामक एक लड़की प्रतापसिंह को हुई थी।[13]

प्रतापसिंह के मरने के कुछ समय पूर्व ही एक मांजी ने एक दादी अथवा दासी को "राज बडारण" की उपाधि प्रदान की थी।[14] जनानी ड्योढ़ी में यह पहला अवसर था कि किसी दासी के प्रति कृपा-प्रदर्शन के लिए ऐसा तरीका अपनाया गया। फिर तो यह तरीका खूब चला और कुछ बडारणें बड़ी जबर्दस्त हुईं, जिन्होंने राज-काज में महारानियों और मांजियों से भी अधिक हस्तक्षेप किया।

प्रतापसिंह की दीदारबख्श भगतन की तरह उसके बेटे जगतसिंह (1803-1818ई.) की सर्वप्रिय प्रेयसी थी वेश्या रसकपूर जिसका रुतबा रानियों से भी बढ़ा-चढ़ा था।[15] सवाई जयसिंह ने दुनिया भर से पोथियां जुटाकर जो पुस्तकालय बनाया था, जगतसिंह ने उसका आधा हिस्सा पीनक में इस "आधे आमेर की रानी" को दे डाला।[16] रसकपूर क्या थी, अपने समय में जयपुर की नूरजहां थी, जो भरे बाजार हाथी के हौदे पर जगतसिंह के साथ सवार होकर भी निकली थी। जगतसिंह का प्रधानमन्त्री मिश्र शिवनारायण उसे "बाईजी" कह कर सम्बोधित करता। सभी सरदारों-जागीरदारों से कहा गया कि रसकपूर के प्रति वही सम्मान दिखाया जाय जो रानियों के प्रति दिखाया जाता है। राजपूत सरदारोंके लिए यह हद से गुजरने की बात थी और दूणी के राव चांदसिंह ने तो इसकी खुलकर अवहेलना की। यह ठाकुर ऐसे किसी दरबार या महफिल में नहीं जाता, जिसमें वह तवायफ मौजूद होती। अपनी चहेती के इस अपमान पर खीझकर जगतसिंह ने चांदसिंह पर उसकी जागीर की चार साल की आय का जुर्माना कर दिया, जो लगभग दो लाख रुपया होता था। इस पर अन्य जागीरदार भी बड़े रुष्ट और अप्रसन्न हुए और जगतसिंह को गद्दी से उतारने की योजना बनने लगी। जगतसिंह के सलाहकारों ने समय रहते राजा को सचेत कर रसकपूर को ड्योढ़ी के 'रस-विलास' से नाहरगढ़ के किले में पहुंचवाया जहां वह उम्र भर कैद रही। रसकपूर के निष्कासन और उसे कारावास में रखने में दूणी के राव और जगतसिंह के मंत्री दीनाराम बहुरा का बड़ा योग था।

जयपुर के इतिहास और नगर-पासाद की परम्पराओं से परिचित लोगों का कहना है कि महाराजा माधोसिंह तो मुफ्त में बदनाम हैं; वास्तव में असाधारण मर्दानगी तो जगतसिंह की थी और रसकपूर के साथ उसके इतने गाढ़े लगाव का भी यही रहस्य था। हाथ से बनी तस्वीरों में जगतसिंह के आकार-प्रकार को देखकर यह सही भी लगता है।

कुल पन्द्रह बरस और चार महीने राज कर जगतसिंह जब 1818 ई. में मरा तो उसके कोई पुत्र नहीं था।

---

13 व्रजनिधि ग्रंथावली, काशी, 1933, पृष्ठ 45-46 तथा मत्स्य देश का इतिहास (ह लि)

14 ए ब्रीफ हिस्ट्री आफ जयपुर, डा. फतहसिंह, पृष्ठ 45

15. मत्स्य देश का इतिहास के अनुसार 13 रानियां और 18 खवास पातुरें थीं जिनके नाम थे रूपरस, चैनराय, चन्दन बर्बा, केसर बर्बा, कमलनयन, सरसराय, नित विलास, रतिसरस, सुन्दर विलास, गोगा, जेठी, सुख समाज, प्रभाती, प्रवीणराय, कुनणी भगतण, रसकपूर भगतण, बजा बीबी, प्यारी प्रइायन और मगनराय।

16 टाड राजस्थान जिल्द 4 गो ना बहुरा का कहना है कि इस मर्जीदान तवायफ ने इस कृपा का लाभ नहीं उठाया। शायद उसे पुष्ट करने के लिए अन्य कीमती चीजों की सौगातें काफी थीं।

ामिल थे। इनमें आधे तो संघी के अपने आदमी थे, भाई-बेटे, भाणजे या दामाद, जो मुसाहिब, दीवान, ौजबख्शी, खजाची सब कुछ बने हुए थे। इनमें कभी कोई पकडा भी जाता तो दूसरा उसे तत्काल बचा. ना। यह राज जनता में तो सरासर बदनाम हो गया और लोगों ने दुखी होकर एक बार तो झूंथाराम का काम माम कर देने की भी ठानी। लेकिन संघ ऐसा जबर्दस्त था कि यह षडयंत्र रचने वाले ही पकडे गये। खेतडी के कील विजयसिंह और छह अन्य लोगों को इसके लिये सजा मिली।

जयसिंह ने किशोरावस्था से ही सौम्य और समझदार शासक के रूप में बडे होने का परिचय दिया। 1832 में रानी चन्द्रावतजी से उसका विवाह हुआ और अगले वर्ष उसकी माता माजी भटियाणी की मृत्यु हो गई। व तो जनानी ड्योढी में रूपा बडारण और भी शहजोर हो गयी। इसके पहले 1831 ई. में जयसिंह अजमेर ा चुका था। वहां वह उदयपुर के महाराणा और अनेक अंग्रेज अधिकारियों से मिला था। पुष्कर में स्नान करने े बाद वह कुछ अंग्रेजों को अपना मेहमान बनाकर जयपुर भी लाया था और उसकी यह हलचल संघी ूंथाराम और उसके सहयोगियों को नहीं सुहा रही थी। संघी और उसके संघ को भय था कि यह राजा जल्दी ही उनसे सब अधिकार छीन लेगा। उसने राजा पर बडी कडी निगरानी रखी। हर समय संघी के भेदिये छाया की तरह उसके पीछे लगे रहते। संघी की आज्ञा प्राप्त किये बिना कोई भी न राजा से मिल सकता था और न बात कर सकता था, ड्योढी के चेले और खवास तक नहीं, क्योंकि महलों में रूपां बडारण सब कुछ थी। राजा की सवारी या जुलूस तक में कोई सरदार या जागीरदार उससे बात नहीं करता था। ऐसा आतंक था संघी का।

संघी की नीयत के प्रति सामोद के रावल को अपने गांव बैठे भी बडी शंका और चिन्ता होने लगी थी कि हीं यह बेईमान अपने स्वार्थ-साधन के लिये राजा की जान न ले बैठे। रावल ने वास्तव में अंग्रेजों को इसकी ूचना भी दी, किन्तु जयसिंह के साथ होनी होकर ही रही। संघी और रूपां बडारण ने इस उदीयमान राजा के ून से अपने हाथ रंग लिये।

1834 ई. में बसन्त पंचमी का दिन था। शहर में राजा की सवारी निकली। एक हाथी पर जयसिंह और ूसरे पर खवासी में दूणी के राव जीवनसिंह चल रहे थे। दोनों की नजरें मिली तो महाराजा ने राव से कुछ कहा ार इतनी-सी बात होते ही संघी झूंथाराम को भय हो गया कि राजा अब उसके चंगुल से निकलना चाहता है। सी रात वह राजमहल में गया और किसी एकान्त कमरे में जयसिंह को बुलाकर उसके प्राण ले लिये। पंचमी ी सवारी देखे हुए जयपुर के निवासियों ने छठ और सप्तमी को अपने राजा को न देखा और न कोई बात सुनी, न्तु अष्टमी को सारा शहर यह सुनकर हतप्रभ रह गया कि महाराजा मर चुके हैं। संघी के संघ ने सारा काम डी सावधानी से किया था। जनश्रुति है कि महाराजा को किसी दासी ने जहर दिया और साथ ही शस्त्र प्रहार ी किया गया। खून से लथपथ महाराजा के शरीर को कनात में लपेट कर एक कोने में खड़ा कर दिया गया ौर बाद में कहा यह गया कि किसी गुप्त रोग से महाराजा मर गये।[8] गेटोर में तरुण महाराजा का ाह-संस्कार भी फौज का घेरा लगाकर किया गया, किन्तु क्रुद्ध भीड़ वहां पहुंच गई और संघी और उसके ादमियों पर पत्थरों की बौछार हुई। सारा शहर संघी और उसकी पूरी बिरादरी के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। नेक जैन मंदिर तोड़ डाले गये और कइयों में शिवलिंग स्थापित कर दिये गये। संघी अपने परिवार सहित ार दिन तक महलों में ही छिपा रहा, बाहर निकलने का उसे साहस तक न हुआ।

ब्रह्मपुरी के बंशीधर भट्ट ने जयपुर के इतिहास की इस दुखद घटना पर यह टप्पा अपने तमाशे में गाया ा:

पंचे ने तो पान खिलाया
छठ ने प्यासा चया।

---

8 जयपुर का इतिहास, हनुमान शर्मा, पृष्ठ 26।

स्थापना हुई और कैप्टेन जे. स्टीवर्ट सबसे पहला रेजीडेन्ट बनकर इसमें रहने लगा। इस नियुक्ति और राजधानी की हलचलों पर अंग्रेजों की बढ़ती हुई निगरानी ने माजी भटियाणी को बहुत कुढ़ा दिया।[17]

रावल बैरीसाल को रेजीडेन्ट अंग्रेजों का हिमायती और पक्षपाती मानता था और यह सही भी था। रेजीडेन्ट की पूरी कोशिश यह रहती थी कि सब अधिकार रावल बैरीसाल ही भोगे और जनाने के हस्तक्षेप से संघी झूंथाराम और उसके धड़े के दूसरे लोग जो उसी के सगे-सम्बन्धी थे, अनुचित लाभ न उठाने पावें।

रेजीडेन्ट ने अपने यहां आने के छह माह बाद ही सारा राज-काज रावल के अधिकार में कर दिया, किन्तु रावल बैरीसाल को ही यह संकोच रहा कि माजी की अवहेलना करना भी उचित नहीं होगा। इस मनोभाव ने रूपां बडारण और संघी झूंथाराम को अपनी खुराफातें जारी रखने का लायसेंस दे दिया। आखिर रेजीडेन्ट ने कंपनी सरकार की ओर से एक लम्बा-चौड़ा रुक्का लिखकर माजी को सूचित और सावधान किया कि जो कुछ ड्योढ़ी में हो रहा है, सरकार उससे अवगत है और शासन में खींचतान बंद होनी चाहिये। इस चेतावनी से माजी सहम गई।

माजी तो सहमी, किन्तु झूंथाराम और रूपां बडारण नहीं। आये दिन शिकवा-शिकायत, टंटे-बखेड़े चलते ही रहते और अंग्रेज रेजीडेन्ट इन छोटी-मोटी शिकायतों और बखेड़ों में कहां-कहां पड़ता! इससे रावल बैरीसाल कुढ़ कर 1825 ई. में जयपुर से विदा ले गया और सामोद ही रहने लगा। उसका भाई कृष्णसिंह भी जयपुर की फौज-पलटन का अपना अधिकार छोड़कर चौमूं जा बैठा। संघी झूंथाराम अब खुलकर खेलने लगा और भटियाणी की मंजूरी लेकर चौमूं और सामोद की जागीरें जब्त करने के उद्देश्य से उसने सेना को धावा बोलने का भी आदेश दे दिया। बांडी नदी के इस पार से चौमूं पर तोप के गोले चलाने में सफलता नहीं मिली और समीपवर्ती मोरीजा गांव के पहाड़ी किले को इस काम के लिये मांगा गया। किन्तु मोरीजा के ठाकुर ने चौमूं ठाकुर से अपने मन-मुटाव के बावजूद किला नहीं दिया। संघी और उसकी सेना विफल मनोरथ जयपुर लौट आयें।

इस बीच माजी राठौडजी भी जोधपुर से जयपुर आ गई और 1828 ई. में जब बालक जयसिंह नौ साल का हुआ तो जमुवा रामगढ़ में जमवा माता के यहां उसके जडूले (मुंडन) में सम्मिलित होने के लिए बड़ी होने के नाते उसी ने सामोद और चौमूं के सामंतों को रुक्का भेजा।

राजाओं को देखने के लिए रजवाड़ों की जनता की उत्कंठा वे सभी लोग जानते और मानते हैं जिन्होंने राजाओं और रजवाड़ों का माहौल देखा है। फिर जयसिंह तो कई सालों के इंतजार के बाद पहली बार जनाने महलों से निकल कर बाहर आया था। वह जमवा-रामगढ़ गया तो जयपुर में जबर्दस्त हुजूम हुआ। दूर-पास के गांवों से भी हजारों लोग शहर में राजा की सवारी देखने आये और बड़ी रेल-पेल मची। जय-जयकार के बीच जयसिंह नाम का जयपुर का यह तीसरा राजा जमवा माता के गया और वापस आया। रावले ने बालक राजा को बड़ी अनिच्छापूर्वक बाहर निकाला था और संघी झूंथाराम, जो अब राज्य का सर्वेसर्वा अधिकारी था, सशंक होकर इस जुलूस को देख रहा था कि यह बालक बड़ा हो रहा है और वह दिन दूर नहीं जब अपने राज्य की वह स्वयं देखभाल करने लगेगा।

जमवा माता के यहां से लौटने पर जयसिंह तृतीय संघी झूंथाराम और उसके संग के सदस्यों की आंख का कांटा बन गया। इस संघ में पूरे एक दर्जन स्वार्थी थे। स्वयं झूंथाराम के अलावा अमरचन्द, मन्नालाल शिवलाल, हुकमचन्द, [illegible] खां, [illegible] ठाकुर [illegible]सिंह, [illegible] का हनुमतसिंह, [illegible] शिवलाल, [illegible] [illegible]सिंह, [illegible] का श्यामसिंह, [illegible] और माजी की मर्जीदान रूपां बडारण इसमें [illegible]

17 [illegible]

... अन्यदार और दो अन्य चपरासी भी जान से गये। घबराये हुए ब्लेक ने अपनी जान बचाने के लिये
किशनपोल में एक मंदिर[19] के सहारे हाथी को खड़ा किया और फांद कर मंदिर में शरण ली, किन्तु मंदिर के
चौकीदारों ने भी उसे राजा का हत्यारा समझकर घसीट कर बाजार के बीच में ला पटका और काम तमाम क
दिया। मारने वालों में थे दो मीणा चौकीदार, दो मुसलमान और एक राजपूत रणजीतसिंह। इन सबक
तत्काल फांसी पर लटकाया गया और सारे कांड की बाकायदा जांच-पड़ताल शुरू हुई। जो कुछ हो चुका था
वह बड़ा गम्भीर और चिन्ताजनक था और इससे जनानी ड्योढ़ी में भी एक बार तो सन्नाटा छा गया।

जयपुर के पोलीटिकल एजेंट ब्रुक[20] ने लिखा है कि ब्लेक हत्याकांड के पीछे सभी गुट का यही उद्देश्य था
कि शहर में विद्रोह हो जायेगा तो ए.जी.जी. रावल बैरीसाल को बरखास्त करने के लिये विवश हो जायेगा और
फिर माजी चन्द्रावतजी की इच्छानुसार नये मुसाहिब बन सकेंगे जिनमें झूथाराम और उसके संगी-साथियो
की ही बन आयेगी। किन्तु यह पासा उल्टा पड़ा। जो जांच हुई, उससे सिद्ध हो गया कि दूर जेल में बैठे झूथाराम
और दीवान हुकमचन्द ही इस षड्यन्त्र के सूत्रधार थे। झूंथाराम के कुछ पत्र भी यह साबित करते थे।
बाकायदा मुकदमा चलाने के बाद झूथाराम, हुकमचंद, हिदायतुल्ला, साह शिवलाल और माणकचन्द को
दोषी पाया गया और इन सभी को फांसी की सजा सुनाई गई। कुछ अन्य लोगों को जिनमें फौज बख्शी
मुन्नालाल भी था, जेल भेजा गया। किन्तु इस दण्ड में गवर्नमेन्ट ने फेरबदल कर दिया। अन्तिम आदेश या
हुए कि केवल अमरचन्द और हिदायतुल्ला को फांसी पर लटकाया जाये, झूथाराम और हुकमचंद को चुनार के
किले में आजीवन कारावास में रखा जाये और अन्य लोगों को भिन्न-भिन्न अवधि की जेल की सजा दी जाय।

इन आदेशों का भी पूरा पालन नहीं हुआ। आदेश आने से पहले ही दौसा के किले में झूथाराम ने दम तोड़
दिया और जयपुर की जेल में हुकमचंद भी मर गया। अन्य लोगों ने जो सजा मिली थी, वह भोगी और
हिदायतुल्ला खां तथा अमरचंद को फांसी हो गई।

इस हत्याकांड, मुकदमे और दोषियों को सजा हो जाने से अंग्रेजों का ऐसा दबदबा बैठा कि माजी
चन्द्रावतजी और रावलजी ने कम्पनी सरकार के बकाया छब्बीस लाख रुपये तत्काल चुका देने में ही भल
माना। इससे रियासत की माली हालत बद से बदतर हो गई। सितंबर, 1839 में गवर्नर जनरल के आदेश
स नामक एक अंग्रेज अधिकारी जयपुर की चौपट अर्थ-व्यवस्था की जांच करने और सुधार के उपाय
जने के लिये यहां आया।

उसने आते ही समझ लिया कि राज के हाकिम अपने अलग-अलग धड़े बनाकर बैठे हैं। रावल शिवसिंह
रीसाल की मृत्यु के बाद उसके स्थान पर उसी का पुत्र) से माजी साहिबा राजी नहीं हैं और उसे निकालने या
लवाने पर आमादा हैं। माली हालत ऐसी खस्ता है कि सरकार को जो पांच लाख रुपये देने होते हैं उनमें से
तीन लाख साहूकारों से उधार लेकर दिये गये हैं। राज की आमदनी 30 लाख रुपये सालाना और खर्च 32
ह है।

रॉस के सुझाव पर सरकार ने ग्वालियर के रेजीडेंट कर्नल सदरलैण्ड को राजपूताना का ए.जी.जी.
कर भेजा और उसे जयपुर की हालत ठीक करने का भी अधिकार दिया। उसने यह तजवीज की कि कच्छ
रह जयपुर में भी पोलीटिकल एजेन्ट सरदारों की एक पंचायत की सलाह से राज-काज चलायें। इस पर
शिवसिंह ने भी सहमति दी। कर्नल सदरलैण्ड ड्योढ़ी में गया और पर्दे के उस पार खड़ी माजी
वनजी को इस तजवीज से अवगत कराया। कर्नल सदरलैण्ड माजी से जो कुछ पूछता था, उसका उत्तर
साहिबा की ओर से एक बडारण देती थी। जब माजी को बताया गया कि राज-काज में अब उनका कोई

[19] ...जी का मंदिर
[20] पोलीटिकल हिस्ट्री ऑफ जयपुर, 38

राज-...

सातें नै तो गाबा-गूबी,
आठें दाग लगाया।

जयसिंह तृतीय के चार रानियां थी।

जयपुर में तरुण महाराजा जयसिंह की हत्या और उसकी प्रतिक्रिया में नगर में भारी उपद्रव होने के समाचार मिलते ही ए.जी.जी. अजमेर से चलकर यहां आया और उसने सामोद के रावल वैरीसाल और चौमू से ठाकर लक्ष्मणसिंह को भी बुलवा भेजा। संघी झूंथाराम को जब पता चला कि सामोद और चौमू के सामन्त घाटी पर आकर डेरे किये हैं तो उसने अपना माल-असबाब और अनुचित रूप से जुटाया गया धन छकड़ों में भरवाया और भागने की तैयारी करने लगा। रावल वैरीसाल के आदमी पहले से ही चौकस थे। उन्होंने इन छकड़ों को आगे न जाने दिया और सारा माल जब्त कर लिया। फिर तो संघी के माल की तलाश हुई और कई लाख रुपया नकद तथा लाखों के जेवरात जो उसने शहर के विभिन्न सेठ-साहूकारों के पास अपने अमानती जमा करा रखे थे, जब्त कर लिये गये। जनानी ड्योढी में भी रूपां बडारण का छिपाया हुआ काफी माल बरामद किया गया।

ए.जी.जी. की मंजूरी लेकर रावल वैरीसाल ने संघी झूंथाराम को कुछ दिन तो नाहरगढ़ में कैद रखा और फिर दौसा के किले में भेज दिया। रूपां बडारण को भी इसी प्रकार पहले पुराने घाट में विद्याधर के बाग में रखा गया और फिर माधोराजपुरा के किले में भिजवा दिया गया।

यों यह दो कुजीव तो हटे, किन्तु राज-काज में जनानी ड्योढी का दखल यथावत् बना रहा। जयसिंह अपनी मृत्यु के समय छह माह के रामसिंह को छोड़ गया था। यही बालक बड़ा होकर ऐसा प्रतापी राजा हुआ कि जयपुर के इतिहास में अमर है। इस बालक के बड़े होने तक माजी चन्द्रावतजी रीजेन्ट या संरक्षक रहीं और विडम्बना यह थी कि इस युवा माजी को भी अपनी सास माजी भटियाणी के समान रावल से चिढ़ और संघी झूंथाराम तथा रूपां बडारण से ही प्यार था। संघी और रूपां को जेल भेजने के साथ ही रावल वैरीसाल को जब ए.जी.जी. ने रियासत का कर्ता-धर्ता बना दिया तो भीतर ड्योढी में और बाहर संघी के गुट के लोगों द्वारा फिर षड्यन्त्र होने लगे कि कैसे रावल से पिंड छूटे और संघी और उसके धड़े की बन आये! इसके लिये आवश्यक था कि माजी साहब ही खुद-मुख्तार रहें और रावल बैरीसाल को अयोग्य एवं अक्षम सिद्ध किया जाय।

30 जून, 1835 को ए.जी.जी. लाकेट अपने सहायक ब्लेक और दो सेक्रेटरियों के साथ रावल वैरीसाल को पूरे अधिकार देने और जनानी ड्योढी का "खरकसा" मिटाने के लिये ड्योढी में गये। अपना काम निपटाकर जब यह लोग वापस आने लगे तो छिपे हुए कुचक्रियों ने चौक में ही ए.जी.जी. पर तलवार का वार किया जिससे उसे तीन घाव आये। ए.जी.जी. के सहायक ब्लेक ने इस अपराधी को वहीं पकड लिया, खून में सनी उसकी तलवार छीन ली और उसके दोनों हाथ पीछे बांधकर जेल भेज दिया। ए.जी.जी. पालकी में बैठकर सही-सलामत रेजीडेंसी या माजी के बाग पहुच गया। दोनों सेक्रेटरी भी घोड़ों पर सवार होकर उसके पीछे-पीछे वहां पहुंच गये।

यह सब तो निकल गये, किन्तु ब्लेक पीछे ही रह गया। वह एक हाथी पर सवार होकर निकला तो खून से सनी नंगी तलवार उसके हाथ में ही थी। ड्योढी के आंगन में जो कुछ हुआ उसके बाद षड्यंत्रकारियों ने अफवाह यह फैला दी कि अंग्रेज ने शिशु राजा रामसिंह की हत्या कर डाली है। तेजी से आता हाथी और उस पर नंगी तलवार के साथ ब्लेक को देखकर लोगों ने ऐसा ही माना और रास्ते भर उस पर पत्थरों की बौछार हुई। ब्लेक के फीलवान ने शहर से बाहर निकलने की जी-तोड़ कोशिश की, किन्तु अजमेरी दरवाजे के दरवान हिदायतुल्ला खां ने दरवाजा बंद कर दिया और खोलने से साफ इंकार हो गया। जो चपरासी हाथी के साथ प्यादा भाग रहा था, मारा गया और फीलवान भी पहले घायल हुआ और फिर मर गया। एक

कथा:22

आये दूर देश ते पठाये थाल किंकर के, छाये छोड़ि काबुल लजाये निज खेत को।
आये कूदि अंदर, सिखाये भूप मंदिर में, बंदर लों मूढ़ तत्काल तोरि सेत को।।
चाह के सुनत चढ़े चौमूं नरनाह "चन्द", श्रोणित के रंग में रंगी है भूमि रेत को।
मेवा खाय मातें- मारे मुगल पठानन को, मेरे जान दिया था कलेया धूमकेतु को।।

किन्तु, "ठोवरयों" की लड़ाई के बाद राजकाज में जनानी ड्योढ़ी का हस्तक्षेप सदा के लिये समाप्त हो गया। 1843 ई. की जनवरी में मेजर थर्सबी या "तस्वीर साहब" चला गया और उसके स्थान पर मारवाड़ से मेजर लडलो या "लड्डू साहब"[23] रेजीडेंट बनकर जयपुर आया। इस अंग्रेज ने उन अनेक जनोपयोगी कामों की भूमिका बांधी जो बड़े होकर महाराजा रामसिंह ने आजीवन निभाई। लडलो ने सती की अमानवीय प्रथा को बंद करवाया और इस काम में झिलाय के राजावत ठाकुर भोपालसिंह से उसे पूरा समर्थन और सहयोग मिला। सारे रजवाड़ों में जयपुर ही तब ऐसी रियासत थी जहां सती होना कानूनी अपराध करार दिया गया। इससे पूर्व दास प्रथा का अंत 1839 में ही किया जा चुका था। राजपूतों में नवजात लड़कियों को मार डालने की परम्परा थी, उसे भी बंद किया गया। राज्य में अनेक स्थानों पर बांध, कुए और तालाब बनवाये गये, स्कूल खोले गये और सड़के बनाई गई। जयपुर शहर को पीने का पानी उपलब्ध कराने के लिये अमानी- शाह के नले पर पक्का बांध बनाया गया, किंतु यह कच्ची धरती पर बना था, इसलिए दस साल बाद टूट गया।

राज- काज के लिये जो पंचायत बनी हुई थी, उसका एक सरदार मर जाने पर रावल शिवसिंह और ठाकुर लक्ष्मणसिंह के हाथ में पूरी सत्ता आ गई और फौज बख्शी होने के नाते लक्ष्मणसिंह बड़ा ढीठ और दुराग्रही हो गया। उसके व्यवहार से रुष्ट होकर अन्य सरदार अपने- अपने ठिकानों पर चले गये। रेजीडेंट और ए.जी.जी. भी अब इनसे प्रसन्न नहीं थे, किंतु इन शक्ति- सम्पन्न सामन्तों को हटाना भी आसान नहीं था। सत्ता भ्रष्ट करती है और इन सामन्तों के विरुद्ध भी अब अपने मर्जीदानों को जागीर बख्श देने और राजकोष का रुपया हड़पने की शिकायतें होने लगी। राजपूताना के ए.जी.जी. के आदेश से नई पंचायत बनाई गई जिसे इन दोनों नाथावत सरदारों के विरुद्ध शिकायतों की जांच का अधिकार भी दिया गया। नतीजा यह निकला कि पिछले दस सालों में रावल और ठाकुर द्वारा दी गई बयासी हजार रुपये से अधिक की जागीरें खालसा की गई और लगभग पांच लाख रुपये के गांवों को इजारे देना भी गैर- कानूनी ठहराया गया। तीन लाख रुपये से अधिक का गबन भी निकला, किंतु समुचित प्रमाण के अभाव में लगभग आधी रकम बट्टे खाते लिखी गई। अब तो लक्ष्मणसिंह पंचायत से अलग होकर अपनी जागीर– चौमूं– रहने लगा और शिवसिंह भी जयपुर से विदा होकर सामोद चला गया।

जनानी ड्योढ़ी इन नाथावत सरदारों से कभी राजी नहीं रहती थी और इनके पतन से माजी चन्द्रावतजी, अन्य माजियां और बडारणें सचमुच खुश हुई। अंग्रेजों की कृपा से ही यह दोनों सामन्त जयपुर के राज-दरबार में सर्वेसर्वा बने हुए थे और अब उनके कोप-भाजन हो जाने पर जनानी ड्योढ़ी स्वतः ही अंग्रेजों की हिमायती बन गई। चालाक रूपा बडारण को यह समझने में देर न लगी कि यही उपयुक्त अवसर है जब अपनी कारगुजारी से वह पिछली सारी बदनामी को धो सकती है। नेकनामी कमाने की हविश में उसने उस खजाने का पता दे दिया जो संघी झूंथाराम ने जनानी ड्योढ़ी में छिपाया था। कुल छह लाख रुपये थे जो राज को उधार देने वाले साहूकारों को चुका दिये गये। इससे राज का कर्जा नौ लाख से घटकर तीन लाख ही रह गया।

इस कर्जे को चुकाने के लिए पंचायत ने राज के खर्चे में सत्तर हजार रुपये सालाना की किफायत की थी

---

22 जयपुर का इतिहास, हनुमान शर्मा, पृष्ठ 273

23 'लडलो' का अपभ्रंश। जैसे थर्सबी को 'तस्वीर साहब' [वैसे ही लडलो को 'लड्डू साहब' कहा जाता था]।

हाथ नहीं रहेगा, तो वह स्वभावतः बहुत खिन्न और अप्रसन्न हुई।

यह पंचायत बनी जिसमें रावल शिवसिंह और चौमू के ठाकुर लक्ष्मणसिंह के साथ झिलाय और बगरू के ठाकुर तथा लवाण का राजा शामिल थे। पोलीटिकल एजेन्ट कर्नल रॉस सर्वोच्च अधिकारी था। यह व्यवस्था भी थोड़े ही दिन चल पाई। माजी चन्द्रावतजी की शह से झूंथाराम गुट के अवशिष्ट लोगों ने डिग्गी ठाकुर मेघसिंह को भड़काया और वह रॉस को कोई चिट्ठी देने के बहाने पांच हजार आदमियों को लेकर जयपुर पर चढ़ आया। इस विद्रोह को दबाने के लिये शेखावाटी ब्रिगेड बुलाई गई और दूदू के पास डिग्गी के इस दल को तितर-बितर कर दिया गया।

जयपुर का रेजीडेंट जब थर्सबी बना तो इस अंग्रेज ने यहां के अस्त-व्यस्त राज को व्यवस्थित करने, खर्च घटाने तथा जनहित के कई काम कराने में बड़ी पहल की। गवर्नमेंट को दिये जाने वाले कर और कर्ज की रकम भी उसने घटवाई। जब वह आया तो रियासत की आय 23 लाख और व्यय 32 लाख का था। थर्सबी ने 25-28 लाख की आय और 20-22 लाख का खर्च बांधा। 40 लाख की बकाया जो सालों से चली आती थी, उसे भी माफ कराया। राजपूताना के ए.जी.जी. ने जब पुरानी बकाया को माफ करने और 8 लाख के बजाय 4 लाख ही कर के वसूल करने का आश्वासन देते हुए एक खरीता भेजा तो 1841 ई. में चन्द्रमहल के मुख्य निवास में एक दरबार हुआ और इसकी खुशी मनाते हुये सरदारों-जागीरदारों ने बालक महाराजा रामसिंह को नजरें पेश कीं। पर्दे के पीछे बैठी माजी चन्द्रावतजी भी इससे बड़ी खुश हुई।

लेकिन माजी चन्द्रावतजी की खुशी अधिक दिन नहीं टिक सकी। असली अधिकार अब अंग्रेज के हाथ में था और यह माजी को नहीं सुहाता था। राज-काज में हुये सुधार के कारण सब ओर "तस्वीर साहब"[21] के चर्चे थे और इससे माजी की कुढन और बढ़ती थी। 1843 में माजी साहिबा ने ताकत फिर से अपने हाथ में लेने के लिये आखिरी दाव फेंका। इस षड्यंत्र में भी माजी का भाई मानसिंह चन्द्रावत और पुराने झूंथाराम गुट के लोग ही शामिल थे।

हुआ यह कि रावल शिवसिंह को साथ लेकर थर्सबी खेतड़ी गया हुआ था और पीछे से ठाकुर लक्ष्मणसिंह उसका काम देख रहा था। एक रात जब शहर के मोरी-दरवाजे सब बंद हो चुके थे और लोग या तो सो गये थे या सोने जा रहे थे, अकस्मात् ही जलेब चौक में बंदूकों के फायर होने लगे। इन आवाजों से भयभीत नगर-निवासी इधर-उधर भागने लगे। संयोग से रावल शिवसिंह कुछ देर पहले ही जयपुर लौट आया था। सूचना मिलते ही उसने फौज बख्शी लक्ष्मणसिंह को घटनास्थल पर भेजा, किंतु सब खिड़की-दरवाजे बंद थे और भीतर कोहराम मचा हुआ था। लक्ष्मणसिंह ने तुरंत गोविन्ददेवजी की ड्योढ़ी का रास्ता पकड़ा और चन्द्रमहल होते हुये अपने सवारों के साथ जलेब चौक में आ पहुंचा जहां काबुलियों या अफगानी पठानों का एक समूह यह आतंक मचा रहा था। कुछ उपद्रवी तो मारे गये और कुछ गिरफ्तार कर लिये गये। इनमें दो मुखियाओं को गोली से उड़ा दिया गया।

सारे मामले की जांच से सिद्ध हुआ कि माजी चन्द्रावतजी के भाई ने इन काबुलियों को अपने यहां नौकर रखा था और वही इस षड्यंत्र को रचने वाला था। स्वयं माजी और उनकी सलाहकार बडारणों ने इस दंगे को उकसाया था। रेजीडेंट नाराज तो बहुत हुआ, किन्तु माजी और जनानी ड्योढ़ी की इज्जत का ख्याल रखकर मामले की लीपापोती कर देना ही उचित समझा गया। हां, मानसिंह चन्द्रावत को आठ साल के लिये जयपुर से निष्कासित कर दिया गया और रामचन्द नामक एक हरकारे को फांसी पर लटकाया गया।

जयपुर के लेखों में इस घटना को कभी "बलवा" तो कभी "अफगानी युद्ध" बताया गया है, "टोदाई की लड़ाई" कहा। तत्कालीन [illegible] नामक एक कवि ने इस भड़काये हुये दंगे का इस प्रकार वर्णन

21 [illegible]

दूसरी "हजूरी" बाइयां होती, माजी, महारानियों या पासवानों की अपनी सेविकायें। इनके अपने- अपने अखाड़े भी होते। नाच- गाने में प्रवीण बाइयों के अलग- अलग अखाड़ों में दंगल या मुकाबले चलते। बाइयों के नाम भी अजीबो-गरीब होते। जिसका काम महारानी की मसनद के पास खड़े रहना या बैठना होता, वह 'मसनद बाई" कहलाती, मक्खियां उड़ाने वाली बाई का नाम "माखी बाई" होता और तकिया लगाने वाली 'तकियाबाई" कहलाती। पोशाक से भी बाइयों की पहचान होती। कुछ बाइयां "घाघराहाली" या घाघरेवाली कहलाती तो दूसरी "गरारावाली" और "सूथनावाली"।

महाराजा माधोसिंह के असाधारण पुंसत्व और रतिप्रियता की कहानियां आज तक कही- सुनी जाती है और इनमें बहुत- कुछ सच्चाई है भी। तभी तो उसकी पड़दायतों या रखैलों की संख्या 41 तक जा पहुंची थी। इन पर पांच रानियां ब्याहिता थीं और सब की सेवा- चाकरी के लिये सैकड़ों की संख्या में दासियां या बाइयां। ड्योढ़ी के भीतर सब व्यवस्था रखने के लिये नाज़रों का दल था और इन नपुंसकों की सहायता के लिए "नैवगणे" या नाइने रहती थी। हर शनिवार की रात जनानी महफिल की रात होती और महाराजा जनानी ड्योढ़ी के दरबार में राग- रंग से सरशार रहते। इस महफिल में कोई "बाई" यदि महाराजा को अपने नाच-गान या क्रीडा- कौतुक से आकर्षित कर लेती, नजर चढ़ जाती और अपने आपको असाधारण सिद्ध कर पाती तो निहाल हो जाती। उसे "पड़दायन" का दर्जा मिल जाता, जिसका मतलब था पांच हजार रुपये सालाना की जागीर। उसके कोई लड़का या "लालजी" जन्म ले लेता तो उसे पांच हजार की जागीर अलग मिलती। रानियां जहां अपने पिता के वंशानुसार राठौड़जी, जादूणजी, झालीजी, तवरजी जैसे नामों से जानी जाती, वहां पड़दायतों को ड्योढ़ी में ही नया नाम मिलता जिसके अंत में "रायजी" अवश्य लगता। बसन्तीरायजी लिछमीरायजी, विशाखारायजी, भरतरायजी, हीरारायजी आदि पड़दायतों के ही नाम हैं। विशाखारायजी की मृत्यु कुछ वर्षों पूर्व 1973 में हुई और अब केवल एक और रायजी उस काल का अवशेष बनकर जनानी ड्योढ़ी में जी रही है।

माधोसिंह की असाधारण मर्दानगी का कारण बताने के लिये जयपुर में यह कहानी विख्यात है कि इस राजा ने किसी वाजीकरण औषधि का सेवन कर लिया था जिससे अपने शासन के आरंभिक काल तथा उद्दाम युवावस्था में उस पर नारी का नशा बेतहाशा सवार था। बात कुछ हद से गुजरते देखी तो तत्कालीन प्रधानमंत्री बाबू कांतिचंद्र मुकर्जी ने पहले तो नाहरगढ़ के किले में महाराजा का रंग- मंदिर बनवाया जिसके प्रत्येक कक्ष पर किसी न किसी रखैल के काव्यात्मक नाम का पट्ट आज भी लगा हुआ है। फिर महाराजा की भूख शांत करने के लिये उन्होंने जनानी ड्योढ़ी को बढ़ाने की तजवीज की। यह तजवीज कुछ ऐसी सूझ- बूझ और समझदारी के साथ की गई कि सांप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे। आजकल जिस प्रकार सरकार "महिला सदन" या "रेसक्यू होम" चलाती है, उसी प्रकार जनानी ड्योढ़ी में निराश्रित, पथभ्रष्ट और कुलटा सभी अछूत्री- वर्ग स्त्रियों का प्रवेश दिया गया और शीघ्र ही एक फौज खड़ी हो गई। महाराजा और जनानी ड्योढ़ी की आबरू, दोनों ही बाहर के अपयश से बच गये और भीतर ही भीतर सारा सरंजाम जुट गया। लेकिन यह जनानी फौज बढ़ी तो राजकोष पर भी भार बहुत बढ़ा— पटरानी को सवा लाख की जागीर, अन्य रानियों में प्रत्येक को 25 हजार की जागीर, पासवान को सात हजार की जागीर और पड़दायत व लालजी को पांच- पांच हजार की जागीर। फिर बाइयों की घाघरा- सूथना और गारद पल्टन का खर्च और नाज़रों-नैवगणों के नखरे। कहते हैं, रियासत का एक तिहाई भाग जनानी ड्योढ़ी की "सरकार" में खप गया। कांतिचंद्र मुकर्जी की रीति- नीति से इस खर्च का इलाज तो निकाला ही गया, बड़ी बात यह हुई कि अपने महल के बाहर महाराजा माधोसिंह की ख्याति एक धर्मान्ध और नीति- परायण राजा के रूप में ही बनी रही।

उस समय गणगौरी बाजार में एक जबरदस्त औरत   रहती थी जिसकी पहुंच सीधी महाराजा तक थी।

और पैंसठ हजार रुपया सालाना माजी चन्द्रावतजी ने अपनी स्वयं की जागीर से तथा इसमें दूसरी रकम अन्य माजियों की जागीर से देने का वचन दिया था। रूपा बडारण ने छह लाख का सहारा देकर सभी माजियों को इस संकट से उबार लिया। फिर किसी से एक पैसा भी नहीं लिया गया।[24]

महाराजा रामसिंह अब बड़ा हो रहा था और जयपुर में इसके साथ एक नई आशा का संचार हो रहा था। माजी चन्द्रावतजी की आकांक्षायें भी अब जनानी ड्योढी की चहारदीवारी तक ही सीमित होती जा रही थी, किंतु उसकी मर्जीदान बेगम बडारण ने इन्हीं दिनों टोंक रोड पर एक बाग लगवाया जिसे रामसिंह ने बाद में गेस्ट हाउस बनाकर बढ़ाया और "रामबाग" नाम दिया। आगे चलकर महाराजा मानसिंह ने तो रामबाग को ही अपना निवास बनाया।

रामसिंह द्वितीय की नौ रानियों में से दो रीवां से आई थीं। वे अपने पिता और भाई महाराजा विश्वनाथसिंह और महाराजकुमार रघुराजसिंह की कृतियों के अलावा अन्य बहुत सी पाण्डुलिपियां और मुद्रित पुस्तकें भी लाई थी। इससे जनानी ड्योढी की आवासनियों के पुस्तक- प्रेम और सुसंस्कृत होने का अनुमान लगाया जा सकता है। रामसिंह हरफनमौला राजा था और संगीतकारों के अलावा तवायफों को भी पूरा संरक्षण- प्रोत्साहन देता था। कई तवायफें जनानी ड्योढी भी जाती थी और वहां की बाइयों को गाना-बजाना और नाचना सिखाती थीं।

बाइयों की नृत्य- संगीत शिक्षा की ओर महाराजा रामसिंह ने विशेष ध्यान दिया और उसके समय की ऐसी अनेक कापियां और किताबें जनानी ड्योढी से प्राप्त हुई हैं जिनमें नाटकों के कथोपकथन या संवाद लिखे हैं। नाटक की ट्रेनिंग लेने वाली बाइयों ने याददाश्त के लिये यह कापियां लिखी थीं।

महाराजा रामसिंह का राज्यकाल जयपुर के लिए वरदान बनकर आया। सब ओर शांति, व्यवस्था और अमन- चैन का बोलबाला था और रियासत की समृद्धि भी बढ़ गई थी। 1880 ई. में जब 47 वर्षीय रामसिंह के निधन के बाद माधोसिंह द्वितीय जयपुर का महाराजा बना तो जमाना बदल चुका था। ब्रिटेन का साम्राज्य संसार की प्रथम शक्ति बना हुआ था और इग्लैंड मे मलिका विक्टोरिया के बाद "केयर- फ्री एडवर्डियन एज" का सूत्रपात हो गया था। प्रभुसत्ता के इस बुलन्द सितारे के साथ भारतीय राजा- महाराजाओं का प्रताप भी अखण्ड बना हुआ था और जयपुर की जनानी ड्योढी भी इस काल में बड़ी बुलन्दी पर थी।

जयपुर के राजकवि- साहित्याचार्य भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने "जयपुर वैभवम्" में महाराजा माधोसिंह (1880-1922ई.) के गुणो का स्मरण करते हुए एक छन्द में लिखा है कि नीति के साथ- साथ धर्म में भी उनकी रुचि अपार थी, उनके जनाने महल सदैव आभूषणो की छमछमाहट से गुंजा करते थे और वैभवशाली राजा होने के कारण उन्होंने विविध विलास और सुखों का भोग किया था। यह "गुण- स्मरण" सोलहों आने सही है। माधोसिंह के समय में नारियों की यह नगरी जनानी ड्योढ़ी संभवतः सबसे अधिक आबाद हुई। बीच में बाजार जैसी प्रशस्त सड़क और उसके दोनों ओर हवेलियां या रावले इस काल में विविध श्रेणियों की नारियों से भर गये क्योंकि पांच रानियों के अतिरिक्त इकतालीस पडदायतें या रखैलें थीं जिनकी हाजरी- चाकरी में पातुरों और बाई- बावलियों के टोले के टोले थे। ये पातुरें या बाइयां मुगल हरम की सर्केशियाई लड़कियों का अनुकरण था। बादशाह फर्रुखसियर ने ऐसी विदेशी लड़कियों की एक टोली मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह के रावले में उदयपुर भी भेजी थी जिन्हें वहां "महेलियां" कहा गया और सहेलियों की बाडी विख्यात हुई जो आज तक वहा एक दर्शनीय स्थल है।

बाइयों का अपना श्रेणी- विभाजन था। एक वर्ग "खालसाई" बाइयों का था जिनका निर्वाह राजकोष से होता था। उन्हें रुपया, दो रुपया या जो भी पारिश्रमिक निर्धारित होता, राज- कोष से ही चुकाया जाता।

24 ए शौर्ट हिस्ट्री आफ जयपुर, पृष्ठ 168

सेठानी को महाराजा भी सेठानी ही कहता था और जितनी देर वह अन्त:पुर में रहता, यह नाम उसकी जबान पर बार-बार आता था। जो भी इच्छा, चाह या फरमाइश होती तो सेठानी को संबोधित करके ही प्रकट की जाती और "अन्नदाता" कहने वाली सेठानी आनन-फानन में उसकी पूर्ति कर देती। मर्दाने में जैसे खवास बालाबख्श के बिना महाराजा पत्ता भी नहीं हिलाता, वैसे ही जनाने में सेठानी के बिना उसका कोई काम नहीं चलता। ऐसी जबर्दस्त और विश्वासपात्र बनी हुई थी यह सेठानी।

दरबार की तरह रावले में भी पारम्परिक ईर्ष्या-द्वेष की रस्साकशी चलती थी। जब माधोसिंह की जन्मदात्री माता यहां ड्योढ़ी में आकर रहने लगी तो उसने अपने बेटे के महाराजा बन जाने के कारण अपने लिए माजी साहब या राजमाता का मान-सम्मान चाहा। माधोसिंह भी चाहता था कि इस रुतबे में उसे जन्म देने वाली माता को माजी साहब ही माना जाय और जनाने दरबार में उसे उसी प्रकार नजर-निछरावल की जाय जिस प्रकार राजमाता को की जाती है। एक बार, कहते हैं जब जनाना दरबार जुड़ा तो जोधीजी (माधोसिंह की माता) मसनद पर बैठ गई और उन्हें इस तरह बैठा देखा तो माजी राठौड़जी, जो अपने आपको इस गद्दी पर बैठने का अधिकारी मानती थी, वहां एक नजर डालकर ही अपने रावले को लौट आई। रास्ते में उन्हें माधोसिंह की धायधा वाली रानी झालीजी मिली तो पूछने लगी कि वापस क्यों? इस पर राठौड़जी का जवाब था कि बैठने का इन्तजाम ठीक नहीं है।

झालीजी ने राठौड़जी का पक्ष लिया। राजा की बेटी होने के नाते उसे भी यह बात न भायी कि एक सामान्य राजपूतनी (जोधीजी) राजमाता का आसन ले ले। झाली रानी ने कहलवाया कि जोधीजी उस आसन को छोड़ दें, पर जोधीजी भी अब कैसे हट जाती! इस पर कहते हैं बात यहां तक बढ़ी की जोधीजी को राठौड़जी और झालीजी की डावड़ियों ने जबर्दस्ती हटा दिया। सारा काण्ड सुनकर महाराजा माधोसिंह का झालीजी से नाराज होना स्वाभाविक था।

जनानी ड्योढ़ी में जनाने दरबारों या मजलिसों में उठने-बैठने के सवाल पर ही नहीं, अन्य मान-मर्यादाओं और हकों को लेकर भी माजियों-महारानियों और पड़दायतों में रस्साकशी चलती रहती थी। जनरल अमरसिंह ने 1926 के एक दिलचस्प विवाद का उल्लेख किया है: "...... यहां मैं गाजे-बाजे (विवाह में जैसे पहले विनायक-पूजा होती है, वैसे ही प्रतिवर्ष महाराजा की सालगिरह के कुछ दिन पूर्व गाजा-बाजा हुआ करता था) के विवाद की भी थोड़ी चर्चा करूंगा। यह आम तौर पर पटरानी या पटमाजी के रावले पर होता है। अभी कोई पटमाजी नहीं है, एकमात्र माजी तंवरजी जीवित है। वे चाहती थीं कि यह रस्म उनके रावले पर ही हो (क्योंकि वही महाराजा की एकमात्र मां रह गई थी), लेकिन महारानी साहबा ने इस पर ऐतराज किया। माजी तंवरजी की हिमायत (गृहमंत्री) पुरोहित गोपीनाथजी कर रहे थे, लेकिन महारानी साहबा भी मानने वाली न थी। अन्त में यह तय रहा कि यह रस्म खालसा के कमरे में ही हो जाए, जो किसी रानी या माजी का नहीं है।"[२९]

जिन्दगी में अपने मान-सम्मान और कुरब-कायदों के लिए व्यग्र रहने वाली जनानी ड्योढ़ी की महिलाओं के लिए मृत्यु का भी एक 'प्रोटोकोल' था। जिन महारानियों की शव-यात्रा त्रिपोलिया होकर निकाली जाती थी, उन्हें मरणोपरान्त सर्वाधिक सम्मानित माना जाता था। सामान्य नियम यह था कि राजमहल के इस दक्षिणी द्वार से पटरानी या सबसे वरिष्ठ रानी की शव-यात्रा ही निकलती थी। महाराजा रामसिंह की पटरानी राठौड़जी और माधोसिंह की पहली पत्नी जादूणजी की शव-यात्राएं त्रिपोलिया से ही निकाली गई थी। झालीजी माधोसिंह की मृत्यु के कुछ समय बाद मरी थी, किन्तु वरिष्ठ हो जाने से उसे भी यह सम्मान मिला। रामसिंह की एक और रानी, छोटी राठौड़जी तो 1926 ई. में मरी थी और इस सम्बन्ध में जयपुर दैनंदिनी

यह पहुंच कितनी जबर्दस्त थी, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि सैकड़ों औरतों में से जनानी ड्योढ़ी में महाराजा के पांव रखने के साथ ही यह औरत छाया की तरह उसके साथ हो जाती थी और जब तक महाराजा अपने शयनकक्ष में जाकर गहरी नींद न सो जाता, यह छाया साथ ही लगी रहती थी। वह न कोई रूपवती थी और न लावण्यवती। देखने वालों के अनुसार वह कुरूप और काली-कलूटी थी और सारा का "धतौरा" शहर इस बात पर आश्चर्य करता रहता था कि आखिर क्या बात है जो यह औरत इस महाराजा पर छाई हुई है!

इस औरत को शहर भर में सेठानी के नाम से जाना जाता था। वह शायद ब्यावर से यहां आई थी इसलिये उसे "नयानगर की सेठानी" भी कहा जाता था। उसके पति रामनाथ सेठ का राज में पाया इतना बढ़ा कि महाराजा ने उसे छत्तीस कारखानों का हाकिम या मुतंजिम बना दिया जिनमें मोदीखाना भी था। सम्वत् छप्पन के अकाल को याद रखने वाले लोगों को यह भी याद है कि उस कठिन समय में रामनाथ सेठ की बदौलत ही ग्यारह सेर के जौ बिके थे। अपने पति की इस तरक्की और हैसियत के पीछे भी सेठानी का ही प्रताप था। जयपुर में तब कुछ नाम आख्यान बने हुए थे और खवास बालाबख्श तथा रूपराय पासवान की तरह रामनाथ सेठ की इस सेठानी का नाम भी बहु-चर्चित था।

तीज की सवारी का एक दृश्य
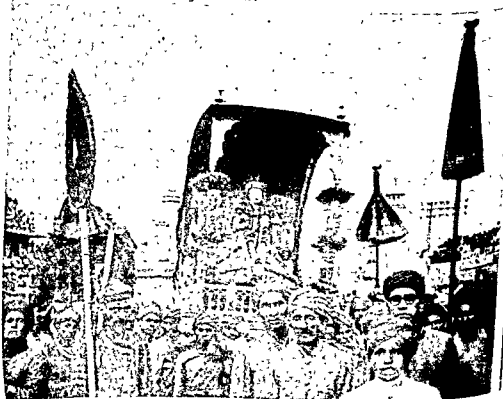
और षडयन्त्रों व कुचक्रों का ऐसा दौर-दौरा चालू किया कि सभी के पौ-बारह होते रहें।

महाराजा माधोसिंह के दो पडदायतों से दो पुत्र हुए थे— गंगासिंह और गोपालसिंह, जो तरुण अवस्था में ही मर गए। माधोसिंह का इन दोनों पर बडा स्नेह था और वह इन्हें हरिद्वार भी जाता तो साथ लेकर ही जाता था।

इन लडकों के चेचक निकली तो शीतला की मनौती के लिए महाराजा चाकसू के पास सील की डूंगरी पहुंच गया। तभी से वहां जयपुर जिले का लक्खी मेला—सीलक्यां—हर वर्ष शीतला अष्टमी को भरता आया है। रूपराय ने महाराजा की इस कमजोरी का पूरा फायदा उठाया। दोनों लडकों के मर जाने पर वह उनकी आत्मा को अपने शरीर में बुलाने और अपनी जुबान से बुलवाने लगी। कभी कहती कि गंगासिंह उस लोक में बीमार पडा है, इलाज के लिए पैसा चाहिए। कभी गोपालसिंह के किसी कष्ट का बहाना होता तो कभी परलोक में उसका विवाह रचाया जाता। अशक्त और बूढ़ा महाराजा अपनी जवानी की संगिनी की हर बात मान जाता और पूरी करता।

जब तक महाराजा माधोसिंह राज करता रहा, जनानी ड्योढ़ी में सेठानी और रूपराय पासवान वाले धडे की ही चलती रही। माधोसिंह के आखिरी वक्त में भी यही दो औरतें बडी शहजोर रहीं। अशक्त और रोगी राजा को यह इन्दरगढ़ (कोटा) भी ले गयी जहां, कहते हैं, कोई माताजी का स्थान था। वहां रोगमुक्त होने की कामना लेकर जाने वाले महाराजा को किसी साधु की धूणी की राख में लोटने तक को विवश कर दिया बताया। पर रोग असाध्य था और महाराजा की जान नहीं बच सकी। माधोसिंह के आंखें मूंदने के साथ ही दरबार और जनानी ड्योढ़ी की राजनीति ने भी पलटा खाया। जो तब तक शहजोर बने हुए थे, कमजोर पड गए और जो उपेक्षित एवं तिरस्कृत थे, एकदम उभर कर ऊपर आ गये।

महारानी झाली अब राजमाता या माजी साहब थी और नये राजा के नाबालिग या बालक होने की अवस्था में माजी साहब के अपने कुछ परम्परागत अधिकार थे। यद्यपि झालीजी भी महाराजा के मरने के साल भर बाद तक ही जीवित रही, पर जितने भी दिन उसे बच रहे थे, उनमें उसने अपने शत्रुओं से चुन-चुन कर बदला लिया। इनमें खवासबालाबख्श, सेठानी और उसका पति रामनाथ सेठ तथा रूपराय पडदायत प्रमुख थे। इन लोगों ने मिलकर झाली को बरसों तक जितना हैरान और परेशान रखा था, अब झाली ने कुछ ही दिनों में इन सबको छठी का दूध याद करा दिया।

झाली के मसूबे पूरे करने के लिए उसका एक भाई मानसिंह झाला भी तब जयपुर आ गया था और उसने इन सबके विरुद्ध गबन, अमानत में खयानत और राज की बकाया के बडे-बडे मुकदमें लगा दिये। रूपराय ने महाराजा से सचमुच बडा माल ऐंठा था और उसके लिए तो यह हुक्म हुआ कि रावळा ही खाली करा लिया जाय। बरसों तक जनानी ड्योढ़ी में अपनी मनमानी करने वाली रूपराय का अब भी बडा असर था, उसका अपना नादरों और नाइनों का दल था जो खाम और झाडुएं लेकर लडने-लडाने पर आमादा था। रूपराय को रावळे से निष्कासित करना बडी टेढ़ी और नाजुक समस्या बन गई थी, किन्तु जनानी ड्योढ़ी के तत्कालीन मुन्तजिम पुरोहित हरिनारायण शर्मा बी.ए. विद्याभूषण ने बडी सूझ-बूझ के साथ महलों के भीतर कोई हंगामा न होने दिया और रूपराय को अपनी जोखिम अपने बराबर माजी नवरजी (माधोसिंह की पांचवीं रानी) के रावळे में फेंक कर अपना रावळा छोडना पडा। जीवन भर रानी रह कर भी नवरजी जैसी मालदार नहीं थी वैसी अब माजी बनकर हो गई। कहते हैं, इसी धन से माजी साहब नवरजी ने स्टेशन रोड पर माधोविहारीजी का विशाल मन्दिर बनवाया।

मन्दिर अपने सुदिनों में रूपां बडारण और रूपराय ने भी बनवाये थे। रूपराय पासवान से निपट लेने के बाद सेठानी की बारी आई। उसके पति रामनाथ सेठ के नाम राज की भारी बकाया निकाली गई क्योंकि व

तत्कालीन यामांडैंट ने यह टिप्पण लिखा है ''दिवंगत गटौड़जी ने वर्तमान महाराजा (मानसिंह) की देखरेख की थी और उसने ऐसी इच्छा भी प्रकट की थी, अतः उसके पार्थिव शरीर को भी यह सम्मान (त्रिपोलिया से ले जाने का) दिया गया। यह कोरे सम्मान की बात है, फिर भी बड़ी बात है। . बताया गया कि जब किसी महारानी को त्रिपोलिया होकर ले जाया जाए तो सरदारों और हाकिम-अहलकारों को अपने बाल देने चाहिए इसलिये मैंने अब्दुल नवाब को बुला भेजा जो इन सब बातों से भली-भांति परिचित है[26]।''

किन्तु 1922 ई. में मरने वाली माधोसिंह की एक रानी चांदावतजी को यह सम्मान नहीं दिया गया क्योंकि वह पटरानी नहीं थी और बाद में भी झालीजी की तरह वरिष्ठ नहीं हुई थी। यह महारानी, जो अजमेर में कामोर के ठाकुर जोगावरसिंह की बेटी थी, 20 मई को मरी थी, दिन में एक बजे, लेकिन उस दिन "मृत्यु का समाचार गुप्त रखा गया और परम्परानुसार 'अमवाली बन्दोबस्त' तथा अष्ट-महादान कराया गया ....चलावा महारानी गटौड़जी के अंतिम संस्कार को नजीर मानकर किया गया।"[27] किशनगढ़ की बेटी यह महारानी 1893 ई. में मरी थी।

इस महारानी के अंतिम संस्कार के लिये "शव-यात्रा अंजीर के दरवाजे से गणगौरी दरवाजे होकर राजामल के तालाब और सम्राटजी के दरवाजे (ब्रह्मपुरी) से बाहर गई और फिर बद्रीनाथजी की डूंगरी के पास जनाना श्मशान पर पहुंची। शव-यात्रा में उन सरदारों को नहीं बुलाया था जिनकी ड्योढ़ी बन्द थी....... 23 मई को महल में शोक का दरबार हुआ। उसमें महाराजा की कुर्सी तो खाली रही और बराबर वाली कुर्सी पर अंग्रेज रेजीडेन्ट कर्नल बेन आकर बैठा। सभी दरबारी शोक की सफेद पोशाक में थे। दरबार के बाद रेजीडेन्ट, खवास बालाबख्श, अविनाशचन्द्र सेन और मैं चन्द्रमहल में गये जहां महाराजा सफेद कुर्ता और हरे मखमल की टोपी पहिने दरी पर बैठे थे। ये सब आधे घण्टे दरी पर बैठकर बाहर आये। जनानी ड्योढ़ी में भी पर्दे की बैठक हुई...... मेरी पत्नी भी इस बैठक में गई..... चार सिपाही और चार नौकरानियां रथ के साथ पैदल थे। सभी ने पक्के रंग की पोशाकें पहनी थीं[28]

जनानी ड्योढी में कहने को तो सभी रानियां, पासवानें या पड़दायतें थी, पर जयपुर की कहावत है कि "राजा मानै सो राणी"। महाराजा माधोसिंह की पटरानी तो जादूणजी थी और वह मरी तो उसका रावला और उसका रुतबा झालीजी को मिला, लेकिन माधोसिंह जैसे असाधारण मर्द के दिल पर रूपराय पड़दायत ही राज करती थी। माधोसिंह से ही तीन पीढ़ी पहले महाराजा जगतसिंह को "रसकपूर" नामक एक सामान्य रखैल ने जिस प्रकार अपने रूप-लावण्य से विमोहित कर डाला था, कुछ वैसा ही जादू रूपराय का भी चला। यह तो जमाना बदल चुका था और अंग्रेजों की सार्वभौम सत्ता कदम-कदम पर नाम पूछती थी, वरना रसकपूर की तरह रूपराय भी आधे जयपुर का राज अपने नाम करा लेने में कसर न रखती। फिर भी रूपराय ने वह सब कुछ किया जो वह ड्योढी की चहारदीवारी के भीतर बैठकर कर सकती थी।

रूपराय संभवतः धाउबडारी जाति की थी और पड़दायत हो जाने पर उसने अपने सगे-सम्बन्धियों और जाति-बिरादरी वालों को निहाल करना आरम्भ किया। जागीर में मिली अपनी 'सरकार' से ही वह सन्तुष्ट रहने वाली नहीं थी और महाराजा के निर्बलता के क्षणों में वह बराबर उनसे किसी न किसी बहाने नकद और आभूषणों के इनाम-इकराम हासिल करती रही। जब बुढ़ापे और बीमारी ने माधोसिंह को अशक्त और निर्बल बना दिया तो रूपराय ने इस स्थिति का अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न किया। महाराजा के कुछ अन्तरंग सेवकों और सलाहकारों में मिलकर जिनमें खवास बालाबख्श प्रमुख था, उसने एक गुट बनाया

26 वही (ह.लि.)
27. सर पु. गोपीनाथ की डायरी (ह.लि.), जयपुर
28. वही

लालजी गोपालसिंह – महाराजा माधोसिंह का चहेता अनौरस पुत्र

खवास बालाबख्श के साथ तो बहुत बुरी हुई। नजरबंदी भी भोगनी पड़ी और बहुत सारी जायदाद से भी हाथ धोना पड़ा। कहते हैं, कपड़े तक कुर्क करा लिये गये। जैसा भर्तृहरि ने अपने नीति शतक में कहा है, महाराजा माधोसिंह के इन सभी कृपा-पात्रों के साथ वैसी ही बीती। लेकिन सेठानी तकदीर वाली निकली। आग में गिर कर भी पति बच गया और बरसों महलों के रग-रग में काटने वाली इस जबर्दस्त औरत ने अन्त तक शांति और चैन से ही जीवन बिताया।

महाराजा माधोसिंह के "रावलोक" का विवरण देने वाली एक हस्तलिखित पुस्तक पोथीखाने में शायद महाराजा के आदेश से उनके जीवन-काल में ही तैयार की गई थी। इस पुस्तक में महाराजा की पत्नियों, उपपत्नियों और संतति की सूची मात्र है और जहां मालूम हो सका, सन्-संवत् भी दिये गये हैं। इस महाराजा की पांच तो विवाहिता रानियां थीं—महारानी जादूणजी, महारानी राठौड़जी, महारानी झालीजी, महारानी चांदावतजी और महारानी तंवरजी। जादूणजी उत्तर प्रदेश में उमरगढ़ के राव बुधपालसिंह की बेटी थी। 1865ई. में जन्मी जादूणजी का 1875ई. में ईसरदा के कायमसिंह से विवाह हुआ और 1909ई. में वह मरी। महाराजा रामसिंह का उत्तराधिकार पाने जब कायमसिंह 1880ई. में जयपुर आया तो जादूणजी को कुछ दिनों बाद ही बुला लिया गया। हालांकि वह राजा को ब्याह कर नहीं आई थी, एक जागीरदार के बेटे को ही ब्याही थी, फिर भी माधोसिंह ने अपने गर्दिश के दिनों की संगिनी इसी महिला को पटरानी का पद दिया।

अपनी जन्मदात्री माता जोधीजी को, जो ईसरदा के ठाकुर रघुनाथसिंह की दो पत्नियों में से एक थी, माधोसिंह ने माजी साहब या राजमाता का दर्जा दिलवाया। माजी जोधीजी को बारह हजार रुपये सालाना की जागीर के गांव दिये गये थे और महारानी जादूणजी को 24,862 रुपये की जागीर मिली थी।[29] इन दोनों को इस प्रकार माजी साहब और पटरानी देखकर जनानी ड्योढ़ी में अन्य माजियां और रानियां बहुत जलती-कुढ़ती भी थीं—कई बार तो इन्हें जनाने दरबार में मसनद पर देखकर अन्य माजियों व रानियों ने वाक आउट भी किया था—लेकिन माधोसिंह नारी को सेज का सिंगार ही समझने वाला नहीं था। उसने मां को राजमाता और पहली पत्नी को पटरानी या वरिष्ठ महारानी बनाने के विरुद्ध कभी कोई आपत्ति नहीं मानी और दोनों के प्रति अन्त तक यह सम्मान बनाए रखा और मृत्यु हो जाने पर दोनों की ही बड़ी सुन्दर और कलापूर्ण छतरियां बनवाईं जो आमेर रोड पर महारानियों की छतरियों में सबसे सुन्दर और भव्य हैं।

यह तथ्य इसलिये भी उल्लेखनीय है कि राजगद्दी पर आने के समय माधोसिंह उन्नीस वर्ष का नादान था और फिर उस पर औरत का नशा भी सवार हो गया था। उसके जैसे अल्प-शिक्षित (वह छठी क्लास तक राजपूत स्कूल, जयपुर में ही पढ़ा था) युवक को उद्दाम जवानी में भी, जब जयपुर जैसी सिरमौर रियासत उसके हाथ आ गई थी, यह होश रहना कुछ कम बात न थी कि मां और पहली पत्नी की जगह और कोई नहीं ले सकता।

यहां यह भी उल्लेखनीय होगा कि महाराजा ने अपने इंगलैण्ड प्रवास[30] के दौरान भी अपनी पटरानी जादूणजी से बराबर सम्पर्क बनाये रखा। 'फेहरिस्त कागजात आमदा रावला महारानीजी साहब श्रीजादूणजी महल स्वर्गीय महाराजा माधोसिंहजी' से यह सिद्ध है। जादूणजी की मृत्यु (7 नवम्बर, 1909 ई.) के बाद उनके रावले को सील किया गया होगा और शायद 1922 ई. में महाराजा की मृत्यु के बाद उनके कागजपत्र और दूसरा सामान 'असबाबी' में कपड़द्वारा और अन्य सम्बन्धित कारखानों में आया होगा। तभी यह 'फेहरिस्त' बनी होगी। इसमें उन सब तारों का इन्द्राज है जो लन्दन से महाराजा ने अपनी पटरानी को भेजे थे। 30 जून, 1902 से 11 अगस्त, 1902 तक प्राय: प्रतिदिन अथवा एक-दो दिन के अन्तर से यह तार भेजे गये

---

29 प्रोसीडिंग्स आफ दि स्टेट कौंसिल (प्र.सि.) कौंसिल ब्रांच, जयपुर

30 महाराजा की इंगलैण्ड यात्रा का विस्तृत विवरण परिशिष्ट 5 में दिया गया है।

महाराजा ने स्वयं इसका उत्तर यों भेजा: "तुम्हारा मुबारकबादी का तार आया, जिसका शुक्रिया करता । यहां सब अच्छी तरह से हैं। यहां से आज शाम छह बजे रवाना होता हूं।"

12 सितम्बर को बम्बई पहुंचकर महाराजा ने यह तार भिजवाया: "मेरा खैरसलाह से बम्बई पहुंचने पर बारकबादी का तार बड़े महारानीजी साहिबा के पास से आने पर बहुत खुशी हासिल हुई। महारानीजी हिबा के इन अच्छे खयालात का मेरा बहुत दिली शुक्रिया तुम मालूम कर दो।"

तारों व संदेशों का यह आदान-प्रदान महाराजा माधोसिंह और उसकी पहली पत्नी के पारस्परिक स्नेह र विश्वास की अभिव्यक्ति तो है ही, जादूणजी के प्रति माधोसिंह की सम्मान की भावना को भी उजागर रता है।

माता जोधीजी और पांच रानियों के अलावा माधोसिंह की 41 पडदायतों के नाम इस प्रकार हैं:

1. बसन्तरायजी 2. चांदरायजी 3. केसररायजी 4. फूलरायजी 5. लिछमीरायजी (बडा) 6. हताबरायजी 7. तीजरायजी 8. जडावरायजी 9. चम्पारायजी 10. सोनरायजी 11. गंगारायजी या लाबरायजी 12. गेंदरायजी 13. सुरजरायजी 14. रूपरायजी 15. रतनरायजी 16. जवाहररायजी 17. न्दारायजी 18. मोतीरायजी 19. चुन्नीरायजी 20. हीरारायजी 21. चौसररायजी 22 गोपीरायजी 23. तररायजी 24. लिछमीरायजी (छोटा) 25. ललितरायजी 26. माणकरायजी 27 मीनारायजी 28. नारायजी 29. भगतरायजी 30. मुरलीरायजी 31. गोकुलरायजी 32 विसाखारायजी 33. रंगरायजी 34. ालतीरायजी 35 मजीरायजी 36. चमेलीरायजी 37. मेहतावरायजी 38. रतनरायजी 39 ज्ञानारायजी 40 ीरांरायजी और 41. धनवन्तरायजी।[33]

अपनी पांच विवाहिता रानियों से महाराजा के केवल दो पुत्रियां हुई थीं जो दोनों अविवाहित ही मर ई।41 पडदायतों से कुल 66 पुत्र-पुत्रियां हुए— 37 बेटे, जिन्हें जयपुर में "लालजी साहब" कहा जाता था और 29 पुत्रियां या बाईजी लाल। इस सूची से यह भी पता चलता है कि इनमें पहली बसन्तरायजी और सातवीं तीजरायजी माधोसिंह की आयु के 26 वें वर्ष में पडदायत बनी थीं और 1910 ई में मृत्यु के बाद बसन्तरायजी को पड़दायत से पासवान का दर्जा भी दिया गया था। लालजी गंगासिंह की मां वही थी। 1911 में जब रूपराय पड़दायत बनाई गई, पांच और पडदायतें बनी। माधोसिंह तब 51 वर्ष का था। अगले वर्ष 1912 में आठ पडदायतों ने जनानी ड्योढी में प्रवेश किया। अन्य पडदायतें इससे पहले जनानी ड्योढी की आवामानियां बन चुकी थीं।

अन्त समय में पहले किसी को भी यह विचार होता है कि वह अपने परिजनों और आश्रितों के लिए क्या छोड़े जा रहा है। महाराजा माधोसिंह के एक औरस पुत्र ही नहीं था अन्यथा उसका परिवार बेहद लम्बा-चौड़ा था। 19 जनवरी 1921 को सवेरे जब पुरोहित गोपीनाथ रुग्ण महाराजा से मिले तो महाराजा ने यह इच्छा प्रकट की कि वृन्दावन में उसकी जन्मदात्री माता ने जो मन्दिर बनवाया था, उसके और बरसाना के मन्दिर के लिये, जो महाराजा की दिवंगत बड़ी महारानी जादूणजी का बनवाया हुआ था, दान-पत्र तैयार कराये जायें। इसी समय महाराजा ने प्रधानमंत्री और रायबहादुर अविनाशचन्द्र सेन से अपनी अनेकानेक पडदायतों के लिये, जो सोनाहाली, गंगाजमनी और रूपाहाली नाम के तीन वर्गों में विभक्त थीं, तथा इन पड़दायतों से जन्मे पुत्रों (लालजी साहब) के लिए जागीर के गांवों, ताजीम और 'राजा' के खिताब की तजवीज पर सलाह-मशविरा किया। यह हिदायत दी गई कि समस्त पडदायतों और लालजीयों की पूरी परवरिश सवाम बालावस्त से लेकर इस मामले को जल्दी से जल्दी निपटाया जाय। पुरोहितजी ने अपनी डायरी में लिखा है, "हिज हाईनेस के विचार से प्रत्येक 'सोनाहाली पडदायत' को पांच हजार रुपये सालाना के गांव,

33 शकरोल (हस्त लिखित) पोथीखाना, जयपुर

थे। प्राय: सभी में कहा गया था कि "यहां सब अच्छी तरह हैं।" 12 अगस्त के तार में कहा गया था "ताजपोशी अच्छी तरह से हो गई। यहां सब अच्छी तरह से हैं। डाक में चिट्ठी भेजना बंद करो, अगर्चे कुछ जरूरी बात हो तो तार में खबर दो।"

महाराजा की ओर से 18 अगस्त, 1902 को प्रधानमंत्री बाबू संसारचन्द सेन ने नादर खुशनजर[31] को यह तार भेजा: "मेहरबानी करके महाराजा साहब की तरफ से महारानीजी साहिबा को उनकी सालगिरह मुबारक की मुबारकबादी और हम लोगों की दुवा कि उम्र इकबाल सुख ज्यादा हो, मालूम कर देवें।"

राजाओं की सालगिरह की तरह जनानी ड्योढी में रानियों की सालगिरह के भी जश्न होते थे, लेकिन इस प्रकार मुबारकबादी का तार आना शायद तब एक नयी ही बात थी। इसलिये नादर खुशनजर ने 19 अगस्त को जवाब भेजा: "सालगिरह के जल्से के बीच ऐसी मुबारकबादी का तार जो कभी आज तक नहीं आने का मौका हुआ था, खास जल्से में आने पर जल्से की खुशी ज्यादा बढ़ गई जिससे महारानी साहब बहुत खुश हुईं। इसका श्री हुजूर में अदब के साथ शुक्रिया मालूम कहती हैं और साथ के लोग-बागों की दुआ फरमाती हैं।"

अपनी अर्द्धांगिनी को महाराजा अपने प्रवास की ऐसी बातों की भी सूचना देते थे, जैसे 6 जून को उन्होंने लिखवाया: "हम लोग 3 जून की शाम यहां आन पहुंचे। यहां पेशवाई सब रईसों के निस्बत ज्यादा बड़ी धूमधाम के साथ हुई। साहब लोग मुलाकात के लिये सुबह से शाम तक आते हैं कि हुजूर को आराम के साथ जीमण करने की भी फुरसत नहीं मिलती। ....यहां मेह बरसता है, बादल छा रहे हैं। यहा सूरजनारायण (सूर्य) सुबह चार बजे उदय होते हैं और आठ बजे छिप जाते हैं।"

फिर 13 जून को यों लिखवाया: "हम लोगों का वक्त मुलाकातों में ही गुजर जाता है। इससे चिट्ठी नहीं लिख सके। ....लन्दन एक बड़ा शहर है, इसका ओड़ (ओर छोर) नहीं, इसको पूरा नहीं देख सके, रास्ते में आता है, सो ही देख लेते हैं। हम लोगों को बिल्कुल फुरसत नहीं है। अन्नदाता जी रात को एक बजे आराम फरमाते हैं और सात बजे "अपोडा" होते हैं (जाग उठते हैं)। दिन भर जरा भी आराम नहीं मिलता। फिर भी सब लोग तंदुरुस्त हैं।"

20 जून के तार में कहा गया कि "हमारे पास (खाने पीने का) सामान बहुत है, और न भेजें। ...वलायत की आबहवा हर वक्त बदलती रहती है ....महाराजा साहब बहुत खुश हैं, लेकिन काम के सबब दम लेने की फुरसत नहीं है।"....

"मेह बरसता है, बादल छा रहे हैं, हवा चल रही है, कभी कभी सूरज भी दिखाई देता है..... तो भी आबहवा हम लोगों को पसन्द है।" (11 जुलाई)

जब महाराजा इंगलैण्ड से भारत लौट रहे थे तो सूचित किया गया कि "जहाज 236 मील रोज चलती है।"

27 अगस्त को पोर्ट सैद में बाबू अविनाशचन्द्र सेन के नाम जयपुर से यह तार मिला: "बड़े सरकार (महारानी जादूणजी) आज श्री अन्नदाताजी की सालगिरह मुबारक की खुशी के दिन अपने दिल की मुबारकबादी जाहिर करती हैं और श्री दरबार[32] से प्रार्थना करती हैं कि हर किस्म की चुनी हुई दुआ उनके ऊपर बख्शाओ और इस समुद्र के सफर में निरापत (निरापद) रहो। यह सब बारता श्री हुजूर में आप मेहरबानी करके मालूम कर देवें।"

---

31. खुशनजर नादर [illegible] महाराजा का चहेता था। [illegible] महाराजा की मेहरबानी उनके [illegible] से प्रकट है। [illegible] आमेर रोड पर [illegible] खुशनजर की मृत्यु के बाद स्वयं महाराजा ने बनवाया था।

32. [illegible] के समय में उनकी [illegible] को 'बड़ा दरबार' और [illegible] को '[illegible] दरबार' कहा जाता था। 'श्री हुजूर' या 'श्री जी' महाराजा के लिए प्रयुक्त होता था।

महाराजा माधोसिंह के रिश्तेदार राजाओं के लिए भी ये कम कौतूहल के विषय नहीं थे। महारानी झाली अपने भतीजे को अपने स्वयं के रावले में बुलाने और वहीं उससे मिलने पर आमादा थी, जबकि महारा ऊंची दीवारों से घिरे अपने अन्तःपुर को रिश्तेदारों के लिए भी एक रहस्य ही रखना चाहता था। महाराज पुरोहितजी, अविनाश राय और खवास बालाबख्श को बुलाकर अपनी इस हठी महारानी को यह समझाने काम सौंपा कि वह धांगध्रा के राजा से अपने रावले में न मिलकर चन्द्रमहल के 'सुख निवास' में भेंट करे। जुलाई को ये तीनों शनिश्चरजी के चौक में जाकर काफी देर ठहरे और झालीजी की बडारण रगरूपबाई त महारानी की मर्जीदान बांदी ललिताबाई को बुलाकर कहा कि वे दोनों महारानी को समझायें कि महारा धांगध्रा का जनानी ड्योढ़ी के भीतर आना ठीक नहीं होगा और वह सुख निवास में आकर ही अपने भतीजे मुलाकात करें। दोनों ने जाकर महारानी से बात की और लौटकर बताया कि महारानी सुख निवास में तो न जाएगी, लेकिन उनकी बात मानकर वह अपने भतीजे को अपने रावले में भी नहीं बुलाएगी और जनान ड्योढ़ी के बाहर वाले शनिश्चरजी के चौक में ही मुलाकात कर लेंगी। इसके लिए शाम 5.30 बजे का समय निश्चित किया गया, लेकिन उस दिन बुधवार होने के कारण धांगध्रा ने यह मुलाकात स्थगित कर दी।

धांगध्रा महाराजा 14 जुलाई को शाम 4 से 5.30 बजे तक अपनी बुआ से सुख निवास में ही मिला। शायद महारानी आखिरकार वहीं मिलने को राजी हो गई होगी। इस भेंट के समय महाराजकुमार मानसिंह भी था। धांगध्रा ने अपनी बुआ और महाराजकुमार को वेस व पोशाक भेंट की और खवास बालाबख्श के हाथ महाराजा के लिए भी इसी समय सिरोपाव भेजा। बुआ और भतीजे की मुलाकात दूसरे दिन सुख निवास में ही फिर हुई।

1922 में 61 वर्ष की आयु में माधोसिंह की मृत्यु हुई और इसके बाद महाराजा मानसिंह को जहां अन्य अनेक प्रगतिशील और सुधारवादी कदम उठाने का श्रेय है, वहां एक बड़ा श्रेय यह भी है कि उन्होंने अपने सत्ताईस वर्षों के शासन काल में जनानी ड्योढ़ी की संख्या में एक की भी बढ़ोतरी नहीं की। यही नहीं, उन्होंने सभी पड़दायतों और बाइयों को यह छूट भी दे दी कि जो बाहर निकल कर अपने परिजनों के पास रहना चाहें, वैसा कर सकती हैं। इस छूट और सुविधा का लाभ कइयों ने उठाया भी। किन्तु कुछ पड़दायतें, जो अपने लड़कों के पास जाकर रहने लगी थीं, बुढ़ापे में अपना संचित धन गंवाकर वापस ही लौट आईं। उन्हें जनानी ड्योढ़ी में ही आराम मिला, बेटों-पोतों के पास नहीं।

महाराजा माधोसिंह की मृत्यु के अठारह वर्ष बाद 1940 ई. में भी जनानी ड्योढ़ी में कुल मिलाकर लगभग चार सौ महिलायें थीं और इसके रावले प्रायः आबाद थे। 1940 में कूचबिहार से ब्याहकर जयपुर आने वाली महाराजा मानसिंह की तीसरी महारानी गायत्रीदेवी ने तब की जनानी ड्योढ़ी के लिए लिखा है-

''जनाने महल अलग अलग और अपने आप में सम्पूर्ण कक्षों में विभक्त थे। नीले और हरे रंगों में सुसज्जित मेरा कक्ष (रावला) अन्य रावलों जैसा ही था, जिसमें एक छोटा चौकोर चौक और एक प्राइवेट दरबार हाल भी था जिसमें नीले कांच की रोशनियां लगी थीं और भीतर कमरे थे जो उसमें खुलते थे। आगे चलकर मैं इसे वहीं अधिक अच्छी तरह जान पाई क्योंकि हर समारोहिक अवसर पर हम वहां जाते थे और कभी कभी तो एक पखवाड़े तक वहीं रहते थे। मेरा विवाह जिस साल हुआ, जनाने में कोई चार सौ महिलायें अब तक रह रही थीं। इनमें रिश्तेदार विधवायें, उनकी बेटियां, नौकर-चाकर, विधवा महारानी (माजी साहब तवरजी), उनकी हाजरी में रहने वाली औरतें, बाइयां, खाना बनाने वाली और अन्य नौकर-चाकर थे। जय की तीनों पत्नियों का अमला था और दिवंगत महाराजा की अन्य पत्नियों के अमले भी, जिन्हें इसीलिये नहीं हटाया जा सकता था कि उनकी मालकिनें मर चुकी थीं। यह सारा अमला राज-परिवार की जिम्मेदारी थी। इन सबके ऊपर दिवंगत महाराजा की एकमात्र पत्नी (तंवरजी) थीं जो अभी तक जीवित थीं। हम सब उन्हें ''माजी

प्रत्येक 'गंगाजमनी पड़दायत' को ढाई हजार रुपये सालाना आमदनी के गांव और प्रत्येक 'रूपाली' को 1250 रुपये सालाना आमदनी के गांव दिये जाने चाहियें। इसी तरह प्रत्येक लालजी को तालीम, 'राजा' का खिताब और पांच हजार रुपये सालाना आमदनी के गांव मिलने चाहियें।"

20 जनवरी, 1921 को महाराजा ने इस मामले में पुरोहित गोपीनाथ को फिर ताकीद की और वृन्दावन व बरसाना में मन्दिरों तथा पड़दायतों और लालजीयों के लिए वांछित दानपत्र एवं बख्शीशनामे जल्दी से जल्दी तैयार करने को कहा।

जनानी ड्योढ़ी को इस तरह आबाद करने वाला यह महाराजा गंगा का अनन्य भक्त और हरिद्वार-प्रवास का प्रेमी था। वह गर्मियों में हरिद्वार जाता तो स्पेशल ट्रेन में जाता और वहां लम्बा-चौड़ा कैम्प लगाकर रहता। जनानी ड्योढ़ी की औरतें भी साथ जातीं तो ये व्यवस्थायें और भी लम्बी-चौड़ी होतीं। 1914 ई. की फरवरी में पुरोहित गोपीनाथ की डायरी में ऐसी व्यवस्थाओं का कुछ विस्तार से उल्लेख हुआ है।

10 फरवरी को जबकि महाराजा की स्पेशल को गये प्रायः एक सप्ताह हो चुका था, पुरोहितजी ने खास कोठी के विमान भवन में जाकर 'जनाना स्पेशल' के डिब्बों का निरीक्षण किया क्योंकि उसी दिन शाम को महाराजा की दो रानियां- झालीजी और चांदावतजी- हरिद्वार जाने वाली थीं। जयपुर से यह पहली जनाना स्पेशल सात बजे रवाना हुई। स्वयं पुरोहितजी और मुंशी नन्दकिशोरसिंह (महाराजा के सचिव) इसके प्रभारी अधिकारी थे। दोनों महारानियों के साथ जनानी ड्योढ़ी की बहुत सी औरतें, रामप्रताप और दुर्गाबख्श नादर, डाक्टर महबूब आलम और लगभग 90 नौकर-चाकर थे। प्रधानमंत्री नवाब फैयाज अली खां, अनेक सरदार और हाकिम महारानियों को पहुंचाने स्टेशन तक गये थे। हरिद्वार रेलवे स्टेशन के गुड्स शैड वाले प्लेटफार्म पर स्वयं महाराजा अपनी महारानियों को लिवाने आया था। महाराजा तो स्टेशन के पास ही कनात लगाकर अनेक शामियानों में रहता था, किन्तु औरतों को बद्री बावला की हवेली में उतारा जाता था जो जयपुर-महाराजा के प्रवास में वस्तुतः जनानी ड्योढ़ी बन जाती थी। जब यह जनाना स्पेशल हरिद्वार पहुंच गई तो महिलाओं को पालकियों, रथों और बहलियों में इस हवेली में पहुंचाया गया था।

यह स्पेशल ट्रेन 16 फरवरी को जयपुर लौट आई तो 17 फरवरी को दूसरी जनाना स्पेशल हरिद्वार के लिए रवाना हुई। इसमें महारानी तवरजी और अन्य औरतें थीं। इस स्पेशल में जाने वाली चार पड़दायतों और उनके पांच बच्चों ने बद्री बावला की हवेली में श्री गंगाजी का पूजन किया। इस पूजा में प्रत्येक पड़दायत के लिये पन्द्रह रुपये और हर बच्चे के लिए दस रुपये खर्च हुये और सारी व्यवस्था महाराजा के 'पुण्य का कारखाना' ने कराई। 27 फरवरी को महाराजा ने पुरोहित गोपीनाथ को ऋषिकेश भेजा और वहां के समस्त साधु-सन्तों, सन्यासियों और गरीबों को भोजन कराया। बाबा रामनाथ कालीकमली वाले के मार्फत 453 रुपये के व्यय से लगभग 1,200 व्यक्तियों को भोजन कराया गया।

जयपुर से रानियां, पासवान-पड़दायतें, बाइयां और जनानी ड्योढ़ी की अन्य औरतें यों बारी-बारी से गंगा-स्नान के लिए हरिद्वार जाती रहीं। दूसरी के बाद तीसरी जनाना स्पेशल, चौथी जनाना स्पेशल और पांचवी जनाना स्पेशल इसी प्रकार जयपुर से हरिद्वार गई और आई। महाराजा सब के लौट जाने के बाद अपनी स्पेशल और अपने सैलून-श्रीमाधवेन्द्र विमान- में जयपुर लौटे।

महाराजा माधोसिंह जनानी ड्योढ़ी की हर आवश्यकता का पूरा ध्यान रखता था और यह भी कि उसके अन्तःपुर की कोई बात बाहर न जाए। जनानी ड्योढ़ी में नादरों या खोजों के अलावा अन्य किसी का जाना सर्वथा निषिद्ध था। पुरोहित गोपीनाथ की डायरी से पता चलता है कि धांगध्रा का महाराजा 1921 में यहां रुग्ण महाराजा की मिजाजपुर्सी के लिए आया था। यह स्वाभाविक ही था कि अपने जयपुर-प्रवास में यह महाराजा अपनी बुआ महारानी झालीजी से मिलता। जनानी ड्योढ़ी के रावले तब औरतों से भरे थे और

साहब" कहते थे और उनके प्रति बड़ा सम्मान दिखाते थे। जय की पत्नी होने के नाते मैं प्राय: कभी भी उनके सामने अपना चेहरा नहीं उघाड़ सकती थी और सदा उनसे कुछ दूर बायीं ओर बैठती थी।

"हालांकि हमारे बीच बड़ी औपचारिकता रहती थी, फिर भी वे मेरे प्रति कृपालुता दिखाती थीं। एक बात ने तो मुझे बड़ा द्रवित किया। वे जानती थीं कि मेरा लालन-पालन अंशत: इंग्लैण्ड में हुआ है और यह भी समझती थीं कि मैंने बड़ा स्वच्छंद पाश्चात्य जीवन बिताया है। उन्हें बराबर चिन्ता रहती थी कि जनानी ड्योढ़ी की बंद दुनिया में मैं कहीं ऊबकर दुखी न हो जाऊं। उन्होंने जनानी ड्योढ़ी की औरतों से मेरे देखने के लिए नाटक करवाये। लड़ाई के दिनों में, मुझे याद आता है, ये औरतें सिपाहियों जैसे कपड़े पहिनकर ऐसे दृश्य प्रदर्शित करतीं जिनमें जय को मध्यपूर्व में जर्मन सेनाओं पर अकेले ही विजय प्राप्त करते बताया जाता और वह सब देखकर मैं अभिभूत हो जाती, आंखों में कृतज्ञता के आंसू आ जाते। ऐसे सीधे-साधे नाटकों के अलावा, जनानी ड्योढ़ी में जय की गतिविधियों पर पूर्ण मनोयोग से ध्यान रखा जाता और कोई भी उपलब्धि होती तो उसका तुरन्त जश्न मनाया जाता। जब जय की टीम आल इण्डिया पोलो चैम्पियनशिप जीती तो लहंगों और ओढ़णियों पर पोलो स्टिक की कसीदाकारी हो गई। जब जय को उड्डयन का लाइसेंस मिला तो इन औरतों ने, जो न कभी हवाई जहाज में बैठी थीं और न कभी जिनके बैठने की संभावना थी, अपनी पोशाकों को निष्ठापूर्वक हवाई जहाज के बूटों से सजा लिया।"[35]

पर्दानशीन जनानी ड्योढ़ी में महिलाओं के बीमार होने पर वैद्य, हकीम और डाक्टर की सहायता महाराजा माधोसिंह के जमाने में भी ली जाती थी, किन्तु किस प्रकार, इसका एक दृष्टांत भी महारानी गायत्री देवी की आत्मकथा में दिया गया है:

"जब वे (महाराजा मानसिंह की दूसरी महारानी किशोर कुमारी, जिन्हें गायत्रीदेवी 'जो दीदी' कहती थीं) पहले पहल जयपुर आई तो पर्दा इतना कड़ा था कि उनके बीमार होने पर डाक्टर उनके कमरे के बाहर गलियारे में आकर खड़ा रहता और उनकी सेविकाओं से तापमान और नाड़ी के हाल जानकर रोग का निदान करता (इस व्यवस्था का लाभ भी उन्हें शीघ्र ही ज्ञात हो गया। जब कभी वे किसी ऐसे साक्षात्कार को टालना चाहतीं जिसमें उनका मन न होता तो वे थर्मामीटर को गर्मपानी में डुबोकर अपनी सेविका के साथ डाक्टर को बताने के लिये भेज देतीं)।"[36]

जनानी ड्योढ़ी में रूपां बडारण और रूपराय पड़दायत जैसी आपाधापी मचाने वाली स्त्रियों के विषय में यह सोचकर आश्चर्य होता है कि जो भी वैभव, ऐश्वर्य और सत्ता भोगने के लिये वे इतना हाय-हाय करती थीं, वह उनकी जिन्दगी भर के लिये ही होती थी। सन्तान होने पर भी वे अपनी धन-दौलत उसे नहीं दे सकती थीं। हां, इन सन्तानों को राज से अलग जमीन-जायदाद या जागीर अवश्य मिल जाती थी, किन्तु मां का सब मालमत्ता उसके मरने के बाद राज या "हाउस होल्ड" का हो जाता था। किसी भी पड़दायत, पासवान और बडारण के सौ बरस पूरे होते ही उसकी सम्पत्ति "आमाली" या "अमवाली" का सामान माना जाता और अलग-अलग वस्तुयें अलग-अलग कारखानों में जमा हो जातीं। पोथियां या किताबें होतीं तो पोथीखाने में जातीं, चित्र सूरतखाने में जमा होते और हाथ-मुट्ठी का माल कपड़द्वारा में। अचल सम्पत्ति भी, जैसे घाट का रूपनिवास बाग और टौंक रोड का रामबाग, जो क्रमश: रूपां और केसर बडारणों के थे, राज की ही हो जाती। इन बडारणों के मरने के बाद ही रूपनिवास को रामसिंह ने "राजनिवास" बनाया और रामबाग को गेस्ट हाउस बनाया गया।

35. महाराजा मानसिंह को उनके घनिष्ठ मित्र 'जय' कह कर ही बोलते थे। गायत्री देवी ने अपनी आत्मकथा में भी इसी नाम से उनका उल्लेख किए हैं।
36. ए प्रिंसेस रिमेम्बर्स, गायत्री देवी और शान्ता रामाराव विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि., दिल्ली, 1982, पृष्ठ 157-160
36 वही, पृष्ठ 166

मुगलकाल का कपड़े पर बना एक विशाल वस्त्र-चित्र जो तिब्बती बैनर अथवा जापानी कारीगरी चित्रकला की याद दिलाता है

11.ज्योतिष यंत्रालय-वेधशाल

जयपुर के नगर-प्रासाद में जो महल, मंदिर, बाग-बगीचे और जलाशय हैं उनका अपनी-अपनी ज
महत्व है, लेकिन सवाई जयसिंह के बनवाये हुए ज्योतिष यंत्रालय या वेधशाला का तो अन्तर्राष्ट्रीय महत्व
भारतीय इतिहास के अत्यन्त अंधकारपूर्ण काल में निर्मित यह वेधशाला सोवियत संघ के सोलह प्रजातंत्रों
से एक उजबेकिस्तान के प्राचीन ऐतिहासिक नगर समरकन्द मे वहां के शासक उलुग बेग (1339-1449
द्वारा निर्मित वेधशाला का परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण है, और है खगोल विद्या के पाषाण युग
अन्तिम स्मारक।

अन्तरिक्ष के अध्ययन के लिए 1734 ई. में बनाई गई इस महान वेधशाला का निर्माता अपने विषय
एकाकी चिन्तक या, जैसा जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, "अपने समय की भूल" नहीं था।[1] ज्योतिष अ
गणित के परम्परागत हिन्दू ग्रन्थो से पूर्ण परिचित होने के साथ-साथ उसने इस विषय के यूनानी ग्रन
यूक्लिड तथा सरल और गोलाकार त्रिकोणमिति एवं लघुगणकों की रचना और उनके उपयोग के सम्बन्ध
तत्कालीन यूरोपियन ग्रन्थों का भी अध्ययन कर लिया था, जिनके संस्कृत अनुवाद उन पंडितों और विद्वानों
जिन्हें इस ज्योतिषी नरेश ने "अज्ञान की घाटी और इसकी भूलभुलैया" मे बचने के लिए अपने पास रखा
किये थे।

ऐसी बौद्धिक कुशाग्रता और सत्य को खोजने की लगन के कारण यह सवाई जयसिंह का ही कार्य था
उसने भारतीय ज्योतिष शास्त्र के अध्ययन को संजीवनी दी, पंचांग का परिष्कार किया, नक्षत्रों की
संशोधित सूची बनायी और सूर्य, चन्द्रमा तथा ग्रहों की एक नवीन तालिका प्रस्तुत की, जिससे पूर्व
समरकन्द के ज्योतिषी शासक के निर्णयो मे संशोधन और सुधार हुआ। सवाई जयसिंह के मतानुसार लग
300 वर्षों से सही वेध न किये जाने के कारण उलुग बेग की मान्यतायें विश्वस्त नही रह गई थी।

फिर भी जयसिंह वेध-क्रिया में फारसी और तुर्क ज्योतिषियों के अध्यवसाय और उनकी सावधानी
बहुत प्रभावित था और उनके ठीक-ठीक माप लेने तथा शुद्ध गणना करने की प्रशंसा करता था। यद
उलुगबेग की प्रचलित खगोल गणना को वह "समय की भूल" मानता था, किन्तु उसने समरकन्द के
ज्योतिषी शासक की वेध- प्रणाली को एक बड़ी सीमा तक अपनाया। अमीर तैमूरलंग के पौत्र उलुगबेग
अपना सारा जीवन आकाश का अध्ययन करने में ही खपा दिया था और 1449 ई. में अपने पुत्र के हाथों उस
मृत्यु हुई थी। सवाई जयसिंह ने उलुगबेग की तालिकाओं को ही, जिसने 300 वर्ष पूर्व प्रसिद्ध यूनानी ज्योति

1. हिन्दुस्तान की कहानी, जवाहरलाल नेहरू, कलकत्ता, पृष्ठ 242

पोथीखाने में जमा "अमवाली" सामान से पता चलता है कि ऊंची-ऊंची दीवारों में घिरी जनानी की आवासनियों में अनेक बड़ी कला-प्रिय और संग्रहकर्तृ थीं। माजियों, रानियों और पड़दायतों को धार्मिक किस्से-कहानियों की पुस्तकें पढ़ने का चाव रहता था। पोथीखाने में कई वस्ते ऐसी पुस्तकों से और उन कापियों से भी जिनमें भजन या गीत संग्रहीत हैं। अमवाली सामान में अनेक सुन्दर और सु चित्र भी हैं जो विभिन्न माजियों, रानियों और पड़दायतों ने अपने रावलों में बैठे-बैठे ही जुटाये थे। यह पु और चित्र इन पर्दानशीनों की रुचि और शौक को बताते हैं। आज से पचास बरस पहले तक स्त्रियों अलग-थलग संसार में मनोरंजन के कैसे साधन थे और किस प्रकार वे अपना समय बिताती थीं, यह दिल अध्ययन अमवाली के सामान से किया जा सकता है।

महाराजा रामसिंह के बड़े होने तक पिछले सत्तर सालों में जनानी ड्योढी ने राजकाज में अपने हस्तक्षे गजब ढाया था, किन्तु 1867 ई. में रामसिंह ने जनानी ड्योढी की जबान पर ताला लगा दिया। रामसिं प्रधानमंत्री, ठाकुर फतहसिंह चांपावत ने माजियों, रानियों और पड़दायतों को अपनी-अपनी जागीर के गां में भी स्वच्छंद और स्वेच्छाचारी नहीं रहने दिया। इन गांवों में तब तक राज का हुक्म नहीं चल पाता था माजी या रानी के कामदार ही सर्वेसर्वा हुआ करते थे। रामसिंह के शासन सुधारों ने जनानी ड्योढी के मन हौसले खत्म कर इसे जनाने अन्दाजों तक ही सीमित कर दिया था। रामसिंह ने स्वयं नौ रानियां ब्याहीं किन्तु उसने ड्योढी में पड़दायतों का अपना कोई सिलसिला नहीं रखा। माधोसिंह ने यह खाता फिर खो और ऐसा खोला कि प्रतापसिंह और जगतसिंह का जमाना जैसे फिर लौट आया। 1922 में महाराजा मानसिं के गद्दीनशीन होने के साथ यह पुराना जमाना सदा-सदा के लिये बीत गया। इस अंतिम शासनारूढ राजा दो रानियां तो जोधपुर से आई थीं। वे दोनों जनानी ड्योढी में कम ही रहीं और कूचबिहार से आने वाली तीस महारानी (वर्तमान राजमाता गायत्री देवी) ने तो पर्दा भी छोड़ दिया। राजमाता गायत्री देवी दो बार लोकस में जयपुर का प्रतिनिधित्व कर चुकी हैं। लोकतंत्र में उनकी यह हैसियत उनकी अपनी मेहनत औ लोकप्रियता का फल था।

अपना सारा जीवन जनानी ड्योढी की बंद उपनगरी में काट देने वाली चंद औरतें आज भी वहीं बैठी हैं इनमें माधोसिंह की एकमात्र जीवित पड़दायत मालतीरायजी भी हैं जो शायद अपने जीवन के नब्बे बसन देख चुकी है। जनानी ड्योढी में दो-तीन बार जाने का अवसर पाने वाली एक महिला के अनुसा मालतीरायजी अपने रावळे में रहती ही हैं। राजमाता गायत्रीदेवी का रावळा भी अपनी जगह आज भी आबाद है, हालांकि राजमाता वहां औपचारिक अवसरों पर ही जाती हैं। कर्नल भवानीसिंह की पत्नी वर्तमान महारानी पद्मिनी देवी (सिरमूर-नाहन) का रावला तो आज भी पूरी तरह सजीव है। इन तीन रावलों के पीछे पन्द्रह-बीस बाइयों की आजीविका चल रही है। जागीरदारी प्रथा का कभी का अन्त हो गया, अतः मालतीरायजी को अब 472 रु. माहवार सरकार से मिलता है। 1944 से पहले इन बाइयों-सेविकाओं-परिचारिकाओं को आठ से पन्द्रह रुपये तक माहवार वेतन मिलता था, किन्तु अब किसी को भी सौ रुपये से कम नहीं मिलता-इस राशि में जो कमी रहती है, वह महाराजा मानसिंह के पुत्र कर्नल भवानीसिंह अपनी जेब से देकर इन अबलाओं का भरण-पोषण कर रहे हैं।

महाराजा रामसिंहजी की माता माजी चन्द्रावतजी का रावला 'रसिकप्रिया' के बारहमासे और "रसिक प्रिया" के आधार पर बनाये गये भित्तिचित्रों से अलंकृत है। कुल मिलाकर जनानी ड्योढी अब सूनी है, रावळे रीते और उदास हैं। बड़ी-बड़ी शानदार रहने लायक हवेलियां-अटारियां, लेकिन सब खाली—एक इमारती वीराना, जो दिन में भी सांय-सांय करता है।

पहली वेधशाला 1724 ई. में दिल्ली में बनायी गयी और इसके दस वर्ष बाद जयपुर में वेधशाला बनी। लगभग 15 वर्षों के भीतर उज्जैन, बनारस और मथुरा मे तीन और वेधशालाये खड़ी की गई। इन सबमें जयपुर की वेधशाला सबसे विशाल और संपूर्ण होने के साथ-साथ आज भी बड़ी सुरक्षित अवस्था मे है। जयपुर तथा दिल्ली, दोनों ही वेधशालाओं मे प्राचीन पद्धतियों के प्रसिद्ध यन्त्रों के साथ अधिक शुद्ध निष्कर्ष निकालने की दृष्टि से स्वयं जयसिंह द्वारा आविष्कृत तीन यंत्र—सम्राट, जयप्रकाश और रामयंत्र— भी हैं, जिनकी सामान्य शुद्धता आधुनिक वैज्ञानिकों को भी विस्मित करती है।

जयपुर में धर्म और शास्त्र की गंगा-यमुना में विज्ञान की सरस्वती मिलाकर सवाई जयसिंह ने जो त्रिवेणी-संगम किया, वह इस वेधशाला से आज भी प्रकट है। धर्म के मामले में जयसिंह कट्टर हिन्दू था, लेकिन अंतरिक्ष का अध्ययन करने में वह हिन्दू भी था, मुसलमान भी और ईसाई भी। दूसरे शब्दो मे वह मात्र वैज्ञानिक था और उसका दृष्टिकोण खगोल विद्या और ज्योतिष की सभी परम्पराओं में जो सबसे अच्छा था, उसे ग्रहण कर अपना रास्ता स्वयं बनाने का था। उसने स्वयं लिखा है कि ज्योतिष विज्ञान के सिद्धान्त और नियमों का उसने निरन्तर गहराई के साथ अध्ययन किया और अपने परिणामों को वेधक्रिया अथवा स्वयं अपनी आंखो से देखने की कसौटी पर परखा। किसी भी वैज्ञानिक का इससे अधिक तात्विक दृष्टिकोण और क्या हो सकता है!

जयसिंह के आविष्कृत यंत्रो मे पहला "सम्राट यंत्र" है जो इस वेधशाला मे सबसे बड़ा और सबसे ऊंचा यंत्र है। इसकी चोटी ठीक आकाशीय ध्रुव को सूचित करती है। ऊपर चढ़ने की सीढ़ियों के दोनों ओर की दीवारों के बाहरी किनारे पृथ्वी की धुरी के समानान्तर हैं और इनकी परछाही से सवेरे के समय यंत्र की पश्चिमी और तीसरे पहर पूर्वी भुजाओं पर, जो बेलनाकार हैं और जिन पर घंटे, मिनट, चौथाई मिनट, घड़ी और पल के चिन्ह भी अंकित हैं, समय पढ़ा जा सकता है। दो सदियां बीत जाने पर भी सम्राट अभी तक शुद्ध समय जानने का एक आश्चर्यजनक साधन बना हुआ है।

"जयप्रकाश" यंत्र मे दो नतोदरीय अर्द्धगोल हैं। दोनों अर्द्धगोल मिलकर आकाशीय गोल के आधे भाग के प्रतीक हैं। अर्द्धगोल में अनेक बारीक चिन्ह बने हुए हैं, जिनसे उन्नतांश, दिगंश, रेखांश, अक्षांश, क्रान्ति और राशियो का पता चलता है। तथाकथित गोल सिद्धान्त और सूर्य की गति के दिग्दर्शन के लिए यह जयप्रकाश एक आदर्श यंत्र है।

जयसिंह के तीसरे आविष्कार "रामयंत्र" में दो गोलाकार दीवारें हैं जो एक दूसरे की पूरक हैं। दोनों दीवारो के केन्द्र अथवा बीच मे एक-एक स्तम्भ है जिनके पार्श्व मे दृश्य वस्तु देखी जाती है। इससे उन्नतांश और दिगंश पढ़े जाते हैं तथा नक्षत्रों का अवलोकन किया जाता है। जयसिंह ने इसी से अपनी प्रसिद्ध तालिका "जीज मुहम्मदशाही" बनाई थी जो वस्तुत: उलुग बेग की तालिका का संशोधन एवं परिष्कार थी।

इन तीन यंत्रों के अतिरिक्त और भी अनेक यंत्र हैं, सब पत्थर-चूने से बने हुए। उनमें आकाशीय अक्षांश तथा देशांतर का ज्ञान कराने वाला 12 छोटे यंत्रो का समूह "राशिवलय यंत्र," मध्यान्ह सूर्य का उन्नतांश बताने वाला "दक्षिणवृत्ति यंत्र" और "यंत्रराज" मुख्य हैं। यंत्रराज उन थोड़े से धातु यंत्रों में से एक है, जिसे जयसिंह ने अपनाया था और ऐसे यंत्रो का विरोध करने के बावजूद इसके सिद्धान्त और उपयोग पर एक पुस्तक "यंत्रराज- कारिका" लिखवाई थी। यह आकाशीय गोल के मध्य भागों का प्रतिनिधि है और इससे उन्नतांश, दिगंश, अक्षांश, देशान्तर और नक्षत्रों व ग्रहो के काल एवं स्थिति सम्बन्धी अनेक समस्याओं का समाधान होता है।

यह उल्लेखनीय है कि उजबेकिस्तान के सोवियत समाजवादी प्रजातंत्र के अधिकारी समरकन्द में उलुग बेग की प्रसिद्ध वेधशाला का भी, जो सवाई जयसिंह की वेधशालाओं के विकास की एक अनिवार्य एवं

टोलेमी की तालिकाओं "सिनटेक्सिस" अथवा "अलमजेस्ती" का परिष्कार किया था, अपने अनुसंधान और प्रयोगों का आधार बनाया। जयसिंह की सुविख्यात पण्डित-मण्डली के एक विद्वान गुजराती ब्राह्मण पण्डित केवलराम ने "तारा सारणी" के नाम से उलुगबेग की तालिकाओं का संस्कृत में अनुवाद किया। यही नहीं, जयसिंह ने "एस्ट्रोलेब" तथा ऐसे ही अन्य यंत्रों का भी पूर्ण उपयोग किया, जो उलुगबेग तथा पूर्ववर्ती अरब एवं मुसलमान ज्योतिषियों को बहुत प्रिय थे। किन्तु शीघ्र ही जयसिंह धातु के यंत्रों के परिणामों के विषय में सशंकित हो गया, क्योंकि "अपनी यांत्रिक अपूर्णता और अशुद्धता के कारण इनसे कभी सही परिणाम नहीं निकल सकते थे।" अतः उसने पहले यंत्रों का सुधार करने का निश्चय किया और इसके लिये राजसी पैमाने पर वृहदाकार पक्के पाषाण-यंत्र चुने। दिल्ली के मुगल सम्राट मुहम्मदशाह की अनुमति और सहमति से जयसिंह ने प्रमुख नगरों में वेध-शालायें स्थापित करने का निश्चय किया और इस प्रकार प्रत्येक वेधशाला में की जाने वाली गणना दूसरी वेधशाला के परिणामों से मिलाने और नियमित रूप से समय-समय पर उनकी जांच करने का कम आरम्भ किया। वह अपनी वेधशालाओं को नियमित और व्यापक अनुसंधान का स्थायी साधन बनाना चाहता था।

पहली वेधशाला 1724 ई. में दिल्ली में बनायी गयी और इसके दस वर्ष बाद जयपुर में वेधशाला बनी। लगभग 15 वर्षों के भीतर उज्जैन, बनारस और मथुरा में तीन और वेधशालायें खड़ी की गईं। इन सबमे जयपुर की वेधशाला सबमे विशाल और संपूर्ण होने के साथ-साथ आज भी बड़ी सुरक्षित अवस्था में है। जयपुर तथा दिल्ली, दोनों ही वेधशालाओं में प्राचीन पद्धतियों के प्रसिद्ध यंत्रों के साथ अधिक शुद्ध निष्कर्ष निकालने की दृष्टि से स्वयं जयसिंह द्वारा आविष्कृत तीन यंत्र–सम्राट, जयप्रकाश और रामयंत्र– भी हैं, जिनकी सामान्य शुद्धता आधुनिक वैज्ञानिकों को भी विस्मित करती है।

जयपुर मे धर्म और शास्त्र की गंगा-यमुना में विज्ञान की सरस्वती मिलाकर सवाई जयसिंह ने जो त्रिवेणी-संगम किया, वह इस वेधशाला से आज भी प्रकट है। धर्म के मामले में जयसिंह कट्टर हिन्दू था, लेकिन अंतरिक्ष का अध्ययन करने में वह हिन्दू भी था, मुसलमान भी और ईसाई भी। दूसरे शब्दों में वह मात्र वैज्ञानिक था और उसका दृष्टिकोण खगोल विद्या और ज्योतिष की सभी परम्पराओं में जो सबसे अच्छा था, उसे ग्रहण कर अपना रास्ता स्वयं बनाने का था। उसने स्वयं लिखा है कि ज्योतिष विज्ञान के सिद्धान्त और नियमों का उसने निरन्तर गहराई के साथ अध्ययन किया और अपने परिणामों को वेधक्रिया अथवा स्वयं अपनी आंखो से देखने की कसौटी पर परखा। किसी भी वैज्ञानिक का इससे अधिक तात्विक दृष्टिकोण और क्या हो सकता है!

जयसिंह के आविष्कृत यंत्रों में पहला "सम्राट यंत्र" है जो इस वेधशाला में सबसे बड़ा और सबसे ऊंचा यंत्र है। इसकी चोटी ठीक आकाशीय ध्रुव को सूचित करती है। ऊपर चढ़ने की सीढ़ियों के दोनों ओर की दीवारों के बाहरी किनारे पृथ्वी की धुरी के समानान्तर हैं और इनकी परछाई से सवेरे के समय यंत्र की पश्चिमी और तीसरे पहर पूर्वी भुजाओं पर, जो वेलनाकार हैं और जिन पर घंटे, मिनट, चौथाई मिनट, घड़ी और पल के चिन्ह भी अंकित हैं, समय पढ़ा जा सकता है। दो सदियां बीत जाने पर भी सम्राट अभी तक शुद्ध समय जानने का एक आश्चर्यजनक साधन बना हुआ है।

महत्वपूर्ण कड़ी है, जीर्णोद्धार करा चुके हैं। धातु और शीशे के आधुनिकतम सूक्ष्म यंत्रों और टेलिस्कोप के उपयोग के सामने उलूग बेग और जयसिंह की ये वेधशालाएं भारी-भरकम और अनुपयुक्त प्रतीत हो सकती हैं, किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि अपने समय में यही वेधशालाएं अपूर्व और नवीनतम थीं। भारतीय ज्योतिष विज्ञान के पुनरुद्धार और ऐसे समय में जबकि यूरोप आधुनिक ज्योतिष विज्ञान के सिद्धांतों को मूर्त्तरूप देने के लिये अपने विचारों को शृंखलाबद्ध ही कर रहा था, इस प्राचीनतम विद्या के अध्ययन को नई गति और बल प्रदान करने का बहुत बड़ा श्रेय सवाई जयसिंह को है, इसमें संदेह नहीं। पंचांगों की अपेक्षा वेधक्रिया को अधिक प्रामाणिक मानने वाले, अपरिमित एवं असीम ब्रह्माण्ड के इस विद्यार्थी के लिए सहज ही यह कल्पना की जा सकती है कि यदि विज्ञान के आधुनिक उपकरण उसकी सहायता के लिए उपलब्ध रहते तो उसकी असाधारण प्रतिभा ने न जाने क्या-क्या चमत्कार बताये होते! उसकी वेधशाला के विविध यंत्रों को देखते हुए अठारहवीं सदी के चौथे दशक के उन दिनों की कल्पना की जा सकती है जब जय[illegible] का संस्थापक यह ज्योतिषी शासक यहां असीम आकाश के अध्ययन में जुटा रहता था और कभी कोई [illegible] गणितज्ञ, कभी कोई जर्मन विद्वान तो कभी कोई पाश्चात्य खगोल शास्त्री वैज्ञानिक उससे और [illegible] वृहद् मंडली से परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करता था। जयसिंह के जीवन-काल में यह [illegible] सचमुच एक अंतर्राष्ट्रीय मंच जैसी हो गई थी जहां ज्योतिष विज्ञान के जानने वाले बराबर आने और [illegible] विनिमय करते थे। बड़े-बड़े नामी दर्शनीय स्थानों से भरपूर जयपुर में अकेली यह वेधशाला ही [illegible] सिक स्मारक है जो इस शहर की कीर्त्ति को विश्व-व्यापी बनाए हुए है और बनाये रखेगी।

सवाई जयसिंह की इस वेधशाला पर अनेक अच्छी-अच्छी पुस्तकें उप[illegible]ध हैं [illegible] इसके यंत्रों तथा उनके उपयोग के सम्बन्ध में विस्तार से जानना चाहें, उन्हें कैप्टेन गैर[illegible] 'दि [illegible] ब्जरवेटरी एण्ड इट्स बिल्डर' (1902) देखनी चाहिये।

सम्राट यंत्र का शीर्ष, जो आकाशीय ध्रुव का सूचक है

12. हवामहल

जयपुर के गुलाबी शहर को देखने के लिये हर साल दुनिया भर से जो हजारों पर्यटक खिंचे चले आते हैं उसके पीछे खुला राज है–हवामहल। जैसे खादी का नाम लेते ही चरखा याद आ जाता है, वैसे ही जयपुर के नाम के साथ हवामहल की बुलन्द इमारत अपने आप आंखों के सामने खड़ी हो जाती है। देश भर में रेल्वे स्टेशनों और अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डों के प्रतीक्षालयों में टंगे हुए इस भव्य प्रासाद के चित्र देखकर ही न जाने कितने भारतीय और विदेशी पर्यटक इस गुलाबी नगर की यात्रा करने और गुलाबी आभा से अलंकृत पांच मंजिल की इस शिल्पकृति के ललित सौन्दर्य को निहारने के लिये प्रेरित हो जाते हैं।

"नयनाभिराम शिल्प-सज्जा से सम्पन्न झूलते हुए झीने झरोखों और वितानयुक्त वातायनों का एक के ऊपर एक मंडराती हुई अवलियों से शृङ्गाकार स्वरूप का यह प्रासाद सहज सुषमा एवं मर्मर का एक पर्वत-सा प्रतीत होता है, जिसकी सहस्रों जालियों और वृत्ताकार मेहराबों में होकर अथवा अट्टालिकाओं की छतों पर भारतीय समीरण उन्मुक्तभाव से शीतलता की लहरियों का संचार करता है।"

हवामहल की सुन्दरता का यह वर्णन सर एड्विन आर्नोल्ड ने किया है। सर एड्विन का सारा जीवन इंग्लैण्ड के लिये भारत की विद्याओं और उनके रहस्यों के उद्घाटन के लिए समर्पित था, "क्योंकि भारत भी उसे उतना ही प्रिय था जितना इंग्लैंड।" हवामहल की प्रशस्ति में उसने आगे कहा है कि "अलादीन का जादूगर इससे अधिक मोहक निवास-स्थान की सृष्टि नहीं कर सकता था और न ही पेरीबेनान का रत्न-मुक्तामहल इससे अधिक सुरम्य रहा होगा।"

फिर भी जयपुर में जिन्हें कुछ अधिक रहने और हवामहल से सान्निध्य प्राप्त करने का अवसर मिलता है, उन्हें इस अति प्रसिद्ध राजप्रासाद की भारी उदासी खली हो जाती है और वे आश्चर्य करते हैं कि आखिर इस चूने-पत्थर की इमारत में, जिसमें न कहीं नक्काशी है और न कोई अन्य अलंकरण, ऐसा क्या है जो यह जयपुर के महत्त्व की नाक बनी हुई है! राजस्थानी कहावत, "रूप की रोवे, करम की खाय" हवामहल पर जैसे सोलहों आने सही उतरती है। इसी जयपुर में आमेर के नयनाभिराम दुर्ग-प्रासाद और चन्द्रमहल, मुबारक महल तथा केन्द्रीय सचिवालय की आलीशान इमारतें खड़ी हैं, लेकिन हवामहल [illegible]

महत्वपूर्ण कड़ी है, जीर्णोद्धार करा चुके हैं। धातु और शीशे के आधुनिकतम सूक्ष्म यंत्रों और टेलिस्कोपों [illegible] उपयोग के सामने उलुग बेग और जयसिंह की वेधशालाएं भारी-भरकम और अनुपयुक्त प्रतीत हो सकती हैं किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि अपने समय में यही वेधशालाएं अपूर्व और नवीनतम थीं। भारतीय ज्योतिष विज्ञान के पुनरुद्धार और ऐसे समय में जबकि यूरोप आधुनिक ज्योतिष विज्ञान के सिद्धांतों को मूर्तरूप देने के लिये अपने विचारों को शृंखलाबद्ध ही कर रहा था, इस प्राचीनतम विद्या के अध्ययन को नई गति और [illegible] प्रदान करने का बहुत बड़ा श्रेय सवाई जयसिंह को है, इसमें संदेह नहीं। पंचांगों की अपेक्षा वेधक्रिया को अधिक प्रामाणिक मानने वाले, अपरिमित एवं असीम ब्रह्माण्ड के इस विद्यार्थी के लिए सहज ही यह कल्पना की जा सकती है कि यदि विज्ञान के आधुनिक उपकरण उसकी सहायता के लिए उपलब्ध रहते तो उसकी असाधारण प्रतिभा ने न जाने क्या-क्या चमत्कार बताये होते! उसकी वेधशाला के विविध यंत्रों को देखते हुए अठारहवीं सदी के चौथे दशक के उन दिनों की कल्पना की जा सकती है जब जय[illegible] का संस्थापक यह ज्योतिषी शासक यहां असीम आकाश के अध्ययन में जुटा रहता था और कभी कोई [illegible] गणितज्ञ, कभी कोई जर्मन विद्वान तो कभी कोई पाश्चात्य खगोल शास्त्री वैज्ञानिक उसमें और उसकी [illegible] विद्वद् मंडली से परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करता था। जयसिंह के जीवन-काल में यह [illegible] सचमुच एक अंतर्राष्ट्रीय मंच जैसी हो गई थी जहां ज्योतिष विज्ञान के जानने वाले बराबर आने [illegible] विनिमय करते थे। बड़े-बड़े नामी दर्शनीय स्थानों से भरपूर जयपुर में अकेली यह वेधशाला ही [illegible] स्मारक है जो इस शहर की कीर्त्ति को विश्व-व्यापी बनाए हुए है और बनाये रखेगी।

सवाई जयसिंह की इस वेधशाला पर अनेक अच्छी-अच्छी पुस्तकें उपलब्ध हैं। [illegible] इनके यंत्रों तथा उनके उपयोग के सम्बन्ध में विस्तार से जानना चाहें, उन्हें कैप्टेन गैरेट [illegible] दि [illegible] ऑब्ज़रवेटरी एण्ड इट्स बिल्डर' (1902) देखनी चाहिये।

सम्राट यंत्र का शीर्ष, जो आकाशीय ध्रुव का सूचक है

महत्वपूर्ण कड़ी है, जीर्णोद्धार करा चुके हैं। धातु और शीशे के आधुनिकतम सूक्ष्म यंत्रों और टेलिस्कोप के उपयोग के सामने उलूग बेग और जयसिंह की वेधशालाएं भारी-भरकम और अनुपयुक्त प्रतीत हो सकती हैं, किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि अपने समय में यही वेधशालाएं अपूर्व और नवीनतम थीं। भारतीय ज्योतिष विज्ञान के पुनरुद्धार और ऐसे समय में जबकि यूरोप आधुनिक ज्योतिष विज्ञान के सिद्धांतों को मूर्तरूप देने के लिये अपने विचारों को शृंखलाबद्ध ही कर रहा था, इस प्राचीनतम विद्या के अध्ययन को नई गति और बल प्रदान करने का बहुत बड़ा श्रेय सवाई जयसिंह को है, इसमें संदेह नहीं। पंचांगों की अपेक्षा वेधक्रिया को अधिक प्रामाणिक मानने वाले, अपरिमित एवं असीम ब्रह्माण्ड के इस विद्यार्थी के लिए सहज ही यह कल्पना की जा सकती है कि यदि विज्ञान के आधुनिक उपकरण उसकी सहायता के लिए उपलब्ध रहते तो उसकी असाधारण प्रतिभा ने न जाने क्या-क्या चमत्कार बताये होते! उसकी वेधशाला के विविध यंत्रों को देखते हुए अठारहवीं सदी के चौथे दशक के उन दिनों की कल्पना की जा सकती है जब जयपुर [illegible] संस्थापक यह ज्योतिषी शासक यहां असीम आकाश के अध्ययन में जुटा रहता था और कभी कोई [illegible] गणितज्ञ, कभी कोई जर्मन विद्वान तो कभी कोई पाश्चात्य खगोल शास्त्री वैज्ञानिक उससे और उसकी विद्वद् मंडली से परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करता था। जयसिंह के जीवन-काल में यह [illegible] सचमुच एक अंतर्राष्ट्रीय मंच जैसी हो गई थी जहां ज्योतिष विज्ञान के जानने वाले बराबर आते [illegible]-विनिमय करते थे। बड़े-बड़े नामी दर्शनीय स्थानों से भरपूर जयपुर में अकेली यह वेधशाला ही [illegible]मिक स्मारक है जो इस शहर की कीर्ति को विश्व-व्यापी बनाए हुए है और बनाये रखेगी।

सवाई जयसिंह की इस वेधशाला पर अनेक अच्छी-अच्छी पुस्तकें उप[illegible]ध हैं [illegible] इसके यंत्रों तथा उनके उपयोग के सम्बन्ध में विस्तार से जानना चाहें, उन्हें कैप्टेन गैर[illegible] 'दि [illegible] ऑब्जरवेटरी एण्ड इट्स बिल्डर' (1902) देखनी चाहिये।

महत्वपूर्ण कड़ी है, जीर्णोद्धार करा चुके हैं। धातु और शीशे के आधुनिकतम सूक्ष्म यंत्रों और टेलिस्कोप के उपयोग के सामने उलूग बेग और जयसिंह की वेधशालाएं भारी-भरकम और अनुपयुक्त प्रतीत हो सकती हैं, किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि अपने समय में यही वेधशालाएं अपूर्व और नवीनतम थीं। भारतीय ज्योतिष विज्ञान के पुनरुद्धार और ऐसे समय मे जबकि यूरोप आधुनिक ज्योतिप विज्ञान के सिद्धांतों को मूर्तरूप देने के लिये अपने विचारों को शृंखलाबद्ध ही कर रहा था, इस प्राचीनतम विद्या के अध्ययन को नई गति और बल प्रदान करने का बहुत बड़ा श्रेय सवाई जयसिंह को है, इसमें संदेह नहीं। पंचांगों की अपेक्षा वेधक्रिया को अधिक प्रामाणिक मानने वाले, अपरिमित एवं असीम ब्रह्माण्ड के इस विद्यार्थी के लिए सहज ही यह कल्पना की जा सकती है कि यदि विज्ञान के आधुनिक उपकरण उसकी सहायता के लिए उपलब्ध रहते तो उसकी असाधारण प्रतिभा ने न जाने क्या-क्या चमत्कार बताये होते! उसकी वेधशाला के विविध यंत्रों को देखते हुए अठारहवीं सदी के चौथे दशक के उन दिनों की कल्पना की जा सकती है जब जयपुर का संस्थापक यह ज्योतिपी शासक यहां असीम आकाश के अध्ययन में जुटा रहता था और कभी कोई [illegible] गणितज्ञ, कभी कोई जर्मन विद्वान तो कभी कोई पाश्चात्य खगोल शास्त्री वैज्ञानिक उससे और उसकी विद्वद् मंडली से परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करता था। जयसिंह के जीवन-काल में यह [illegible] सचमुच एक अंतर्राष्ट्रीय मंच जैसी हो गई थी जहां ज्योतिष विज्ञान के जानने वाले बराबर आते और [illegible] विनिमय करते थे। बड़े-बडे नामी दर्शनीय स्थानों से भरपूर जयपुर में अकेली यह वेधशाला ही [illegible] सिक स्मारक है जो इस शहर की कीर्ति को विश्व-व्यापी बनाएं हुए है और बनाये रखेगी।

सवाई जयसिंह की इस वेधशाला पर अनेक अच्छी-अच्छी पुस्तकें उपलब्ध हैं [illegible] उसके यंत्रों तथा उनके उपयोग के सम्बन्ध में विस्तार से जानना चाहें, उन्हें कैप्टेन गैरेट की 'दि [illegible] ब्जरवेटरी एण्ड इट्स बिल्डर' (1902) देखनी चाहिये।

महत्वपूर्ण कडी है, जीर्णोद्वार करा चुके हैं। धातु और शीशे के आधुनिकतम सूक्ष्म यंत्रों और टेलिस्कोप के उपयोग के सामने उत्तुंग थेग और जयसिंह की वेधशालाएं भारी-भरकम और अनुपयुक्त प्रतीत हो सकती हैं, किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि अपने समय में यही वेधशालाएं अपूर्व और नवीनतम थीं। भारतीय ज्योतिष विज्ञान के पुनरुद्धार और ऐसे समय में जबकि यूरोप आधुनिक ज्योतिष विज्ञान के सिद्धांतों को मूर्तरूप देने के लिये अपने विचारों को शृंखलाबद्ध ही कर रहा था, इस प्राचीनतम विद्या के अध्ययन को नई गति और बल प्रदान करने का बहुत बडा श्रेय सवाई जयसिंह को है, इसमें संदेह नहीं। पचांगों की अपेक्षा वेधक्रिया को अधिक प्रामाणिक मानने वाले, अपरिमित एवं असीम ब्रहमाण्ड के इस विद्यार्थी के लिए सहज ही यह कल्पना की जा सकती है कि यदि विज्ञान के आधुनिक उपकरण उसकी सहायता के लिए उपलब्ध रहते तो उसकी असाधारण प्रतिभा ने न जाने क्या-क्या चमत्कार बताये होते! उसकी वेधशाला के विविध यंत्रों को देखते हुए अठारहवीं सदी के चौथे दशक के उन दिनों की कल्पना की जा सकती है जब जय[illegible] संस्थापक यह ज्योतिषी शासक यहां असीम आकाश के अध्ययन में जुटा रहता था और कभी कोई [illegible] गणितज्ञ, कभी कोई जर्मन विद्वान तो कभी कोई पाश्चात्य खगोल शास्त्री वैज्ञानिक उससे और [illegible] विद्वद् मंडली से परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करता था। जयसिंह के जीवन-काल में यह [illegible] सचमुच एक अंतर्राष्ट्रीय मंच जैसी हो गई थी जहां ज्योतिष विज्ञान के जानने वाले बराबर आने [illegible] विनिमय करते थे। बड़े-बडे नामी दर्शनीय स्थानों से भरपूर जयपुर में अकेली यह वेधशाला ही [illegible] स्मारक है जो इस शहर की कीर्त्ति को विश्व-व्यापी बनाए हुए है और बनाये रखेगी।

सवाई जयसिह की इस वेधशाला पर अनेक अच्छी-अच्छी पुस्तकें उप[illegible] हैं [illegible] इसके यंत्रों तथा उनके उपयोग के सम्बन्ध में विस्तार से जानना चाहें, उन्हें कैप्टेन [illegible] 'दि [illegible] ब्जरवेटरी एण्ड इट्स बिल्डर' (1902) देखनी चाहिये।

सम्राट यंत्र का शीर्ष, जो आकाशीय ध्रुव का सूचक है

महत्वपूर्ण कड़ी है, जीर्णोद्धार करा चुके हैं। धातु और शीशे के आधुनिकतम सूक्ष्म यंत्रों और टेलिस्कोप के उपयोग के सामने उलूग बेग और जयसिंह की वेधशालाएं भारी-भरकम और अनुपयुक्त प्रतीत हो सकती हैं, किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि अपने समय में यही वेधशालाएं अपूर्व और नवीनतम थीं। भारतीय ज्योतिष विज्ञान के पुनरुद्धार और ऐसे समय में जबकि यूरोप आधुनिक ज्योतिष विज्ञान के सिद्धांतों को मूर्तरूप देने के लिये अपने विचारों को शृंखलाबद्ध ही कर रहा था, इस प्राचीनतम विद्या के अध्ययन को नई गति और बल प्रदान करने का बहुत बड़ा श्रेय सवाई जयसिंह को है, इसमें संदेह नहीं। पंचांगों की अपेक्षा वेधक्रिया को अधिक प्रामाणिक मानने वाले, अपरिमित एवं असीम ब्रह्माण्ड के इस विद्यार्थी के लिए सहज ही यह कल्पना की जा सकती है कि यदि विज्ञान के आधुनिक उपकरण उसकी सहायता के लिए उपलब्ध रहते तो उसकी असाधारण प्रतिभा ने न जाने क्या-क्या चमत्कार बताये होते! उसकी वेधशाला के विविध यंत्रों को देखते हुए अठारहवीं सदी के चौथे दशक के उन दिनों की कल्पना की जा सकती है जब जयपुर का संस्थापक यह ज्योतिपी शासक यहां असीम आकाश के अध्ययन में जुटा रहता था और कभी कोई [illegible] गणितज्ञ, कभी कोई ज़र्मन विद्वान तो कभी कोई पाश्चात्य खगोल शास्त्री वैज्ञानिक उससे और उसकी विद्वद् मंडली से परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करता था। जयसिंह के जीवन-काल में यह [illegible] सचमुच एक अंतर्राष्ट्रीय मंच जैसी हो गई थी जहां ज्योतिष विज्ञान के जानने वाले बराबर आते और [illegible] विनिमय करते थे। बड़े-बड़े नामी दर्शनीय स्थानों से भरपूर जयपुर में अकेली यह वेधशाला ही [illegible] स्मारक है जो इस शहर की कीर्ति को विश्व-व्यापी बनाए हुए है और बनाये रखेगी।

सवाई जयसिंह की इस वेधशाला पर अनेक अच्छी-अच्छी पुस्तकें उपलब्ध हैं [illegible] इसके यंत्रों तथा उनके उपयोग के सम्बन्ध में विस्तार से जानना चाहें, उन्हें कैप्टेन [illegible] 'दि [illegible] आब्जरवेटरी एण्ड इट्स बिल्डर' (1902) देखनी चाहिये।

12. हवामहल

जयपुर के गुलाबी शहर को देखने के लिये हर साल दुनिया भर से जो हजारों पर्यटक खिंचे चले आते हैं उसके पीछे खुला राज है—हवामहल। जैसे खादी का नाम लेते ही चर्खा याद आ जाता है, वैसे ही जयपुर के नाम के साथ हवामहल की बुलन्द इमारत अपने आप आंखों के सामने खड़ी हो जाती है। देश भर में रेल्वे स्टेशनों और अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डों के प्रतीक्षालयों में टंगे हुए इस भव्य प्रासाद के चित्र देखकर ही न जाने कितने भारतीय और विदेशी पर्यटक इस गुलाबी नगर की यात्रा करने और गुलाबी आभा से अलंकृत पांच मंजिल की इस शिल्पकृति के ललित सौन्दर्य को निहारने के लिये प्रेरित हो जाते हैं।

"नयनाभिराम शिल्प-सज्जा से सम्पन्न झूलते हुए झीने झरोखों और वितानयुक्त वातायनों का एक के ऊपर एक सरसाती हुई अवलियों से शुण्डाकार स्वरूप का यह प्रासाद महज सुषमा एवं समीर का एक पर्वत-सा प्रतीत होता है, जिसकी सहस्रों जालियों और वृत्ताकार मेहराबों में होकर अधिकांश अट्टालिकाओं की छतों पर भारतीय समीरण उन्मुक्तभाव से शीतलता की लहरियों का सचार करता है।"

हवामहल की सुन्दरता का यह वर्णन सर एडविन आर्नोल्ड ने किया है। सर एडविन का सारा जीवन [illegible] के उद्घाटन के लिए समर्पित था, "क्योंकि भारत की [illegible] प्रशस्ति में उसने आगे कहा है कि "अलादीन का [illegible] ही कर सकता था और न ही पेरीबैनाऊ का स्वप्न-

महत्वपूर्ण कड़ी है, जीर्णोद्धार करा चुके हैं। धातु और शीशे के आधुनिकतम सूक्ष्म यंत्रों और टेलिस्कोप
उपयोग के सामने उलूग बेग और जयसिह की वेधशालाएं भारी-भरकम और अनुपयुक्त प्रतीत हो सकती हैं
किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि अपने समय में यही वेधशालाएं अपूर्व और नवीनतम थीं। भारतीय ज्योति
विज्ञान के पुनरुद्धार और ऐसे समय में जबकि यूरोप आधुनिक ज्योतिष विज्ञान के सिद्धांतों को मूर्तरूप देने
लिये अपने विचारों को शृंखलाबद्ध ही कर रहा था, इस प्राचीनतम विद्या के अध्ययन को नई गति और ब
प्रदान करने का बहुत बड़ा श्रेय सवाई जयसिंह को है, इसमें संदेह नहीं। पंचांगों की अपेक्षा वेधक्रिया
अधिक प्रामाणिक मानने वाले, अपरिमित एवं असीम ब्रह्माण्ड के इस विद्यार्थी के लिए सहज ही यह कल्प
की जा सकती है कि यदि विज्ञान के आधुनिक उपकरण उसकी सहायता के लिए उपलब्ध रहते तो उस
असाधारण प्रतिभा ने न जाने क्या-क्या चमत्कार बताये होते! उसकी वेधशाला के विविध यंत्रों को देखने
अठारहवीं सदी के चौथे दशक के उन दिनों की कल्पना की जा सकती है जब जयपुर का संस्थापक
ज्योतिषी शासक यहां असीम आकाश के अध्ययन में जुटा रहता था और कभी कोई ... गणितज्ञ,
कोई जर्मन विद्वान तो कभी कोई पाश्चात्य खगोल शास्त्री वैज्ञानिक उससे और उसकी विद्वद् मंड
परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करता था। जयसिंह के जीवन-काल में यह ... सचमुच
अंतर्राष्ट्रीय मंच जैसी हो गई थी जहां ज्योतिष विज्ञान के जानने वाले बराबर आने और विच... विनिमय
थे। बड़े-बड़े नामी दर्शनीय स्थानों से भरपूर जयपुर में अकेली यह वेधशाला ही ... निक स्म
जो इस शहर की कीर्त्ति को विश्व-व्यापी बनाए हुए है और बनाये रखेगी।

सवाई जयसिंह की इस वेधशाला पर अनेक अच्छी-अच्छी पुस्तकें उपलब्ध हैं ... इसके यं
उनके उपयोग के सम्बन्ध में विस्तार से जानना चाहें, उन्हें कैप्टेन गैरट ... 'दि ... ब्जरवेट
इट्स बिल्डर' (1902) देखनी चाहिये।

सम्राट यंत्र का शीर्ष, जो आकाशीय ध्रुव का सूचक है

सवाई प्रतापसिंह 1778 ई. में [illegible] जयपुर की राजगद्दी पर बैठा था। नाबालिग राजा की ओर से सारा राज-काज राजमाता चूडावतजी चलाती थी जो फीरोज नामक एक फीलवान (महावत) और खुशालीराम बोहरा पर बड़ी कृपा रखती थी। कर्नल टाड ने लिखा है कि प्रतापसिंह एक धीर-वीर शासक था लेकिन उसके राज्य की आंतरिक फूट और षड़यंत्र तथा बाहरी दुश्मनों से निपटने के लिए यह धीरता और वीरता, दोनो ही कम पड़ते थे। फीरोज और बोहरा की आपसी कशमकश ने जयपुर की उलझनों को और बढ़ा दिया और नौजवान प्रतापसिंह जिन्दगी भर मरहठा हमलावरो से लड़ता-झगड़ता और भारी रकमें ले-देकर फैसले करता रहा। प्रतापसिंह की शान में एक बड़ी बात यह है कि उसने महादजी सिंधिया जैसे प्रबल मरहठा सेनापति को बस्सी के पास तुंगा की लड़ाई में जबर्दस्त मात दी और भागने पर मजबूर कर दिया। लेकिन यह विजय बडी महंगी पडी थी। जयपुर का खजाना प्राय: खाली हो गया था।

मरहठों ने इस हार के बाद भी पिंड नही छोड़ा। उनका कोई न कोई सेनापति जब-तब जयपुर पर चढ़ आता और चौथ वसूल करता। प्रतापसिंह को एक बहुत बडी रकम तुकोजी होल्कर को देकर सिर पर मंडराते हुए खतरे को टालना पडा।

ऐसे आक्रमणों और घेरो, दुरवस्था और कलह के बीच प्रतापसिंह स्थिर- चित्त भी रहा और 'औला-दौला' भी। इसका प्रमाण हवामहल ही नहीं, उसके समय में बने प्रीतम निवास आदि चन्द्रमहल के अनेक विशाल कक्ष और पोथीखाने के मूल्यवान ग्रंथ तथा सूरतखाने के वे लाजवाब चित्र हैं जिनकी चर्चा यथास्थान की जा चुकी है। इन सबके अलावा प्रतापसिंह की अपनी काव्य- रचना और उसकी "कवि बाईसी" के कवियों की रचनायें और गुणीजनखाने के संगीतज्ञो की स्वर- साधना भी इसके सबूत हैं। तत्कालीन इतिहास का यह अद्भुत विरोधाभास है।

वह युग वास्तव में विरोधाभास का ही युग था। जीवन नगण्य होने पर भी उन दिनों नीरस नही था। राजपूत के लिये जीवन की सार्थकता या तो रणक्षेत्र की मार-काट में थी या अंत:पुर के भोगविलास में। फिर प्रतापसिंह राजा होने के साथ-साथ कवि भी था, सैनिक होने के साथ-साथ कला-रसिक और विलास-प्रिय भी था। तभी उस उथल-पुथल के बीच वह इस नगर के विकास में इतना रचनात्मक योग दे पाया था।

कुछ लोगों का मानना है कि हवामहल का आरंभ माधोसिंह प्रथम ने करा दिया था जिसके और प्रतापसिंह के बीच एक अल्पवयस्क शासक पृथ्वीसिंह का कुछ वर्षों का शासन आता है। किंतु प्रतापसिंह ने एक दोहे में स्वयं इस राजप्रासाद के निर्माण का श्रेय लिया है:

हवामहल यातें कियो,
सब समझो यह भाव।
राधा-कृष्ण सिधारसी,
दरस- परस को हाव।।

इस कवि-नरेश ने फारसी तर्ज के अपने एक रेख़ते मे हवामहल का जो वर्णन किया है उसमें भोग-विलास की उस प्रभूत सामग्री का विवरण मिलता है जो उस काल मे इस भवन में होने वाले आयोजनों में सहायक होती होगी।

हवामहल का प्रधान मिस्त्री था लालचन्द उस्ता, जिसके वंशजों के पास अभी हाल तक एक गांव की जागीर थी। यह गांव लालचन्द को हवामहल के निर्माण-कौशल के पुरस्कार स्वरूप मिला था।

अपनी निराली कमनीयता और स्वप्नलोक जैसी छवि के कारण हवामहल जयपुर के व्यक्तित्व और इसकी सुन्दरता का पर्याय बन गया है। अपने ढंग की यह एक ही इमारत आज भी उस विशिष्ट व्यक्तित्व का प्रतीक बनकर खड़ी है जो जयपुर ने मुगल साम्राज्य के क्षय के अनन्तर एक नगर के रूप में विकसित किया था।

खुलती भी है पूर्व की ओर, जिधर से बरामदों की दुहराई को छोड़कर मार्ग के शेष भाग में हवा आने की संभावना नहीं रहती। अधिकतर दर्शक और पर्यटक हवामहल को यहीं से देखते हैं और यह कहते हुए निक[ल] जाते हैं कि इसकी तो तस्वीर ही शायद इससे अधिक अच्छी थी।

लेकिन हवामहल में स्थापत्य की दृष्टि से देखने-समझने को बहुत कुछ है। इसके पश्चिमाभिमुख मुख्य द्वार में होकर प्रवेश कीजिये, हवामहल नाम की सार्थकता प्रकट हो जायेगी। इस मेहराबदार प्रवेश-द्वार से आगे बढ़ते ही एक खुला चौक मिलता है जिसके चारों ओर बरामदे तथा विश्रामकक्ष हैं। इससे आगे बढ़ने पर कुछ ऊंचाई पर एक और चौक है जिसके मध्य में सफेद संगमरमर का हौज बना हुआ है। पहले से दूसरे चौक में पहुंचने के लिए एक प्रवेशद्वार है जिसके दोनों ओर द्वारपालों तथा हिंदू देवी-देवताओं की कुछ प्रस्तर-प्रतिमाएं हैं। ऊपर वाले चौक से सीढ़ियों के स्थान पर एक घुमावदार खुर्रा ऊपर चढ़ता है जिसके द्वारा सिरह ड्योढ़ी बाजार में खड़े इस मुख्य प्रासाद की विभिन्न मंजिलों में पहुंचा जा सकता है। दूसरी और तीसरी मंजिल में रहने के कमरों के सामने दोनों ओर दो चांदनियां अथवा खुली छतें हैं। चौथी मंजिल में फिर एक चांदनी है, ठीक बीच में। पांचवीं तथा सर्वोच्च मंजिल मध्य में थोड़ी संकुचित हो गई है जिससे इस विशाल भवन में अनुपात का निर्वाह होने के साथ- साथ इसे पिरेमिड जैसा आकार भी मिल गया है। इमारत के दोनों ओर दो गुम्बजदार छतरियां हैं जो अवश्य ही दृश्यावलोकन के लिए बनाई गई होंगी। दक्षिण की ओर जो छतरी है वहां से एक ढालू खुर्रा नगर की सुरम्य माणक चौक चौपड़ के कोने तक चला गया है जहां से मुख्य बाजारों का दृश्य और भी खुल जाता है।

हवामहल में नीचे के दोनों खुले हुए चौक तथा ऊपर की चांदनियां उल्लेखनीय हैं। पश्चिम की ओर से मुख्य प्रवेश द्वार तथा उसके ऊपर होकर आने वाली ताजी हवा कहीं अवरुद्ध नहीं होती और चौकों व चांदनियों में होकर पहली से पांचवीं मंजिल तक के कक्षों में महज रूप में जाती है। पूर्व की ओर बाजार में खुलने वाली छोटी खिड़कियां तो मात्र 'क्रासवेन्टीलेशन' के लिए हैं। इमारत में अलंकरण और नक्काशी का जो अभाव है वह भी हल्के-हल्के बाहर झुकती हुई लघु खिड़कियों की झरोखियों से पूरा हो जाता है जिनमें झिलमिल जालियां लगी हुई हैं। इनके छोटे-छोटे गोलाकार और चपटे छत कलशों से सुशोभित हैं। अपने गहरे गुलाबी रंग में, जिस पर सफेद कलम से सामान्य सजावट की गई है, पांच मंजिल का यह भव्य राजभवन सूर्योदय के समय अपनी अपूर्व आभा से दमकता हुआ स्वप्नलोक जैसा दृश्य उपस्थित कर देता है।

हवामहल की निर्माण-कला की विशेषता इतने विशाल और ऊंचे भवन में चौकों और चांदनियों की यह व्यवस्था ही है जो सिद्ध करती है कि देशी निर्माण-पद्धति में भी प्रकाश और वायु-संचार के लिए कैसी तजवीजें की जाती थी, जो आधुनिक इमारतों में बहुत सावधानी रखते रखते भी कुण्ठित हो जाती हैं। फिर यह भवन जितना भव्य है, उतना ही हल्का-फुल्का भी। छोटे-छोटे जाली-झरोखों वाली उन्नत दीवार कठिनाई से आठ इंच चौड़ी होगी जिस पर पूरी पांच मंजिलें उठा ले जाना जयपुर की निर्माणकला की अपनी विशिष्टता है। लगभग 150 वर्ष पुराना यह महल अपनी कमनीय कारीगरी के साथ आज भी ऐसे खडा है जैसे हाल ही में बना हो। जयपुर में उस काल में उपलब्ध कली और चूने को भी इसका कम श्रेय नहीं है जिसके पलस्तर ने इस इकहरी प्राचीर में दबे पाषाण को लोहा बना दिया है।

जयपुर तो 1733 ई. तक भली-भांति बस चुका था, लेकिन जब हवामहल बनने लगा तो जयपुर और राजस्थान ही क्या, सारा उत्तरी भारत ही इतिहास के अंधेरे दौर से गुजर रहा था। यह जानकर हैरत होती है कि उन दिनों, जब इस महल को बनाने वाला अपने राज्य और अपने जीवन को एक दिन के लिए भी सुरक्षित मानकर निश्चिंत नहीं हो सकता था, निर्माण की ऐसी महत्त्वाकांक्षा की न केवल कल्पना की गई, वरन् उसको मूर्त रूप भी दिया गया।

राज-दरबार और रनिवास

सवाई प्रतापसिंह 1778 ई. में बड़ी अशुभ और खतरनाक परिस्थितियों में जयपुर की राजगद्दी पर बैठा था। नाबालिग राजा की ओर से सारा राज-काज राजमाता चूंडावतजी चलाती थी जो फीरोज नामक एक फीलवान (महावत) और खुशालीराम बोहरा पर बड़ी कृपा रखती थी। कर्नल टाड ने लिखा है कि प्रतापसिंह एक धीर-वीर शासक था लेकिन उसके राज्य की आंतरिक फूट और षड्यंत्र तथा बाहरी दुश्मनों से निपटने के लिए यह धीरता और वीरता, दोनों ही कम पड़ते थे। फीरोज और बोहरा की आपसी कशमकश ने जयपुर की उलझनों को और बढ़ा दिया और नौजवान प्रतापसिंह जिन्दगी भर मरहठा हमलावरों से लड़ता-झगड़ता और भारी रकमें ले-देकर फैसले करता रहा। प्रतापसिंह की शान में एक बड़ी बात यह है कि उसने महादजी सिंधिया जैसे प्रबल मरहठा सेनापति को वस्सी के पास तुंगा की लड़ाई में जबर्दस्त मात दी और भागने पर मजबूर कर दिया। लेकिन यह विजय बड़ी महंगी पड़ी थी। जयपुर का खजाना प्रायः खाली हो गया था।

मरहठों ने इस हार के बाद भी पिंड नहीं छोड़ा। उनका कोई न कोई सेनापति जब-तब जयपुर पर चढ़ आता और चौथ वसूल करता। प्रतापसिंह को एक बहुत बड़ी रकम तुकोजी होल्कर को देकर सिर पर मंडराते हुए खतरे को टालना पड़ा।

ऐसे आक्रमणों और घेरों, दुरवस्था और कलह के बीच प्रतापसिंह स्थिर- चित्त भी रहा और 'औला-दौला' भी। इसका प्रमाण हवामहल ही नहीं, उसके समय में बने प्रीतम निवास आदि चन्द्रमहल के अनेक विशाल कक्ष और पोथीखाने के मूल्यवान ग्रंथ तथा सूरतखाने के वे लाजवाब चित्र हैं जिनकी चर्चा यथास्थान की जा चुकी है। इन सबके अलावा प्रतापसिंह की अपनी काव्य- रचना और उसकी ''कवि बाईसी'' के कवियों की रचनायें और गुणीजनखाने के संगीतज्ञों की स्वर- साधना भी इसके सबूत हैं। तत्कालीन इतिहास का यह अद्भुत विरोधाभास है।

वह युग वास्तव में विरोधाभास का ही युग था। जीवन नगण्य होने पर भी उन दिनों नीरस नहीं था। राजपूत के लिये जीवन की सार्थकता या तो रणक्षेत्र की मार-काट में थी या अंतःपुर के भोगविलास में। फिर प्रतापसिंह राजा होने के साथ-साथ कवि भी था, सैनिक होने के साथ-साथ कला-रसिक और विलास-प्रिय भी था। तभी उस उथल-पुथल के बीच वह इस नगर के विकास में इतना रचनात्मक योग दे पाया था।

कुछ लोगों का मानना है कि हवामहल का आरंभ माधोसिंह प्रथम ने करा दिया था जिसके और प्रतापसिंह के बीच एक अल्पवयस्क शासक पृथ्वीसिंह का कुछ वर्षों का शासन आता है। किंतु प्रतापसिंह ने एक दोहे में स्वयं इस राजप्रासाद के निर्माण का श्रेय लिया है:

हवामहल यातें कियो,
सब समझो यह भाव।
राधा-कृष्ण सिधारसी,
दरस- परस को हाव।।

इस कवि-नरेश ने फारसी तर्ज के अपने एक रेख्ते में हवामहल का जो वर्णन किया है उससे भोग-विलास की उस प्रभूत सामग्री का विवरण मिलता है जो उस काल में इस भवन में होने वाले आयोजनों में सहायक होती होगी।

हवामहल का प्रधान मिस्त्री था लालचन्द उस्ता, जिसके वंशजों के पास अभी हाल तक एक गांव की जागीर थी। यह गांव लालचन्द को हवामहल के निर्माण-कौशल के पुरस्कार स्वरूप मिला था।

अपनी निराली कमनीयता और स्वप्नलोक जैसी छवि के कारण हवामहल जयपुर के व्यक्तित्व और इसकी सुन्दरता का पर्याय बन गया है। अपने ढंग की यह एक ही इमारत आज भी उस विशिष्ट व्यक्तित्व का प्रतीक बनकर खड़ी है जो जयपुर ने मुगल साम्राज्य के क्षय के अनन्तर एक नगर के रूप में विकसित किया था।

खुलती भी हैं पूर्व की ओर, जिधर से वर्षाकाल की पुरवाई को छोड़कर वर्ष के शेष भाग में हवा आने की कोई संभावना नहीं रहती। अधिकतर दर्शक और पर्यटक हवामहल को यहीं से देखते हैं और यह कहते हुए विदा हो जाते हैं कि इसकी तो तस्वीर ही शायद इससे अधिक अच्छी थी।

लेकिन हवामहल में स्थापत्य की दृष्टि से देखने-समझने को बहुत कुछ है। इसके पश्चिमाभिमुख मुख्य द्वार में होकर प्रवेश कीजिये, हवामहल नाम की सार्थकता प्रकट हो जायेगी। इस मेहराबदार प्रवेश-द्वार से आगे बढ़ते ही एक खुला चौक मिलता है जिसके चारों ओर बरामदे तथा निवासकक्ष हैं। इससे आगे बढ़ने पर कुछ ऊंचाई पर एक और चौक है जिसके मध्य में सफेद संगमरमर का हौज बना हुआ है। पहले से दूसरे चौक में पहुंचने के लिए एक प्रवेशद्वार है जिसके दोनों ओर द्वारपालों तथा हिंदू देवी-देवताओं की कुछ पाषाण-प्रतिमाएं हैं। ऊपर वाले चौक से सीढ़ियों के स्थान पर एक घुमावदार खुर्रा ऊपर चढ़ता है जिसके द्वारा सिरह ड्योढी बाजार में खड़े इस मुख्य प्रासाद की विभिन्न मंजिलों में पहुंचा जा सकता है। दूसरी और तीसरी मंजिल में रहने के कमरों के सामने दोनों ओर दो चांदनियां अथवा खुली छतें हैं। चौथी मंजिल में फिर एक चांदनी है, ठीक बीच में। पांचवी तथा सर्वोच्च मंजिल मध्य में थोड़ी संकुचित हो गई है जिससे इस विशाल भवन में अनुपात का निर्वाह होने के साथ- साथ इसे पिरेमिड जैसा आकार भी मिल गया है। इमारत के दोनों ओर दो गुम्बजदार छतरियां हैं जो अवश्य ही दृश्यावलोकन के लिए बनाई गई होंगी। दक्षिण की ओर जो छतरी है वहां से एक ढालू खुर्रा नगर की सुरम्य माणक चौक चौपड के कोने तक चला गया है जहां से मुख्य बाजारों का दृश्य और भी खुल जाता है।

हवामहल में नीचे के दोनों खुले हुए चौक तथा ऊपर की चांदनियां उल्लेखनीय हैं। पश्चिम की ओर से मुख्य प्रवेश द्वार तथा उसके ऊपर होकर आने वाली ताजी हवा कहीं अवरुद्ध नहीं होती और चौकों व चांदनियों में होकर पहली से पांचवीं मंजिल तक के कक्षों में सहज रूप में जाती है। पूर्व की ओर बाजार में खुलने वाली छोटी खिड़कियां तो मात्र 'क्रासवेन्टीलेशन' के लिए हैं। इमारत में अलंकरण और नक्काशी का जो अभाव है वह भी हल्के-हल्के बाहर झुकती हुई लघु खिड़कियों की झरोखियों से पूरा हो जाता है जिनमें झिलमिल जालियां लगी हुई हैं। इनके छोटे-छोटे गोलाकार और चपटे छत कलशों से सुशोभित हैं। अपने गहरे गुलाबी रंग में, जिस पर सफेद कलम से सामान्य सजावट की गई है, पांच मंजिल का यह भव्य राजभवन सूर्योदय के समय अपनी अपूर्व आभा में दमकता हुआ स्वप्नलोक जैसा दृश्य उपस्थित कर देता है।

हवामहल की निर्माण-कला की विशेषता इतने विशाल और ऊंचे भवन में चौकों और चांदनियों की यह व्यवस्था ही है जो सिद्ध करती है कि देशी निर्माण-पद्धति में भी प्रकाश और वायु-संचार के लिए कैसी तजवीजें की जाती थीं, जो आधुनिक इमारतों में बहुत सावधानी रखते रखते भी कठिन हो जाती हैं। फिर यह भवन जितना भव्य है, उतना ही हल्का-फुल्का भी। छोटे-छोटे जाली-झरोखों वाली उन्नत दीवार कठिनाई से आठ इंच चौड़ी होगी जिस पर पूरी पांच मंजिलें उठा ले जाना जयपुर की निर्माणकला की अपनी विशिष्टता है। लगभग 150 वर्ष पुराना यह महल अपनी कमनीय कारीगरी के साथ आज भी ऐसे खड़ा है जैसे हाल ही में बना हो। जयपुर में उस काल में उपलब्ध कर्मी और चूने को भी इसका कम श्रेय नहीं है जिसके फलस्वरूप ने इस इकहरी प्राचीर में दबे पाषाण को लोहा बना दिया है।

जयपुर तो 1733 ई. तक भली-भांति बस चुका था, लेकिन जब हवामहल बनने लगा तो जयपुर और राजस्थान ही क्या, सारा उत्तरी भारत ही इतिहास के अंधेरे दौर से गुजर रहा था। यह जानकर हैरत होती है कि उन दिनों, जब इस महल को बनाने वाला अपने राज्य और अपने जीवन को एक दिन के लिए भी सुरक्षित मानकर निश्चिन्त नहीं हो सकता था, निर्माण की ऐसी महत्त्वाकांक्षा की न केवल कल्पना की गई, वरन् उसको पूर्ण कर भी दिया गया।

सवाई प्रतापसिंह 1778 ई. में बड़ी अशुभ और खतरनाक परिस्थितियों में जयपुर की राजगद्दी पर बैठा था। नाबालिग राजा की ओर से सारा राज-काज राजमाता चूंडावतजी चलाती थी जो फीरोज नामक एक फीलवान (महावत) और खुशालीराम बोहरा पर बड़ी कृपा रखती थी। कर्नल टाड ने लिखा है कि प्रतापसिंह एक धीर-वीर शासक था लेकिन उसके राज्य की आतरिक फूट और षडयंत्र तथा बाहरी दुश्मनों से निपटने के लिए यह धीरता और वीरता, दोनों ही कम पड़ते थे। फीरोज और बोहरा की आपसी कशमकश ने जयपुर की उलझनों को और बढ़ा दिया और नौजवान प्रतापसिंह जिन्दगी भर मरहठा हमलावरों से लड़ता-झगड़ता और भारी रकमें ले-देकर फैसले करता रहा। प्रतापसिंह की शान में एक बड़ी बात यह है कि उसने महादजी सिंधिया जैसे प्रबल मरहठा सेनापति को बस्सी के पास तूगा की लड़ाई में जबर्दस्त मात दी और भागने पर मजबूर कर दिया। लेकिन यह विजय बड़ी महगी पड़ी थी। जयपुर का खजाना प्रायः खाली हो गया था।

मरहठों ने इस हार के बाद भी पिंड नहीं छोड़ा। उनका कोई न कोई सेनापति जब-तब जयपुर पर चढ़ आता और चौथ वसूल करता। प्रतापसिंह को एक बहुत बड़ी रकम तुकोजी होल्कर को देकर सिर पर मंडराते हुए खतरे को टालना पड़ा।

ऐसे आक्रमणों और घेरों, दुरवस्था और कलह के बीच प्रतापसिंह स्थिर- चित्त भी रहा और 'औला-दौला' भी। इसका प्रमाण हवामहल ही नहीं, उसके समय में बने प्रीतम निवास आदि चन्द्रमहल के अनेक विशाल कक्ष और पोथीखाने के मूल्यवान ग्रथ तथा सूरतखाने के वे लाजवाब चित्र हैं जिनकी चर्चा यथास्थान की जा चुकी है। इन सबके अलावा प्रतापसिंह की अपनी काव्य- रचना और उसकी "कवि बाईसी" के कवियों की रचनायें और गुणीजनखाने के सगीतज्ञों की स्वर- साधना भी इसके सुबूत हैं। तत्कालीन इतिहास का यह अद्भुत विरोधाभास है।

वह युग वास्तव में विरोधाभास का ही युग था। जीवन नगण्य होने पर भी उन दिनों नीरस नहीं था। राजपूत के लिये जीवन की सार्थकता या तो रणक्षेत्र की मार-काट में थी या अंतःपुर के भोगविलास में। फिर प्रतापसिंह राजा होने के साथ-साथ कवि भी था, सैनिक होने के साथ-साथ कला-रसिक और विलास-प्रिय भी था। तभी उस उथल-पुथल के बीच वह इस नगर के विकास में इतना रचनात्मक योग दे पाया था।

कुछ लोगों का मानना है कि हवामहल का आरंभ माधोसिंह प्रथम ने करा दिया था जिसके और प्रतापसिंह के बीच एक अल्पवयस्क शासक पृथ्वीसिंह का कुछ वर्षों का शासन आता है। किंतु प्रतापसिंह ने एक दोहे में स्वयं इस राजप्रासाद के निर्माण का श्रेय लिया है:

हवामहल यातें कियो,
सब समझो यह भाव।
राधा-कृष्ण सिधारसी,
दरस- परस को हाव।।

इस कवि-नरेश ने फारसी तर्ज के अपने एक रेख्ते में हवामहल का जो वर्णन किया है उसमें भोग-विलास की उस प्रभूत सामग्री का विवरण मिलता है जो उस काल में इस भवन में होने वाले आयोजनों में सहायक होती होगी।

हवामहल का प्रधान मिस्त्री था लालचन्द उस्ता, जिसके वशजों के पास अभी हाल तक एक गाव की जागीर थी। यह गाव लालचन्द को हवामहल के निर्माण-कौशल के पुरस्कार स्वरूप मिला था।

अपनी निराली कमनीयता और स्वप्नलोक जैसी छवि के कारण हवामहल जयपुर के व्यक्तित्व और इसकी सुन्दरता का पर्याय बन गया है। अपने ढंग की यह एक ही इमारत आज भी उस विशिष्ट व्यक्तित्व का प्रतीक बनकर खड़ी है जो जयपुर ने मुगल साम्राज्य के क्षय के अनन्तर एक नगर के रूप में विकसित किया था।

खुलती भी हैं पूर्व की ओर, जिधर से वर्षाकाल की पुरवाई को छोड़कर वर्ष के शेष भाग में हवा आने की कोई संभावना नहीं रहती। अधिकतर दर्शक और पर्यटक हवामहल को यहीं से देखते हैं और यह कहते हुए विदा हो जाते हैं कि इसकी तो तस्वीर ही शायद इससे अधिक अच्छी थी।

लेकिन हवामहल में स्थापत्य की दृष्टि से देखने-समझने को बहुत कुछ है। इसके पश्चिमाभिमुख मुख्य द्वार में होकर प्रवेश कीजिये, हवामहल नाम की सार्थकता प्रकट हो जायेगी। इस मेहराबदार प्रवेश-द्वार से आगे बढ़ते ही एक खुला चौक मिलता है जिसके चारों ओर बरामदे तथा निवासकक्ष हैं। इससे आगे बढ़ने पर कुछ ऊंचाई पर एक और चौक है जिसके मध्य में सफेद संगमरमर का हौज बना हुआ है। पहले से दूसरे चौक में पहुंचने के लिए एक प्रवेशद्वार है जिसके दोनों ओर द्वारपालों तथा हिन्दू देवी-देवताओं की कुछ फलक-प्रतिमाएं हैं। ऊपर वाले चौक से सीढ़ियों के स्थान पर एक घुमावदार खुर्रा ऊपर चढ़ता है जिसके द्वारा सिरह ड्योढ़ी बाजार में खड़े इस मुख्य प्रासाद की विभिन्न मंजिलों में पहुंचा जा सकता है। दूसरी और तीसरी मंजिल में रहने के कमरों के सामने दोनों ओर दो चांदनियां अथवा खुली छतें हैं। चौथी मंजिल में फिर एक चांदनी है, ठीक बीच में। पांचवीं तथा सर्वोच्च मंजिल मध्य में थोड़ी संकुचित हो गई है जिससे इस विशाल भवन में अनुपात का निर्वाह होने के साथ- साथ इसे पिरेमिड जैसा आकार भी मिल गया है। इमारत के दोनों ओर दो गुम्बजदार छतरियां हैं जो अवश्य ही दृश्यावलोकन के लिए बनाई गई होंगी। दक्षिण की ओर जो छतरी है वहां से एक ढालू खुर्रा नगर की सुरम्य माणक चौक चौपड के कोने तक चला गया है जहां से मुख्य बाजारों का दृश्य और भी खुल जाता है।

हवामहल में नीचे के दोनों खुले हुए चौक तथा ऊपर की चांदनियां उल्लेखनीय हैं। पश्चिम की ओर से मुख्य प्रवेश द्वार तथा उसके ऊपर होकर आने वाली ताजी हवा कही अवरुद्ध नहीं होती और चौकों व चांदनियों में होकर पहली से पांचवी मंजिल तक के कक्षों में सहज रूप में जाती है। पूर्व की ओर बाजार में खुलने वाली छोटी खिड़कियां तो मात्र 'कासवेन्टीलेशन' के लिए हैं। इमारत में अलंकरण और नक्काशी का जो अभाव है वह भी हल्के-हल्के बाहर झुकती हुई लघु खिड़कियों की झरोखियों से पूरा हो जाता है जिनमें झिलमिल जालियां लगी हुई हैं। इनके छोटे-छोटे गोलाकार और चपटे छत कलशों से सुशोभित हैं। अपने गहरे गुलाबी रंग मे, जिस पर सफेद कलम से सामान्य सजावट की गई है, पांच मंजिल का यह भव्य राजभवन सूर्योदय के समय अपनी अपूर्व आभा से दमकता हुआ स्वप्नलोक जैसा दृश्य उपस्थित कर देता है।

हवामहल की निर्माण-कला की विशेषता इतने विशाल और ऊंचे भवन में चौकों और चांदनियों की यह व्यवस्था ही है जो सिद्ध करती है कि देशी निर्माण-पद्धति में भी प्रकाश और वायु-संचार के लिए कैसी तजवीजें की जाती थीं, जो आधुनिक इमारतो मे बहुत सावधानी रखते रखते भी कुण्ठित हो जाती हैं। फिर यह भवन जितना भव्य है, उतना ही हल्का-फुल्का भी। छोटे-छोटे जाली-झरोखों वाली उन्नत दीवार कठिनाई से आठ इंच चौड़ी होगी जिस पर पूरी पांच मंजिलें उठा ले जाना जयपुर की निर्माणकला की अपनी विशिष्टता है। लगभग 150 वर्ष पुराना यह महल अपनी कमनीय कारीगरी के साथ आज भी ऐसे खड़ा है जैसे हाल ही में बना हो। जयपुर मे उस काल में उपलब्ध कली और चूने को भी इसका कम श्रेय नही है जिसके पलस्तर ने इस इकहरी प्राचीर में दबे पाषाण को लोहा बना दिया है।

जयपुर तो 1733 ई. तक भली-भांति बस चुका था, लेकिन जब हवामहल बनने लगा तो जयपुर और राजस्थान ही क्या, सारा उत्तरी भारत ही इतिहास के अंधेरे दौर मे गुजर रहा था। यह जानकर हैरत होती है कि उन दिनों, जब इस महल को बनाने वाला अपने राज्य और अपने जीवन को एक दिन के लिए भी सुरक्षित मानकर निश्चिंत नहीं हो सकता था, निर्माण की ऐसी महत्त्वाकांक्षा की न केवल कल्पना की गई, वरन् उसको मूर्त्त रूप भी दिया गया।

राज-दरबार और रनिवास

सवाई प्रतापसिंह 1778 ई. में बड़ी अशुभ और खतरनाक परिस्थितियों में जयपुर की राजगद्दी पर बैठा था। नाबालिग राजा की ओर से सारा राज-काज राजमाता चूड़ावतजी चलाती थी जो फीरोज नामक एक फीलवान (महावत) और खुशालीराम बोहरा पर बड़ी कृपा रखती थीं। कर्नल टाड ने लिखा है कि प्रतापसिंह एक धीर-वीर शासक था लेकिन उसके राज्य की आंतरिक फूट और षड़यंत्र तथा बाहरी दुश्मनों से निपटने के लिए यह धीरता और वीरता, दोनों ही कम पड़ते थे। फीरोज और बोहरा की आपसी कशमकश ने जयपुर की उलझनों को और बढ़ा दिया और नौजवान प्रतापसिंह जिन्दगी भर मरहठा हमलावरों से लड़ता-झगड़ता और भारी रकमें ले-देकर फैसले करता रहा। प्रतापसिंह की शान में एक बड़ी बात यह है कि उसने महादजी सिंधिया जैसे प्रबल मरहठा सेनापति को बस्सी के पास तुंगा की लड़ाई में जबर्दस्त मात दी और भागने पर मजबूर कर दिया। लेकिन यह विजय बड़ी महंगी पड़ी थी। जयपुर का खजाना प्रायः खाली हो गया था।

मरहठों ने इस हार के बाद भी पिंड नहीं छोड़ा। उनका कोई न कोई सेनापति जब-तब जयपुर पर चढ़ आता और चौथ वसूल करता। प्रतापसिंह को एक बहुत बड़ी रकम तुकोजी होल्कर को देकर सिर पर मंडराते हुए खतरे को टालना पड़ा।

ऐसे आक्रमणों और घेरों, दुरवस्था और कलह के बीच प्रतापसिंह स्थिर- चित्त भी रहा और 'औला-दौला' भी। इसका प्रमाण हवामहल ही नहीं, उसके समय में बने प्रीतम निवास आदि चन्द्रमहल के अनेक विशाल कक्ष और पोथीखाने के मूल्यवान ग्रंथ तथा सूरतखाने के वे लाजवाब चित्र हैं जिनकी चर्चा यथास्थान की जा चुकी है। इन सबके अलावा प्रतापसिंह की अपनी काव्य- रचना और उसकी "कवि बाईसी" के कवियों की रचनायें और गुणीजनखाने के संगीतज्ञों की स्वर- साधना भी इसके सबूत हैं। तत्कालीन इतिहास का यह अद्भुत विरोधाभास है।

वह युग वास्तव में विरोधाभास का ही युग था। जीवन नगण्य होने पर भी उन दिनों नीरस नहीं था। राजपूत के लिये जीवन की सार्थकता या तो रणक्षेत्र की मार-काट में थी या अंतःपुर के भोगविलास में। फिर प्रतापसिंह राजा होने के साथ-साथ कवि भी था, सैनिक होने के साथ-साथ कला-रसिक और विलास-प्रिय भी था। तभी उस उथल-पुथल के बीच वह इस नगर के विकास में इतना रचनात्मक योग दे पाया था।

कुछ लोगों का मानना है कि हवामहल का आरंभ माधोसिंह प्रथम ने करा दिया था जिसके और प्रतापसिंह के बीच एक अल्पवयस्य शासक पृथ्वीसिंह का कुछ वर्षों का शासन आता है। किन्तु प्रतापसिंह ने एक दोहे में स्वयं इस राजप्रासाद के निर्माण का श्रेय लिया है:

हवामहल यातें कियो,
सब समझो यह भाव।
राधा-कृष्ण सिधारसी,
दरस- परस को हाव।।

इस कवि-नरेश ने फारसी तर्ज के अपने एक रेख़ते में हवामहल का जो वर्णन किया है उससे भोग-विलास की उस प्रभूत सामग्री का विवरण मिलता है जो उस काल में इस भवन में होने वाले आयोजनों में सहायक होती होगी।

हवामहल का प्रधान मिस्त्री था लालचन्द उस्ता, जिसके वंशजों के पास अभी हाल तक एक गाव की जागीर थी। यह गाव लालचन्द को हवामहल के निर्माण-कौशल के पुरस्कार स्वरूप मिला था।

अपनी निराली कमनीयता और स्वप्नलोक जैसी छवि के कारण हवामहल जयपुर के व्यक्तित्व और इसकी सुन्दरता का पर्याय बन गया है। अपने ढंग की यह एक ही इमारत आज भी उस विशिष्ट व्यक्तित्व का प्रतीक बनकर खड़ी है जो जयपुर ने मुगल साम्राज्य के क्षय के अनन्तर एक नगर के रूप में विकसित किया था।

खुलती भी हैं पूर्व की ओर, जिधर से बरसात की पुरवाई को छोड़कर वर्ष के शेष भाग में हवा आने की संभावना नहीं रहती। अधिकतर दर्शक और पर्यटक हवामहल को यहीं से देखते हैं और यह कहते हुए चले जाते हैं कि इसकी तो तस्वीर ही शायद इससे अधिक अच्छी थी।

लेकिन हवामहल में स्थापत्य की दृष्टि से देखने-समझने को बहुत कुछ है। इसके पश्चिमाभिमुख मुख्य द्वार में होकर प्रवेश कीजिये, हवामहल नाम की सार्थकता प्रकट हो जायेगी। इस मेहराबदार प्रवेश-द्वार से आगे बढ़ते ही एक खुला चौक मिलता है जिसके चारों ओर बरामदे तथा निवासकक्ष हैं। इससे आगे बढ़ने पर कुछ ऊंचाई पर एक और चौक है जिसके मध्य में सफेद संगमरमर का हौज बना हुआ है। पहले से दूसरे चौक में पहुंचने के लिए एक प्रवेशद्वार है जिसके दोनों ओर द्वारपालों तथा हिन्दू देवी-देवताओं की कुछ पत्थर प्रतिमाएं हैं। ऊपर वाले चौक से सीढ़ियों के स्थान पर एक ढलावदार सुरंग ऊपर चढ़ता है जिसके द्वारा सिरह ड्योढ़ी बाजार में खड़े इस मुख्य प्रासाद की विभिन्न मंजिलों में पहुंचा जा सकता है। दूसरी और तीसरी मंजिल में रहने के कमरों के सामने दोनों ओर दो चांदनियां अथवा खुली छतें हैं। चौथी मंजिल में फिर एक चांदनी है ठीक बीच में। पांचवी तथा सर्वोच्च मंजिल मध्य में थोड़ी संकुचित हो गई है जिससे इस विशाल भवन में अनुपात का निर्वाह होने के साथ- साथ इसे पिरेमिड जैसा आकार भी मिल गया है। इमारत के दोनों ओर दो गुम्बजदार छतरियां हैं जो अवश्य ही दृश्यावलोकन के लिए बनाई गई होंगी। दक्षिण की ओर जो छतरी है वहां से एक ढालू खुर्रा नगर की सुरम्य माणक चौक चौपड के कोने तक चला गया है जहां से मुख्य बाजारों का दृश्य और भी खुल जाता है।

हवामहल में नीचे के दोनों खुले हुए चौक तथा ऊपर की चांदनियां उल्लेखनीय हैं। पश्चिम की ओर से मुख्य प्रवेश द्वार तथा उसके ऊपर होकर आने वाली ताज़ी हवा कहीं अवरुद्ध नहीं होती और चौकों व चांदनियों में होकर पहली से पांचवीं मंजिल तक के कक्षों में सहज रूप में जाती है। पूर्व की ओर बाजार में खुलने वाली छोटी खिड़कियां तो मात्र 'क्रासवेन्टीलेशन' के लिए हैं। इमारत में अलंकरण और नक्काशी का जो अभाव है वह भी हल्के-हल्के बाहर झुकती हुई लघु खिड़कियों की झरोखियों से पूरा हो जाता है जिनमें झिलमिल जालियां लगी हुई हैं। इनके छोटे-छोटे गोलाकार और चपटे छत कलशों में सुशोभित हैं। अपने गहरे गुलाबी रंग मे, जिस पर सफेद कलम से सामान्य सजावट की गई है, पांच मंजिल का यह भव्य राजभवन सूर्योदय के समय अपनी अपूर्व आभा से दमकता हुआ स्वप्नलोक जैसा दृश्य उपस्थित कर देता है।

हवामहल की निर्माण-कला की विशेषता इतने विशाल और ऊंचे भवन में चौकों और चांदनियों की यह व्यवस्था ही है जो सिद्ध करती है कि देशी निर्माण-पद्धति मे भी प्रकाश और वायु-संचार के लिए कैसी तजवीजें की जाती थीं, जो आधुनिक इमारतों में बहुत सावधानी रखते रखते भी कुन्ठित हो जाती हैं। फिर यह भवन जितना भव्य है, उतना ही हल्का-फुल्का भी। छोटे-छोटे जाली-झरोखों वाली उन्नत दीवार कठिनाई से आठ इंच चौड़ी होगी जिस पर पूरी पांच मंजिलें उठा ले जाना जयपुर की निर्माणकला की अपनी विशिष्टता है। लगभग 150 वर्ष पुराना यह महल अपनी कमनीय कारीगरी के साथ आज भी ऐसे खड़ा है जैसे हाल ही में बना हो। जयपुर में उस काल में उपलब्ध कली और चूने को भी इसका कम श्रेय नहीं है जिसके पलस्तर ने इस इकहरी प्राचीर में दबे पाषाण को लोहा बना दिया है।

जयपुर तो 1733 ई. तक भली-भांति बस चुका था, लेकिन जब हवामहल बनने लगा तो जयपुर और राजस्थान ही क्या, सारा उत्तरी भारत ही इतिहास के अंधेरे दौर से गुजर रहा था। यह जानकर हैरत होती है कि उन दिनों, जब इस महल को बनाने वाला अपने राज्य और अपने जीवन को एक दिन के लिए भी सुरक्षित मानकर निश्चिंत नहीं हो सकता था, निर्माण की ऐसी महत्त्वाकांक्षा की न केवल कल्पना की गई, वरन् उसको मूर्त्त रूप भी दिया गया।

हवामहल में प्रतापसिंह और जगतसिंह के समय में बड़े रागरंग होते रहे होंगे। चन्द्रमहल के खास मह
से हवामहल तक जो सुरंग बनी है, प्रतापसिंह ने ही बनवाई थी। यह सुरंग या ढका हुआ रास्ता हवामहल
त्रिपोलिया बाजार की दुकानों की छतों और त्रिपोलिया में होती हुई जनानी ड्योढ़ी तक गई है। इसमें होक
रनिवास की औरतें इस जादुई महल में आती-जाती होंगी और उन महफिलों- मजलिसों में शामिल हो
होंगी जिनका सकेत प्रतापसिंह ने अपने "रेख़ते" (गजल) में किया है

> करते हैं हवामहल हवा राधे श्री बिहारी।
> संग सखियां सुघर सुघरी बिघरी सी फूल-क्यारी।।
> मरजी के पाय दस्त लिए सबहि सौंज त्यारी।
> खाना-पीना अगर- चोवा अतरदान- झारी।।
> पानदान पीकदान ले रूमाल न्यारी।
> चंवर लिए मोरछल को ले अड़ानि धारी।।
> छतर लिए वांच और कलमदान धारी।
> लई पंखी फूल- माल आसा लिए नारी।।
> केई लिए जर जेवर औ पुसाक भारी।
> केई लिए शमेदान बहु गुना तियारी।।
> केई धरे दुसाखे कहैं औ चिराग लारी।
> महताब छोड़ै केई चश्म खुशी को लगा री।।
> कीए हजार बान दूरबीन चित्रकारी।
> केई लिए हैं ख्याल लाल तूती मुक सारी।।
> पैरों के पोश लीए छड़ी रोस की अगारी।
> करती हैं बाव करती पंखा पौन की हुस्यारी।।
> केवे गुलाबदानी से करती हैं आब जारी।
> रखती हैं अगरबत्ती धूप रूप की उंजारी।।
> कुरसी पे अजब ले मरोड़ बैठ खुश मुरारी।
> पेश पाव रही है जेब से प्रीतम के पास प्यारी।।
> लटकन से मटक नाचती ज्यों चमकनी बिजारी।
> बाजे बजाती गाती हैं कोइल सी कुहुक करी।।
> कीनी मुराद पूरी मैं तो वारी वारी वारी।
> "ब्रजनिधि" के पिया होके जान कीनी है बलिहारी।।४१।।

आगे के जमाने में हवामहल में कुछ समय तक पोथीखाने का भी काम चला और यह महाराजा
अतिथिगृह भी रहा। जयपुर के राज परिवार की ओर से समय-समय पर आयोजित होने वाले उत्सवों
हजारों लोगों के "हंडो" के लिए भी यही महल उपयुक्त समझा गया। १८८० ई. में महाराजा रामसिंह के
पर पूरे जयपुर शहर को जिमाने के लिए जो सामान बनाया गया वह हवामहल में ही सेठ नथमल ईश्वर
देख-रेख में बना था। जो हवामहल आज विदेशी पर्यटकों का आकर्षण है, उसमें जयपुर के वाशिन्दों ने
पर "गाड़-चबेनी" खाये हैं, और बार-बार खाते हैं। वह जमाना हवा हुआ, हवामहल अब देखने भर की
महलायत है।

---

1 [illegible]

अंत में गुलाबी नगर की इस अप्रतिम इमारत के संबंध में सवाई प्रतापसिंह के दरबार के कवि रस
रामनारायण के तीन कवित्त[2] उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता।

सुन्दर शहर सीस सेहरो संवार्‌यो किधौं,
पुहुप विमान आप अवनी पै आयो है।
कंचन रजत के पहार मिलि बैठे किधौं,
शरद घटा पै छटा थिर पद पायो है।।
किधौं "रसराशि" श्री प्रताप को सुजस तापै,
प्रकट प्रताप प्रभा पाय छवि छयो है।
भयो है न व्है है कहूं देख्यो न सुन्यो है ऐसो,
हवा देखिबे को हवामहल बनायो है।।

कंचन के कलश पताका धुजा कंचन की,
कंचन के तोरण करोरन निहारे हैं।
मोतिन की झालरि झुके हैं झब्बा मोतिन के,
मोतिन के चौक, चौक में संवारे हैं।।
चांदी को कटहरा चबूतरा हू चांदी को,
चांदी बंगला में "रसराशि" रंग भारे हैं।
चहल पहल हवामहल झब्यो है आज,
राधे गिरिधारी प्यारे पाहुने पधारे हैं।।

सुन्दर सुखद सोहूयो सुधाधर को सो धाम,
जामें श्यामाश्याम संग रंग बरसायो है।
झनक मनक होत भूषण बनक बने,
कूजत कपोत केकी कौतुक मचायो है।।
महकत अंगराग अंग की सुगंध सन्यौ,
पुहुप पराग हू उमागे उफनायो है।
फबी जामें छबीले सुहाग की सुवास हवा,
यातें "रसराशि" हवामहल कहायो है।।

2. लिटरेरी हेरिटेज आफ दि रूलर्स आफ आमेर-जयपुर, पृष्ठ 497-98

13. राजेन्द्र हजारी गार्ड्स

विश्व-प्रसिद्ध हवामहल और गोवर्धननाथजी के मंदिर के सामने अब राजस्थान के महानिरीक्षक आरक्षी
र कार्यालय है। दो विशाल चौकों के चारो ओर अनेक नये- पुराने मकानों में यह दफ्तर चलता है। जब तक
यपुर रियासत का अस्तित्व रहा, इसे "राजेंद्र हजारी गार्ड्स" कहा जाता था और यहां बैरकें थी जिनमें
श्वारोही दस्ते रहते थे।

नगर-प्रासाद की मौखिक परम्पराओं के अनुसार सवाई जयसिंह के समय में जब चौकड़ी सरहद में
ाजमहल, बाग और अन्य इमारतें बनवाई गईं तो रथखाना और गौखाना या गौशाला यहां रखे गये थे। तब
हीं पर टकसाल और एक तोप ढालने का कारखाना भी स्थापित किया गया था, जिसका एक भाग ज्योतिष
ंत्रालय में आ गया। कपडद्वारा में एक दस्तावेज से पता चलता है कि यहा जो टकसाल खोली गई थी, उसमे
ढाले हुए एक मुहर और पांच रुपये किसी पेमा खवास ने सवाई जयसिंह को नजर किये थे।[1]

सवाई प्रतापसिंह ने जब 1799 इ. में हवामहल बनवाकर पूरा किया तो इस नायाब इमारत के सामने एक
सुन्दर बगीचा लगाने की योजना बनाई गई। उस समय का एक नक्शा पोथीखाने मे उपलब्ध है, जिससे इस
योजना की जानकारी मिलती है। जो हो, यह बाग नही लग पाया और राज-प्रासाद मे यह खासा रिसाले का
सदर मुकाम ही रहा।

ठाकुर हरनाथसिंह के अनुसार सवाई जयसिंह ने जलेब चौक के पास ही एक अलग अहाते मे इस रिसाले
के लिए बैरके और अस्तबल बनवाये थे।[2] जयपुर का सैन्य संगठन बडा पुराना चला आता था और राजा
भगवंतदास और उसके कुंवर मानसिंह ने राजपूतों की एक बड़ी सेना तैयार की थी जिसमें मिर्जा राजा जयसिंह
के समय में भी बाईस हजार सैनिक थे। इसी का एक भाग खासा रिसाला था जो राजा के महल के पास ही
नियत था।

जयपुर के अंतिम महाराजा मानसिंह (1922-70 ई.) ने अपने शासन के आरंभिक वर्षों में रियासत की
सेना का ब्रिटिश सेना के अनुकरण पर जब आधुनिकीकरण और पुनर्गठन किया तो खासा रिसाला को "राजेंद्र
हजारी गार्ड्स" का नाम दिया गया। इस महाराजा ने बैरकों व अस्तबलों का भी आधुनिक आवश्यकता के
अनुसार पुनर्निर्माण कराया और दफ्तर, मैस तथा भण्डार आदि की दृष्टि से नये भवन बनवाये।

जयपुर रियासत का राजस्थान में विलय हो जाने के बाद राजेंद्र हजारी गार्ड्स को विघटित कर दिया गया

1. पं. गोपाल नारायण बहुरा से प्राप्त जानकारी
2. जयपुर एंड इट्स एनवायरन्स, जयपुर, पृष्ठ 63

अंत में गुलाबी नगर की इस अप्रतिम इमारत के संबंध में सवाई प्रतापसिंह के दरबार के कवि रस[illegible] रामनारायण के तीन कवित्त[2] उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता-

सुन्दर शहर सीस सेहरो संवार्‌यो किधौं,
पुहुप विमान आप अवनी पै आयो है।
कंचन रजत के पहार मिलि बैठे किधौं,
शरद घटा पै छटा थिर पद्र पायो है।।
किधौं "रसराशि" श्री प्रताप को सुजस तापै,
प्रकट प्रताप प्रभा पाय छवि छायो है।
भयो है न ह्वै है कहूं देख्यो न सुन्यो है ऐसो,
हवा देखिबे को हवामहल बनायो है।।

कंचन के कलश पताका धुजा कंचन की,
कंचन के तोरण करोरन निहारे हैं।
मोतिन की झालरि झुके हैं झब्बा मोतिन के,
मोतिन के चौक, चौक में संवारे हैं।।
चांदी को कटहरा चबूतरा हू चांदी को,
चांदी बंगला में "रसराशि" रंग भारे हैं।
चहल पहल हवामहल झब्यो है आज,
राधे गिरिधारी प्यारे पाहुने पधारे हैं।।

सुन्दर सुखद सोहयो सुधाधर को सो धाम,
जामैं श्यामाश्याम संग रंग बरसायो है।
झनक मनक होत भूषण बनक बने,
कूजत कपोत केकी कौतुक मचायो है।।
महकत अंगराग अंग की सुगंध सन्यो,
पुहुप पराग हू उमागे उफनायो है।
फबी जामैं छबीले सुहाग की सुवास हवा,
यातैं "रसराशि" हवामहल कहायो है।।

2. लिटरेरी हेरीटेज आफ दि रूलर्स आफ आमेर-जयपुर, पृष्ठ 497-98

13. राजेन्द्र हजारी गार्ड्स

विश्व-प्रसिद्ध हवामहल और गोवर्धननाथजी के मंदिर के सामने अब राजस्थान के महानिरीक्षक आरक्षी
ा कार्यालय है। दो विशाल चौकों के चारों ओर अनेक नये- पुराने मकानों में यह दफ्तर चलता है। जब तक
यपुर रियासत का अस्तित्व रहा, इसे "राजेंद्र हजारी गार्ड्स" कहा जाता था और यहां बैरकें थी जिनमें
श्वारोही दस्ते रहते थे।

नगर-प्रासाद की मौखिक परम्पराओं के अनुसार सवाई जयसिंह के समय में जब चौकड़ी सरहद में
ाजमहल, बाग और अन्य इमारतें बनवाई गईं तो रथखाना और गौखाना या गौशाला यहां रखे गये थे। तब
ही पर टकसाल और एक तोप ढालने का कारखाना भी स्थापित किया गया था, जिसका एक भाग ज्योतिष
त्रालय में आ गया। कपडद्वारा में एक दस्तावेज से पता चलता है कि यहां जो टकसाल खोली गई थी, उसमें
ढ़ाले हुए एक मुहर और पाच रुपये किसी पेमा खवास ने सवाई जयसिंह को नजर किये थे।[1]

सवाई प्रतापसिंह ने जब 1799 इ. में हवामहल बनवाकर पूरा किया तो इस नायाब इमारत के सामने एक
सुन्दर बगीचा लगाने की योजना बनाई गई। उस समय का एक नक्शा पोथीखाने में उपलब्ध है, जिससे इस
योजना की जानकारी मिलती है। जो हो, यह बाग नही लग पाया और राज-प्रासाद मे यह खासा रिसाले का
सदर मुकाम ही रहा।

ठाकुर हरनाथसिंह के अनुसार सवाई जयसिंह ने जलेब चौक के पास ही एक अलग अहाते में इस रिसाले
के लिए बैरकें और अस्तबल बनवाये थे।[2] जयपुर का सैन्य संगठन बड़ा पुराना चला आता था और राजा
भगवतदास और उसके कुंवर मानसिंह ने राजपूतों की एक बडी सेना तैयार की थी जिसमे मिर्जा राजा जयसिंह
के समय में भी बाईस हजार सैनिक थे। इसी का एक भाग खासा रिसाला था जो राजा के महल के पास ही
नियत था।

जयपुर के अंतिम महाराजा मानसिंह (1922-70 ई.) ने अपने शासन के आरंभिक वर्षों में रियासत की
सेना का ब्रिटिश सेना के अनुकरण पर जब आधुनिकीकरण और पुनर्गठन किया तो खासा रिसाला को "राजेंद्र
हजारी गार्ड्स" का नाम दिया गया। इस महाराजा ने बैरकों व अस्तबलों का भी आधुनिक आवश्यकता के
अनुसार पुनर्निर्माण कराया और दफ्तर, मैस तथा भण्डार आदि की दृष्टि से नये भवन बनवाये।

जयपुर रियासत का राजस्थान-में विलय हो जाने के बाद राजेंद्र हजारी गार्ड्स को विघटित कर दिया गया

---

1. पं. गोपाल नारायण बहुरा से व्यक्तिगत जानकारी

2. जयपुर एंड इट्स एनवायरन्स, जयपुर, पृष्ठ 63

अंत में गुलाबी नगर की इस अप्रतिम इमारत के संबंध में सवाई प्रतापसिंह के दरबार के कवि रसरासि रामनारायण के तीन कवित्त[2] उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता:

सुन्दर शहर सीस सेहरो संवार्यो किधौं,
पुहुप विमान आप अवनी पै आयो है।
कंचन रजत के पहार मिलि बैठे किधौं,
शरद घटा पै छटा थिर पद पायो है।।
किधौं "रसराशि" श्री प्रताप को सुजस तापै,
प्रकट प्रताप प्रभा पाय छवि छायो है।
भयो है न व्है है कहूं देख्यो न सुन्यो है ऐसो,
हवा देखिबे को हवामहल बनायो है।।

कंचन के कलश पताका धुजा कंचन की,
कंचन के तोरण करोरन निहारे हैं।
मोतिन की झालरि झुके हैं झब्बा मोतिन के,
मोतिन के चौक, चौक में संवारे हैं।।
चांदी को कटहरा चबूतरा हू चांदी को,
चांदी बंगला में "रसराशि" रंग भारे हैं।
चहल पहल हवामहल झव्यो है आज,
राधे गिरिधारी प्यारे पाहुने पधारे हैं।।

सुन्दर सुखद सोहयो सुधाधर को सो धाम,
जामैं श्यामाश्याम संग रंग बरसायो है।
झनक मनक होत भूषण बनक बने,
कूजत कपोत केकी कौतुक मचायो है।।
महकत अंगराग अंग की सुगंध सन्यौ,
पुहुप पराग हू उमागे उफनायो है।
फबी जामैं छबीले सुहाग की सुवास हवा,
यातैं "रसराशि" हवामहल कहायो है।।

2. लिटरेरी हेरीटेज आफ दि रूलर्स आफ आमेर-जयपुर, पृष्ठ 497-98

13. राजेन्द्र हजारी गार्ड्स

विश्व-प्रसिद्ध हवामहल और गोवर्धननाथजी के मंदिर के सामने अब राजस्थान के महानिरीक्षक आरक्षी
न कार्यालय है। दो विशाल चौकों के चारों ओर अनेक नये-पुराने मकानों में यह दफ्तर चलता है। जब तक
जयपुर रियासत का अस्तित्व रहा, इसे "राजेंद्र हजारी गार्ड्स" कहा जाता था और यहां बैरकें थीं जिनमें
अश्वारोही दस्ते रहते थे।

नगर-प्रासाद की मौखिक परम्पराओं के अनुसार सवाई जयसिंह के समय में जब चौकड़ी सरहद में
राजमहल, बाग और अन्य इमारतें बनवाई गईं तो रथखाना और गौखाना या गौशाला यहां रखे गये थे। तब
यहीं पर टकसाल और एक तोप ढालने का कारखाना भी स्थापित किया गया था, जिसका एक भाग ज्योतिष
यंत्रालय में आ गया। कपडद्वारा में एक दस्तावेज से पता चलता है कि यहां जो टकसाल खोली गई थी, उसमें
ढाले हुए एक मुहर और पांच रुपये किसी पेमा खवास ने सवाई जयसिंह को नजर किये थे।[1]

सवाई प्रतापसिंह ने जब 1799 इ. में हवामहल बनवाकर पूरा किया तो इस नायाब इमारत के सामने एक
सुन्दर बगीचा लगाने की योजना बनाई गई। उस समय का एक नक्शा पोथीखाने में उपलब्ध है, जिससे इस
योजना की जानकारी मिलती है। जो हो, यह बाग नहीं लग पाया और राज-प्रासाद में यह खासा रिसाले का
सदर मुकाम ही रहा।

ठाकुर हरनाथसिंह के अनुसार सवाई जयसिंह ने जलेब चौक के पास ही एक अलग अहाते में इस रिसाले
के लिए बैरकें और अस्तबल बनवाये थे।[2] जयपुर का सैन्य संगठन बड़ा पुराना चला आता था और राजा
भगवतदास और उसके कुंवर मानसिंह ने राजपूतों की एक बड़ी सेना तैयार की थी जिसमें मिर्जा राजा जयसिंह
के समय में भी बाईस हजार सैनिक थे। इसी का एक भाग खासा रिसाला था जो राजा के महल के पास ही
नियत था।

जयपुर के अंतिम महाराजा मानसिंह (1922-70 ई.) ने अपने शासन के आरंभिक वर्षों में रियासत की
सेना का ब्रिटिश सेना के अनुकरण पर जब आधुनिकीकरण और पुनर्गठन किया तो खासा रिसाला को "राजेंद्र
हजारी गार्ड्स" का नाम दिया गया। इस महाराजा ने बैरकों व अस्तबलों का भी आधुनिक आवश्यकता के
अनुसार पुनर्निर्माण कराया और दफ्तर, मैस तथा भण्डार आदि की दृष्टि से नये भवन बनवाये।

जयपुर रियासत का राजस्थान में विलय हो जाने के बाद राजेंद्र हजारी गार्ड्स को विघटित कर दिया गया

1. पं. गोपाल नारायण बहुरा से व्यक्तिगत जानकारी
2. जयपुर एंड इट्स एनवायरन्स, जयपुर, पृष्ठ 83

अंत में गुलाबी नगर की इस अप्रतिम इमारत के संबंध में सवाई प्रतापसिंह के दरबार के कवि
रामनारायण के तीन कवित्त[2] उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता-

सुन्दर शहर सीस सेहरो संवार्‌यो किधौं,
पुहुप विमान आप अवनी पै आयो है।
कंचन रजत के पहार मिलि बैठे किधौं,
शरद घटा पै छटा थिर पद पायो है।।
किधौं ''रसराशि'' श्री प्रताप को सुजस लापै,
प्रकट प्रताप प्रभा पाय छवि छायो है।
भयो है न व्है है कहूं देख्यो न सुन्यो है ऐसो,
हवा देखिबे को हवामहल बनायो है।।

कंचन के कलश पताका धुजा कंचन की,
कंचन के तोरण करोरन निहारे हैं।
मोतिन की झालरि झुके हैं झब्बा मोतिन के,
मोतिन के चौक, चौक में संवारे हैं।।
चांदी को कटहरा चबूतरा हू चांदी को,
चांदी बंगला में ''रसराशि'' रंग धारे हैं।
चहल पहल हवामहल झब्यो है आज,
राधे गिरिधारी प्यारे पाहुने पधारे हैं।।

सुन्दर सुखद सोहूयो सुधाधर को सो धाम,
जामें श्यामाश्याम संग रंग बरसायो है।
झनक मनक होत भूषण बनक बने,
कूजत कपोत केकी कौतुक मचायो है।।
महकत अंगराग अंग की सुगंध सन्यौ,
पुहुप पराग हू उमागे उफनायो है।
फबी जामें छबीले सुहाग की सुवास हवा,
यातें ''रसराशि'' हवामहल कहायो है।।

2. लिटरेरी हेरीटेज आफ दि रूलर्स आफ आमेर-जयपुर, पृष्ठ 497-98

13. राजेन्द्र हजारी गार्ड्स

विश्व-प्रसिद्ध हवामहल और गोवर्धननाथजी के मंदिर के सामने अब राजस्थान के महानिरीक्षक आरक्षी का कार्यालय है। दो विशाल चौकों के चारों ओर अनेक नये-पुराने मकानों में यह दफ्तर चलता है। जब तक जयपुर रियासत का अस्तित्व रहा, इसे "राजेंद्र हजारी गार्ड्स" कहा जाता था और यहां बैरके थी जिनमें अश्वारोही दस्ते रहते थे।

नगर-प्रासाद की मौखिक परम्पराओं के अनुसार सवाई जयसिंह के समय में जब चौकड़ी सरहद में राजमहल, बाग और अन्य इमारतें बनवाई गई तो रथखाना और गौखाना या गौशाला यहां रखे गये थे। तब यहीं पर टकसाल और एक तोप ढालने का कारखाना भी स्थापित किया गया था, जिसका एक भाग ज्योतिष यंत्रालय में आ गया। कपडद्वारा में एक दस्तावेज से पता चलता है कि यहां जो टकसाल खोली गई थी, उसमें ढाले हुए एक मुहर और पांच रुपये किसी पेमा खवास ने सवाई जयसिंह को नजर किये थे।[1]

सवाई प्रतापसिंह ने जब 1799 ई. में हवामहल बनवाकर पूरा किया तो इस नायाब इमारत के सामने एक सुन्दर बगीचा लगाने की योजना बनाई गई। उस समय का एक नक्शा पोथीखाने में उपलब्ध है, जिससे इस योजना की जानकारी मिलती है। जो हो, यह बाग नहीं लग पाया और राज-प्रासाद में यह खासा रिसाले का सदर मुकाम ही रहा।

ठाकुर हरनाथसिंह के अनुसार सवाई जयसिंह ने जलेब चौक के पास ही एक अलग अहाते में इस रिसाले के लिए बैरके और अस्तबल बनवाये थे।[2] जयपुर का सैन्य संगठन बड़ा पुराना चला आता था और राजा भगवतदास और उसके कुंवर मानसिंह ने राजपूतों की एक बड़ी सेना तैयार की थी जिसमें मिर्जा राजा जयसिंह के समय में भी बाईस हजार सैनिक थे। इसी का एक भाग खासा रिसाला था जो राजा के महल के पास ही नियत था।

जयपुर के अंतिम महाराजा मानसिंह (1922-70 ई.) ने अपने शासन के आरंभिक वर्षों में रियासत की सेना का ब्रिटिश सेना के अनुकरण पर जब आधुनिकीकरण और पुनर्गठन किया तो खासा रिसाला को "राजेंद्र हजारी गार्ड्स" का नाम दिया गया। इस महाराजा ने बैरकों व अस्तबलों का भी आधुनिक आवश्यकता के अनुसार पुनर्निर्माण कराया और दफ्तर, मैस तथा भण्डार आदि की दृष्टि से नये भवन बनवाये।

जयपुर रियासत का राजस्थान में विलय हो जाने के बाद राजेंद्र हजारी गार्ड्स को विघटित कर दिया गया

---

1. पं. गोपाल नारायण बहुरा से व्यक्तिगत जानकारी
2. जयपुर एंड इट्स एन्वायरन्स, जयपुर, पृष्ठ 83

और नगर प्रासाद का यह भाग नये राज्य की पुलिस का प्रधान कार्यालय बन गया। तब से अब तक
मकानात में और काफी हेरफेर हो गया है।

14. जयनिवास उद्यान

राज-दरबार और रनिवासो के बाद जब नगर-प्रासाद के विशाल उद्यान जयनिवास मे आते हैं तो न्द्रमहल के सामने ऐसा चित्रोपम दृश्य उपस्थित होता है जो मुगलो के शाही किलो मे भी नहीं है। किन्तु यह ही है कि जयपुर बसने के समय तक मुगल स्थापत्य और शिल्प आगरा के ताजमहल और एतमादुद्दौला के क्बरे, दिल्ली के लाल किले की शाही इमारतों और दूसरे उद्यान- भवनो मे अपनी सुन्दरता और भव्यता की राकाष्ठा को पहुच चुके थे। इसलिये यह स्वाभाविक था कि सवाई जयसिंह भी अपने महल की रूप रेखा में ागायत को इमारत जितना ही महत्त्व देता। जिस तालाब के किनारे शिकार की ओदी में बैठकर सभवतः हली बार उसने इस सुन्दर नगर की कल्पना की थी, वही "तालकटोरा" उस विशाल उद्यान का उत्तरी छोर ना जिसे "जय निवास" का नाम दिया गया। चन्द्रमहल इस बाग के दक्षिणी छोर पर बनाया गया और पूर्व था पश्चिम मे ऊंची और मजबूत दीवारो से घेर कर इस राजसी उद्यान भवन की हदबंदी की गई। ोविन्ददेवजी का मंदिर (सूरज महल) इस बाग के बीच में विशाल बारादरी थी और दक्षिणी छोर पर ालकटोरे मे मुह देखता 'बादल महल' बनाया गया था।

जयनिवास अनिवार्यतः एक मुगल बाग है और इसकी विशेषता बहते पानी की उन नहरो में है जो पूरे ाग को अलग- अलग निचले तख्तो मे बांटती चली जाती है। चन्द्रमहल के सामने संगमरमर का हौज अतीव ुन्दर है और जताता है कि बागायत की जिन्दगी पानी से ही है। रियासती तौर- तरीकों और कुरब- कायदों ने जयनिवास, चन्द्रमहल और बादल महल को कडे पहरे में बंद पर्दानशीन सौंदर्य की तरह रखा और इस मनोरम उद्यान तथा इसके भव्य भवनो की विशेषताओं को उजागर न होने दिया।

जयनिवास मुगल-उद्यान-कला के सर्वोत्कृष्ट नमूनो मे गिना जा सकता है। इसकी योजना आज भी वैसी ही है जैसी जयसिंह के समय में थी। अठारहवी सदी के आरंभ मे भारतीय रईसो की सुरुचि और सौंदर्य- प्रेम का अनुमान लगाने के लिए यह एक सशक्त उदाहरण है। भरतपुर में डीग के गोपाल भवन के फव्वारों की छटा का बड़ा नाम है, लेकिन जयनिवास के फव्वारों को चलते हुए जिन्होंने देखा है, वे मानेंगे कि यह भी डीग से होड लगाने वाला है, यद्यपि यहा की जलधाराओ मे रंगो की वैसी छटा नहीं होती।

चन्द्रमहल के नीचे से दोनो ओर पत्थर जडे मार्गों के बीचो-बीच जो नहर गई है उसको दोनो ओर से आने वाली ऐसी ही नहरें समकोण पर काटती हैं— ठीक उसी तरह जिस तरह जयपुर नगर के मार्ग एक-दूसरे के आर- पार जाते हैं। इस प्रकार बाग में जो चौराहे बनते है, वहां हौज बने है। सभी नहरो के बीच में थोडे- थोडे फासले से फव्वारे लगे हैं जिनकी संख्या हौजों मे और भी ज्यादा हो जाती है। चला देने पर सावन- भादों का

दृश्य उपस्थित होता है और अच्छी हवा चलती हो तो पहाड़ों के आनन्द के क्या कहने!

आमेर की पहाड़ी पथरीली भूमि में बाग-बगीचों की वैसी गुंजाइश नहीं थी जैसी जयपुर बसाने पर हुई। जब इतना बड़ा बाग लगाया जाने लगा तो उसके लिए पेड़-पौधों का चुनाव भी एक बड़ा काम था। जयपुर और चौमू के इतिहासकार स्वर्गीय हनुमान शर्मा का कथन है कि गुलाब, दाऊदी और सोनजाय के सैकड़ों पेड़ चौमू के मियां विलायतखां के बाग से यहां आये थे। मियांजी चौमू में मुसाहब या कामदार थे जिन्हें जयपुर रियासत से भी जागीर थी। चौमू के बाहर "नाडा" नामक स्थान में उन्होंने एक मस्जिद बनवाई थी और एक विशाल बाग भी जिसके सोन जाय, दाऊदी, कमरख और खिरनी के पेड़ बड़े नामी थे। जिस मिलीजुली हिन्दू-मुस्लिम शैली में नगर-प्रासाद तथा जयनिवास उद्यान की योजना बनी, मियां विलायत खां उसके भी प्रतीक थे। अभिवादन में "राम-राम" या "सीताराम" कहते, दान-पुण्य, पूजा-पाठ और ब्राह्मण भोजन तक में श्रद्धा दिखाते और अपने स्वामी, चौमू-ठाकुर मोहनसिंह नाथावत की वफादारी के साथ नौकरी बजाते। सवाई जयसिंह ने भी इस "मुसलमान हरिभक्त" को पन्द्रह सौ रुपये सालाना आय की जागीर बख्शी थी।[1]

जयनिवास में गोविन्ददेवजी के मंदिर के पिछवाड़े का विशाल हौज सवाई प्रतापसिंह ने बनवाया था। रंग-बिरंगे कांचों से बने झरने से गिरकर हौज का पानी आगे निचले बाग में जाता था। इस हौज के पूर्व में 'सावन-भादों' नामक फर्न-हाउस भी कभी बहुत सुन्दर और दर्शनीय था, जिसमें कल घुमाते ही सब ओर लगे छेददार नलों से पानी चलने लगता था और वर्षा का नजारा बन जाता था। प्रतापसिंह के बाद जयपुर को जो बुरे दिन देखने पड़े उनमें जयनिवास उद्यान की भी बड़ी उपेक्षा हुई। 1835 ई. में महाराजा रामसिंह गद्दीनशीन हुए और उन्होंने सारे जयपुर के जीर्णोद्धार के साथ जयनिवास को भी वह सौंदर्य और गरिमा लौटाई जो उनके 60-70 साल पहले तक रही थी। बारहदरी या गोविन्द देवजी के मंदिर के सामने दाहिनी ओर जो पीली इमारत बनी हुई है, वह रामसिंह ने ही बनवाई थी। यह "बिलियार्ड रूम" है जिसका स्थापत्य चन्द्रमहल या गोविन्द मंदिर से अलग-थलग मालूम होता है। इसकी छत बहुत ऊंची है और मेहराबें सुन्दर जो इटालियन संगमरमर के स्तंभों पर उठी हैं। 1875 ई. में ग्वालियर का महाराजा जियाजीराव सिंधिया महाराजा रामसिंह का मेहमान बनकर जयपुर आया था तो उसने यहीं बिलियार्ड पर अपने हाथ आजमाये थे। महाराजा मानसिंह ने इसे 'बेंक्वेट हॉल' का रूप दिया और यह आज भी इसी रूप में सुसज्जित है। बिलियार्ड रूम के ठीक सामने बाग के दूसरे तख्ते में ऊंची दीवारों से घिरा एक बड़ा-सा अहाता है जिसमें तरणताल है।

महाराजा मानसिंह (1922-70ई.) ने जयनिवास के पत्थर जड़े मार्गों, पानी की नहरों और मध्यवर्ती भाग को तो नहीं छेड़ा, किंतु बाग को उन्होंने आधुनिक उद्यान-कला के अनुरूप बनवाया। इससे नगर-प्रासाद की शोभा में अभिवृद्धि ही हुई है।

जयनिवास उद्यान चन्द्रमहल से बादल महल तक फैला है और बाग के बीचों-बीच गोविन्द देवजी के मंदिर के पश्चिम में एक छोटा दरवाजा निचले बाग में जाने का रास्ता है, जो पहले ऊपर के सजावटी बाग की तुलना में फलों का बगीचा था। अब तो यह बाग (निचला) कर्नल भवानीसिंह ने जयपुर नगर परिषद को दे दिया है जिससे नगर के दक्षिण में रामनिवास बाग की तरह उत्तर में यह जयनिवास बाग एक सार्वजनिक उद्यान बनकर इस ओर के नागरिकों के विहार और मन-बहलाव का अच्छा स्थल बन गया है।

1. नाथावतों का इतिहास, हनुमान शर्मा, पृष्ठ 160

15. ताल कटोरा

ुर के नगर-प्रासाद और जयनिवास के उत्तरी छोर पर ताल कटोरा है--एक बनावटी झील, जिसके
बादल महल और तीन ओर चौडी मिट्टी की पाल हुआ करती थी जिस पर अब जयपुर की बढ़ती
मकान ही मकान बनाकर इस चित्रोपम जलाशय के सारे सौन्दर्य को विकृत कर दिया है। इस पाल
ले बहुत सुन्दर बगीचा था जिसे "पाल का बाग" कहा जाता था। जयपुर के तीज और गणगौर के
ो का समापन पाल के बाग में ही होता आया है-- बादल-महल के एकदम सामने वाली पाल पर--
नों पर अष्टकोणीय छतरियां, बीचों-बीच कमानीदार छतवाली लम्बी छतरी और इनके बीच में
तों वाली जालियों से बद दो छतरियां और बनी हैं। तीज और गणगौर के जुलूस इसी जगह आकर
ते हैं। भोग के बाद ताल कटोरा में ही तीज और गणगौर को पधराने या विसर्जित करने का रिवाज
ह-लहाते बाग-बगीचों के बीच, जलाशय के किनारे तीज और गणगौर के रंगों से भरे जुलूसों का
ए इस शहर के सबसे चित्रोपम नजारों मे गिना गया है। दूसरी पाल पर जब इस प्रकार मेले का
ोता था तो बादल महल में जुडी सभा या दरबार में नाच-गान के कार्यक्रम चलते रहते थे। जिस
ब्रह्मपुरी और माधोविलास की दीवारों से टकराने वाला राजामल का तालाब तीन ओर से
ा को घेरता था तो ताल कटोरा नाम सार्थक हो जाता था--बड़े तालाब में तैरता हुआ कटोरा--ताल-

-प्रासाद की सरहद में आये हुए इस ताल में कभी मगरमच्छो की भरमार थी। इन्हें रोजाना महाराजा
से खुराक पहुंचाई जाती थी और यह जानवर बड़े पालतू हो गये थे। खुराक लेकर जाने वाले कर्मचारी
कटोरे की पाल पर जाकर खड़े होते तो बड़े-बडे मगरमच्छ उनके हाथों अपना भोजन पाने के लिये
चढ़कर ऊपर पाल तक आ जाते। मगरमच्छो को खिलाने का यह नजारा भी खूब था। जिन्होने देखा
अब तक याद है।

-खास अवसरों पर ताल कटोरा में मगरमच्छो को खिलाने का एक तमाशा भी होता। लम्बी रस्सी से
कोई जिन्दा खुराक तालाब में फेंक दी जाती, उसी तरह जैसे शेर के लिये बकरा या पाडा बांध दिया
बस, मगरमच्छों मे घमासान लडाई छिड जाती। जब सबसे जोरदार जानवर इस खुराक को पकड
रस्साकशी होती। एक तरफ मगर और दूसरी तरफ रस्सी को थामने वाले आदमी। अपनी शिकार के
कुद्ध मगरमच्छ को खींच कर तालाब से बाहर करने के लिए कई-कई लोगो को जोर आजमाना
इस तरह वह जबरन खिंच तो आता, लेकिन फिर झुंझला कर रस्सी को काट खाता और लौट जाता

पानी में।

राजामल का तालाब और ताल कटोरा की जगह जयपुर बसने से पहले भी झील ही थी जिसके आसपास आमेर के राजा शिकार खेलने के लिए आया करते थे। जब सवाई जयसिंह ने जयनिवास बाग और उसमें अपने महलात बनवाये तो ताल कटोरा को तो वह स्वरूप मिला जो आज भी हम देखते हैं और राजामल का तालाब नगर-प्रासाद की "सरहद" से बाहर आम जनता के लिए छोड़ दिया गया। इस तालाब को तत्कालीन ग्रन्थों में "जयसागर" कहा गया है, लेकिन जयसिंह के प्रधानमंत्री राजमल की हवेली के पास होने के कारण जयपुर के लोगों ने इसे "राजामल का तालाब" ही कहा। इसमें पानी की आमद शहर के उत्तरी भाग और नाहरगढ़ की पहाड़ी से होती थी। बालानन्दजी के मंदिर से लेकर तालाब तक पानी आने का रास्ता "नदी" कहलाता है जो फतहराम के टीबे के पास बारह मोरियों से होकर जयसागर या राजामल के तालाब में पहुंचता था। पूरा भराव हो जाने पर माधोविलास के पश्चिम से इसका अतिरिक्त पानी निकल कर मानसागर या जलमहल के तालाब में पहुंचता था और यही जयपुर के उत्तरी शहर का "नेचरल ड्रेनेज"—प्राकृतिक जल-निकास—था।

महाराजा रामसिंह के समय में जब शहर की आबादी बढ़ चली थी, राजामल के तालाब को गन्दगी और बीमारी (मलेरिया) का घर समझ कर मिट्टी से पाटना शुरू किया गया। पिछले राजाओं की उपेक्षा और जयपुर पर आये दिन आने वाली मुसीबतों के कारण तब जलेब चौक और जयनिवास बाग का बुरा हाल था। रामसिंह ने इन दोनों ही जगहों का सब कूड़ा-कचरा हटवाया और यह पास ही राजामल के तालाब में भर दिया गया। गोविन्ददेवजी की ड्योढ़ी के बाहर ही तब रामसिंह ने बग्घी-खाने और रामप्रकाश नाटकघर की इमारतें भी बनवाईं। तब से शहर का कूड़ा-कचरा ढोने वाली भैंसा-गाड़ियां भी इसी तालाब में खाली होने लगीं और इसके पूरा भर जाने तक होती रहीं। अब तो राजामल का तालाब 'कंवर नगर' नामक एक बस्ती बन गया है और यहां मकान ही मकान बन गये हैं। फिर भी सैकड़ों बरस जो जमीन तालाब के नीचे रही, उसमें आज भी सीलन और नमी है। इस नयी बस्ती के नीचे न जाने गन्दगी भी कितनी दबी पड़ी है! गिरधारीजी के मन्दिर की तरफ ट्रक वालों के पड़ाव हैं और सारी बस्ती में एक अजीबो-गरीब दुर्गन्ध भरी रहती है। नयी बस्ती होकर भी यह एक "स्लम" जैसी ही है।
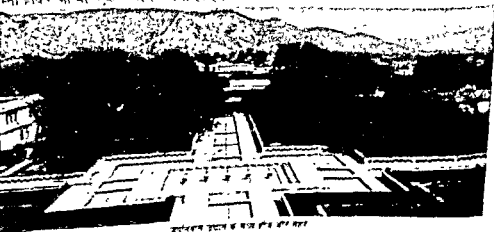
16. बादल महल

जयपुर बसने से पहले जो शिकार की ओदी थी, वह विस्तृत और परिष्कृत होकर बादल महल बनी। यह जयपुर की सबसे पुरानी इमारतों में से है और इसका "बादल महल" नाम भी बड़ा सार्थक है। बादल महल ताल-कटोरा तालाब पर खड़ा है जिसके सामने जयनिवास का निचला बाग है। मेह बरसता हो तो लहराते ताल और हरे-भरे विस्तृत बाग के बीच कटावदार मेहराबों और आसमानी रंग की छत और दीवारों वाला यह महल जैसे बादलों में उड़ान भरता प्रतीत होता है। जयपुर के प्रसिद्ध तीज और गणगौर के त्यौहारों पर जयपुर के राजा बादल महल में दरबार लगाया करते थे और इन दरबारों में आने वाले जागीरदारों, उमरावों, ओहदेदारों और शागिर्दपेशा लोगों तक को लाल या हरी, एक-सी पोशाक में आना पड़ता था। महाराजा प्रतापसिंह के समय में देवर्षि भट्ट जगदीश एक उत्कृष्ट कवि थे। वे कवि-कलानिधि श्रीकृष्ण भट्ट के द्वितीय पुत्र थे। उन्होंने तीज के जुलूस और बादल महल के दरबार के दृश्य का इस प्रकार वर्णन किया है:

उतै भूरि बादर हैं बादर महल इतै,
घंघला उतै यो इतै कंचनियां नाची हैं।
जगुन जमात उतै, दीपन की पांत इतै,
गरज उतै यो इतै, नौबतियां आची हैं।।
उतैं साझ फूली इतै रंग फूली सभा सोभ,
कवि जगदीश भन, भारती यों भाखी है।
उतै इन्द्र इतै महेन्द्र श्री प्रताप भूप,
अद्भुत तीज को जुलूस रचि राखी है।।[1]

1875 ई. में तीज के दिन ग्वालियर के महाराजा जियाजीराव सिंधिया महाराजा रामसिंह के मेहमान होकर चन्द्रमहल के "छवि-निवास" में ठहरे हुए थे। शाम के चार बजे तीज की तैयारी और मेले की चहल-पहल होने लगी तो सिंधिया से न रहा गया और उन्होंने महाराजा रामसिंह से इच्छा प्रकट की कि क्यों न घोड़ों पर सवार होकर दोनों बाजार में मेला देखें ! अपने कदीमी कायदों से रामसिंह ने ऐसा कभी नहीं किया था, इसलिये पहिले तो सकुचाया लेकिन अपने मेहमान का मन रखने के लिए फौरन ही इसके लिए राजी हो गया। दोनों राजा [illegible] बाजार में आ गए और सिरेड्योढ़ी व गणगौरी बाजार होते हुए [illegible] तो दरबार में भाग लेने के लिए बादल महल पहुंचे

और निधड़क दीन निवास में आ गया। परम्परागत रिवाजों को तोड़कर ऐसी अनौपचारिकताएं करते रहना रामसिंह की प्रकृति में था। भेष बदलकर शहर और राज्य के इलाकों से अपनी हालचाल जानने के लिए पहुंच जाना, जंगल में धूप की टापरी में प्याऊ लगाने वाली किसी बूढ़ी डोकरी के हाथों ओक से पानी पीना, मांग कर रूखी-सूखी रोटी या छाछ-राबड़ी खा आना और बदले में उसे एक या दो मोहर दे आना जैसी बातें यह राजा करता ही रहता था। इसीलिए रामसिंह को जयपुर का विक्रमादित्य और हारूं-अल-रशीद कहा जाता है।

1876 में जब प्रिंस ऑफ वेल्स एलबर्ट (बाद में एडवर्ड सप्तम) जयपुर आया तो रामसिंह ने बादल महल में ही जयपुर की दस्तकारियों और दूसरी कलात्मक वस्तुओं को इस शाही मेहमान को दिखाने के लिये सजा कर रखवाया था। यही नुमाइश जयपुर के विख्यात इंडस्ट्रियल आर्ट म्यूजियम की शुरुआत हुई जिसकी इमारत—एलबर्ट हाल—का नींव का पत्थर रामनिवास बाग में प्रिंस एलबर्ट ने रखा।

महाराजा माधोसिंह के जमाने में ब्राह्मण धरणी पर बैठे ही रहते थे और उनके लिए भोजन की व्यवस्था भी बराबर जारी रहती थी। ऐसे भोजों में जयपुर में "लड़ाकों" की समस्या हमेशा रहती आयी है। बिना बुलाये आने वाले और भोजन कर जाने वाले अभ्यागत को जयपुर वाले "लड़ाक" कहते हैं। जीमन बड़ा होता, सैकड़ों-हजारों का, तो लड़ाक भी बड़ी संख्या में चल जाते, लेकिन पचीस-पचास के खाने में भी लड़ाक आते तो बुरे लगते। फिर भी लड़ाक तो लड़ाक ही होते, आये बिना उनकी भी टेक कैसे रहती! कहते हैं, एक बार कुछ ऐसा प्रबन्ध किया गया कि एक भी लड़ाक न आ पाये और जो आ जाये तो पकड़ा जाये। इसके लिए जगह चुनी गई बादल महल जिसके एक ओर महल के प्रहरियों का कड़ा पहरा था और दूसरी ओर मगरमच्छों से भरा ताल-कटोरा। निमंत्रित लोगों की संख्या सीमित थी और उनके लिए उतनी ही संख्या में पत्तल, दोनों और दूसरे सामान की व्यवस्था थी। इतने पर भी एक लड़ाक आखिर पहुंच ही गया। भोजन पर बैठाये गये तो एक सज्जन खड़े रह गये। उनके लिये पत्तल नहीं थी। प्रबन्धकों ने पूछा कि एक ज्यादा कौन है और कैसे आया है तो लड़ाक ने तपाक से खड़े होकर अपना कौशल बखाना कि वह जान पर खेलकर तालकटोरा तैरकर आया है और सूखे कपड़ों का जो सैट वह अधर की अधर लाया था, गीले उतारकर वहीं बदल कर आया है। लड़ाक की इस हिम्मत और जुर्रत की बात महाराजा तक पहुंची तो उसे न केवल आगे से सभी भोजों में आने की छूट दी गई, बल्कि जागीर भी बख्शी गई। उसके खानदान का बैंक ही "लड़ाक" पड़ गया। जयपुर के पुराने लोग इस परिवार को अच्छी तरह जानते और मानते हैं।

अब तो बादल महल खंडहर हो रहा है। इसकी भित्तियों और छतों का पलस्तर गिरने लगा है, पत्थरों की चुनाई बाहर झांकने लगी है और रंग फीका पड़ गया है। कोई आश्चर्य नहीं होगा यदि कुछ वर्षों बाद बादल महल की केवल याद ही बाकी रह जाय !

17. जयसागरः जनता बाजार

राजा के नाम पर बन कर भी जयपुर जनता का शहर है। हमारे देश में तो यह पहला नगर है जो मूलत
जनता के स्वस्थ आवास-प्रवास, जीविकोपार्जन एवं वाणिज्य-व्यवसाय तथा सुरुचि और सौन्दर्य-बोध क
सर्वोच्च प्राथमिकता देकर नियोजित और निर्मित हुआ। इतने लम्बे-चौडे परकोटे से घिरे शहर में को
बाजार, कोई रास्ता-गलियारा और मोहल्ला ऐसा नहीं जो किसी राजा या रानी की याद सजोता हो। इ
जनहित-प्रेरित नगर-रचना के आदर्श और मूल भावना को अक्षुण्ण रखते हुए ही जयपुर की नगर परिषद
राजामल के तालाब की जगह अपने नव-निर्मित बाजार को जनता बाजार का नाम दिया है।

राजामल का तालाब दस एकड से अधिक उस काली-कलूटी, कूड़ा-कचरा भरी ऊबड-खाबड़ जमी
का नाम था जो एक ओर ब्रह्मपुरी, दूसरी ओर ताल कटोरा, बादल महल एवं जयनिवास उद्यान तथा तीसर
ओर चांदी की टकसाल और रामप्रकाश नाटकघर से घिरी थी। तालाब तो कभी का सूख गया या सुखा दिय
गया था, किन्तु यहां की नम और सीलन भरी मिट्टी तथा मटमैले कचरे में छोटे-छोटे सफेद शंख और सीपिय
बराबर यह प्रतीति कराती थी कि कभी यहा तालाब लहराता था। तथाकथित राजामल भी और कोई नही
राजा अयामल खत्री था जो जयपुर आने से पहले बादशाह औरंगजेब के दरबार में एक बडा ओहदेदार था
सवाई जयसिह ने उसे यहा लाकर अपना मुसाहिब बनाया, जागीर बख्शी और हवेली पर नौबत बजाने क
सम्मान भी दिया। जयपुर को बसाने मे राजा अयामल ने अपने स्वामी को भरपूर सहायता दी। जयपुर वालों
इस पजाबी नाम का जयपुरीकरण किया तो "अया" को तो "गया-आया" कर गये और कोरा 'राजा-मल
रख दिया। चूंकि राजा मल की विशाल हवेली, दीवानखाना, नौहरे, घुडसाल और हाथी के ठाण पास ही
(इसे अब 'रायजी का घेर' कहा जाता है), लोगो ने तालाब को राजामल के नाम से ही प्रसिद्ध कर दिया। इसक
अधिकृत नाम "जयसागर" राजकीय कागज-पत्रों तथा तत्कालीन ग्रन्थों तक ही सीमित रहा।

सवाई जयसिह और उसके पुत्र ईश्वरी सिह के समय मे जयपुर के नये-नये नगर में इस सरोवर की शोभ
और सुषमा कैसी थी, इसके लिए उनके सम-सामयिक राज-कवि देवर्षि श्रीकृष्ण भट्ट के महाकाव
"ईश्वर- विलास" के कुछ अश देखिए, जिनका संस्कृत से हिन्दी भावानुवाद इस प्रकार है:

"महाराजा सवाई जयसिह ने उच्च, श्वेत और समृद्धिशाली कैलाश सदृश भवनो का निर्माण क
ब्रह्मपुरी बसाई जिसके तट पर ऐसा सुरम्य जलाशय है जिसके किनारे कमल-वनों के पराग से आकृष्ट भौं
के वीणा-विनंदक स्वर गूंजते रहते हैं। यह तालाब पौराणिक समुद्र के समान, इन्द्र के ऐरावत हाथी औ
उच्चैश्रवा घोडे के समान (महाराजा के) हाथी-घोडो से सुशोभित है। (श्लेषालंकार का चमत्कार दिखाते हु

नरेश पद्मनाभ भाग रहते हैं) यह पद्मों का आश्रय है अथवा पद्मा—लक्ष्मी—का निवास है। इसके मध्य में
विष्णु भजन करते हैं जो पुण्डरीकाक्ष हैं (पुण्डरीक से आशय कमल-दल तथा महाराजा के गुरु रत्नाकर
पुण्डरीक, दोनों से है जिनका विशाल भवन आज भी इस जलाशय के उत्तरी तट पर खड़ा है)।

"यह जलाशय गंभीर, शोभाशाली और पवित्र है, अत: इन तीन गुणों से चतुर्मुख, श्रीधर और शंकर के समान है, ब्रह्मा, विष्णु और महेश की त्रिमूर्ति-सा प्रतीत होता है।

"इसमें उठने वाली तरंगों से ऐसा प्रतिभासित होता है कि (ब्रह्मपुरी में रहने वाली) विप्र सुन्दरियों की कान्ति को देखकर यह भयभीत हो कांप रहा है। उनके नेत्रों और मुख के सौन्दर्य से कमल-दल हार गये हैं, उरोजों की शोभा से चक्रवाक हार गये हैं, त्रिवली की शोभा से तरंग हार गई है और केशों की शोभा से भौंरे हार गये हैं।"

"ईश्वर विलास" के रचनाकार के अनुसार सवाई जयसिंह ने "जय" शब्द के साथ तीन चीजें बनाईं—आमेर में जयगढ़ या दुर्गम गिरि-दुर्ग, जयपुर या "श्री संदोह, शोभा समूह:" नगर और जयसागर या मनोरम जलाशय। "त्रितयंन वाचां" संस्कृत का मुहावरा है। किसी बात को पक्का और स्थिर मानने के लिए आज भी लोक में उसे तीन बार कहने की परम्परा प्रचलित है। किसी भी नीलाम की बोली तीन बार पुकारने पर ही खत्म की जाती है। अपनी सार्वजनिक सभाओं में भाषण समाप्त करने पर प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी भी तीन बार "जय हिन्द" का उद्घोष करती और सारे जन-समूह से कराती हैं। इस "त्रिवाचा" का महत्व प्रतिपादित करते हुए कवि भविष्यवाणी करता है कि इस जय-त्रयी (जयगढ़, जयनगर अथवा जयपुर और जयसागर) में "जय" सुनिश्चित और असंदिग्ध है। यदि फिर भी किसी को कोई शंका हो तो इस जय-त्रयी में सवाई जयसिंह का नाम और जोड़ कर पूरा "जय-चतुष्क" कर लें और जयपुर के जय के विषय में निश्चिंत हो जाये !

हम देख सकते हैं कि अपने संस्थापक सवाई जयसिंह की मृत्यु के बाद पूरे पिचहत्तर वर्षों तक गृह-युद्ध, बाहरी हमलों और लूट-पाट तथा षड़यंत्र-कुचक्रों के झंझावातों के बीच भी यह दर्शनीय नगर किस प्रकार बनता और बढ़ता रहा है। बना ही कुछ ऐसे शकुन से है यह नगर कि ध्वंस के बीच भी निर्माण के स्वर बराबर गूंजते रहे हैं। यह जयपुर का जय नहीं तो क्या है कि राजस्थान बनने के बाद इसे इतने विशाल राज्य की, जो भारत का दूसरा सबसे बड़ा राज्य है, राजधानी बनने का गौरव प्राप्त हुआ, जबकि राजस्थान से बहुत छोटे पंजाब ने चंडीगढ़ बनाना आवश्यक समझा और गुजरात के लिए अहमदाबाद और सूरत जैसे ऐतिहासिक तथा बड़ौदा जैसा प्रगतिशील नगर होते हुए भी गांधीनगर का निर्माण अनिवार्य हो गया। और तो और, उड़ीसा जैसे राजस्थान से भी कहीं पिछड़े और अल्प साधन-सम्पन्न राज्य ने भी भुवनेश्वर को नये सिरे से बनाकर अपनी राजधानी स्थापित की। जयपुर में वह सब कुछ पहले से ही था जो इन नव-विकसित राजधानियों में अब उपलब्ध कराया गया है।

इसमें भी संदेह नहीं कि राजस्थान की स्थापना के बाद इसकी यह अप्रतिम राजधानी, जिसे संसार के पांच सर्वसुन्दर नगरों में यद्यपि गिना जाता रहा, पूरे बाईस वर्षों तक शासन और स्थानीय स्वायत्त शासन, दोनों द्वारा ही उपेक्षित रही। द्वितीय विश्व-युद्ध काल में सर मिर्जा मोहम्मद इस्माइल द्वारा इस नगर में लायी गई "म्यूनिसिपल क्रान्ति" के बाद 1971 ई. में जाकर बरकतुल्ला खां के मुख्यमंत्री बनने पर जयपुर के दिन फिर से फिरे। बरकत साहब मानते थे कि जयपुर की सारी दुनिया में शोहरत है और यहां जो भी सुधार का काम किया जाता है, उसकी तरफ दुनिया भर की तवाजोह अपने आप हो जाती है। इसलिए जयपुर को इसकी शोहरत के मुताबिक रखने में उन लोगों का भी नाम ही होता है जो इस शहर में मसनद पर बैठते हैं। पते की बात को यों आनन-फानन में समझने वाले बरकत मियां तो मसनद पर ही क्या, इस दुनिया में भी

ज्यादा नहीं रह पाये, लेकिन जो शुभ काम उन्होंने जयपुर के लिए छेड़ा था, उसे उनके उत्तराधिकारी हरिदे
जोशी ने भी उसी ताव और लगन से आगे बढ़ाया। अपने सोचे और सपनों में संजोये गये कामों को पूरा हो
देखकर जोशीजी तब बड़े आनंदित होते थे। जयपुर की गंदी और कच्ची बस्तियों के काया-पलट और उन
आदर्श आधुनिक बस्तियों में परिणत होने को वे एक ऐसी उपलब्धि मानते थे, जिससे उन्हें हार्दिक प्रसन्न
ही नहीं, आत्मतोष भी मिला। जनता बाजार का विकास भी ऐसा ही काम था जो जयपुर के साथ यहां
शासन और स्थानीय स्वशासन का भी जयजयकार कराने वाले है।

जयपुर के बाद जयगढ़ को लीजिये, और कवि की वाणी की सार्थकता परखिये। राजस्थान में किलों औ
गढ़-कोटों की कोई कमी है? गांव-गांव, शहर-शहर पर दुर्गों की प्राचीरें झुकी हैं। रणथम्भोर हठी हमीर
बलिदान से आज तक उजागर है और सबका सिरमौर है गढ़ चित्तौड, जिसके सामने और सभी किले'गढ़ैया'

इतिहास के पृष्ठों में चित्तौडगढ़ ने यह प्रशस्ति अर्जित की है तीन-तीन साकों में हजारों राजपू
रण-बांकुरों को तलवार की धार पर और उनकी वीरांगनाओं को जौहर की धधकती ज्वाला में उतार कर
किन्तु जयगढ़! न कोई घेरा, न युद्ध, न साका और न जौहर। ऐसे दुर्गम दुर्गों के सुरक्षात्मक महत्त्व के दिन
लद गये। लेकिन जयगढ़ निकला तकदीर का सिकन्दर। पिछले दिनों खजाने की खोज के प्रसंग में सारे समा
में क्या नाम पाया इस किले ने! सारे भारत में ही नहीं, यूरोप और अमरीका तक में जयगढ़ ही जयगढ़ ह
गया!!! और जयगढ़ का "जय" अन्त तक बहाल रहा।

जय-त्रयी में तीसरा जयसागर है जिसका "जय" अब नगरपरिषद द्वारा निर्मित जनता बाजार
निनादित हो रहा है। जयपुर की पुरानी राज्य-व्यवस्था तो इतिहास के गर्भ में विलीन होनी ही थी, किन
जयपुर का पंचरंग इस बाजार में एक नये रूप में पुराने राजमहल क्षेत्र के शीर्ष पर ही लहरा उठा है। जनत
बाजार में वही जयपुर का रूप और रंग है, वही गुलाबी आभा में दमकती दुकानें और उन पर वही ज्यामिति
डिजायनों के कलात्मक कंगूरे। किन्तु इन दुकानों के शटर्स पांच रंगों में रंगकर जयपुर की पंचरंगी बहार जै
फिर से निखारी गयी है।

यह सारी जगह दल-दल और गंदगी से भरी थी। इसका कारण? जैसे-जैसे शहर बढ़ा और जमीन
लिये लोगों की हविश भी, इस निचले क्षेत्र को कूडा-कचरा डालकर भरा जाने लगा और धीरे-धीरे "ईश्व
विलास" में वर्णित कमलों से आच्छादित जयसागर सचमुच एक ऐसा ऊबड-खाबड भू-खण्ड बन गया ज
गंदगी का एकछत्र साम्राज्य था। वैसे इस निचली जगह में पानी की आवक का एकदम बन्द होना पचास वर्ष
जयपुर निवासियों की याद की बात है। पिछले तीस-चालीस बरस में ही जयसागर या राजामल का ताला
ऐसा विकृत हुआ था।

आपात-स्थिति लागू होने के बाद जब जयपुर के प्रशस्त बाजारों की जिला प्रशासन और नगर परिषद
सांध ली और सब प्रकार के अतिक्रमण हटाये गये तो प्रश्न उठा कि बेदखल लोग कहां जायेंगे? इसलि
विस्थापित थड़ी-होल्डरों के लिये तो इन्दिरा बाजार बना और अन्य लोगों के लिये जो अवैध कब्जे कर कहीं
किसी केबिन तो कहीं किसी छोटी-सी आलमारी, कहीं टेला तो कहीं खोचा लगाकर बैठे थे, जनता बाजार की
कल्पना की गई जो यहां 489 दुकानों के निर्माण में साकार हो गई।

दस एकड से कुछ अधिक भूमि पर 1.9 एकड में तो दुकानें आती हैं, दो एकड क्षेत्र में उद्यान है, 2.9 एक
में सड़कें निकली और 2.89 एकड़ फुटपाथों तथा अन्य सुविधाओं में खप गई है। दुकानें पांच अलग-अल
...में बनाई गई हैं और उद्यान बनना अभी शेष है।
...तो एक बने-बनाये नाले को पाटना ही था, पर जनता बाजार में नींव के लिए दो

खोदते तो पानी निकल आता था। जयसागर तो भर गया था, पर सागर भरा जाने पर भी कीचड रह जाता है, इस कहावत के अनुसार यह बाधा स्वाभाविक थी। फिर जगह-जगह गड्ढे भी थे जिनके लिये मिट्टी की दुलाई की जाती तो लाखों टन लानी पड़ती। इसलिये कूड़े-कचरे से गड्ढे पाटते रहे और जहां भी पानी निकला उसे पम्पों से हटा-हटा कर नीवें भरी जाती रहीं। इस तरकीब से कम खर्च में सारी जमीन समतल भी हो गई और काम भी ऊपर आता रहा। सारे बाजार में यूकलिप्टिस के वृक्ष लगाये जा चुके हैं। यह वृक्ष भू-जल को सोखने में कारगर बताया जाता है।

सन् 1976 की दीपावली के प्रकाश-पर्व पर जनता बाजार पहली बार जगमगाया और इस अबूझ मुहूर्त में इसके उद्घाटन ने जैसे आश्वस्त कर दिया कि इसकी जय भी सुनिश्चित है। जब सागर लहराता था तो इधर इतनी बस्ती भी कहां थी? अब तो इसके दक्षिण-पूर्व की ओर नगरपरिषद के कर्मचारियों की दो-ढाई हजार परिवारों की आवासीय बस्ती है। उत्तर में "कैलाश-शैलोपमे" ब्रह्मपुरी की बस्ती भी अब पुराणपुरी नहीं रही, नये-नये मकानों और नये-नये लोगों से आबाद है। कमलनगर और जोशीनगर की बस्तियां भी नाहरगढ़ के ढलान तक बढ़ गई हैं— जैसे अब तक दबे हुए लोग ऊंचे और ऊंचे जाने के लिए बेताब हैं। यह सब इधर की जनता है जिसकी विभिन्न जरूरतें नया जनता बाजार ही पूरी कर रहा है।

इन्द्र विमान— सवाई जयसिंह द्वारा बनवाया गया हाथियों का रथ
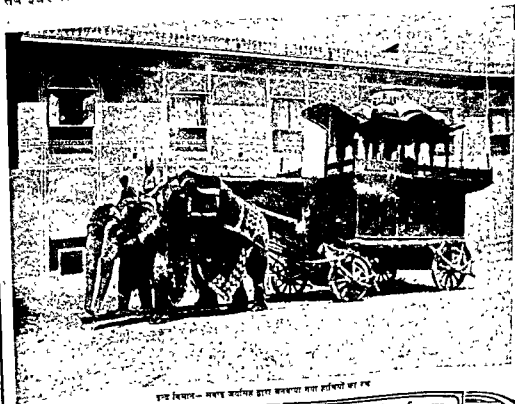
18.रामप्रकाश नाटकघर

जयसागर के आगे अर्थात जनता बाजार के पूर्व में सिरह ड्योढ़ी बाजार में खुलने वाला रामप्रकाश कघर कभी इस गुलाबी शहर की एक अलग ही शान था। साहित्याचार्य भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने इस र के इस भारत-विख्यात रंगमंच के प्रसंग में खेदजनित आश्चर्य के साथ व्यक्त किया है कि "नवीनयुग या नरनाट्यस्थले चित्रनाट्यमीक्षचलज्जल्पच्चित्र बन्धुरे" (इस नाटकघर में मानव नाट्य-कला के स्थान अब चित्रों की नाट्यकला देखता हूं)।[1] वस्तुत: जिन लोगों को रामप्रकाश में नाटक देखने का अवसर मिला और जिन्होंने इस रंगमंच के ऐतिहासिक महत्त्व को आंका है, वे सभी इस बात पर खेद प्रकट करते हैं। मप्रकाश के नाटकघर से सिनेमाघर बन जाने के कारण इस नगर की कोई ऐसी चीज खत्म हो गई है जो ने और रहने लायक थी। इस नाटकघर को सिनेमा में परिणत करने का 'अपराध' जयपुर के प्रसिद्ध ानमन्त्री सर मिर्जा इस्माइल ने किया था जिन्हें अन्यथा जयपुर को सुधारने-सवारने का बड़ा श्रेय है।

जब ऐसा किया गया था तब भी पुराने और जानकार लोगों को यह परिवर्तन बहुत अखरा था और उनके र तर्क में सचमुच सचाई थी कि सिनेमाघर तो नया भी बन सकता है (तब से आज तक कई बन गये हैं और ते जा रहे हैं) किन्तु ऐसा नाटकघर फिर कहां बनेगा? इस नाटकघर के समाप्त हो जाने पर जयपुर में मंच का अभाव अनुभव किया गया और रवीन्द्र शताब्दी के अवसर पर "रवीन्द्र मंच" के निर्माण द्वारा सकी पूर्ति भी की गई। इस नवीन रंगमंच की इमारत से इसके उद्घाटनकर्ता स्वर्गीय डा. सम्पूर्णानंद की बीयत खोपत हो गई थी और उन्होंने अपने उद्घाटन भाषण में इसे साफ-साफ अभिव्यक्त भी किया था। ह बात जाने दें, फिर भी यह निर्विवाद है कि रवीन्द्र मंच ने जयपुर में न वैसी धूम मचाई है और न मचायेगा । कभी रामप्रकाश नाटकघर ने मचाई थी।

साहित्य, संगीत और कला के प्रेमी रामसिंह (1835-1880 ई.) ने जयपुर निवासियों को रामनिवास और मबाग, महाराजा कॉलेज और महाराजा संस्कृत कॉलेज, गर्ल्स स्कूल, मेयो अस्पताल, जलकल और गैस ाइट के साथ-साथ रामप्रकाश थियेटर या नाटकघर भी दिया था। जब यह बनाकर खोला गया था तो त्कालीन भारत के सर्वोत्तम नाटकघरों में इसकी गिनती की गई थी। इसके मंच पर विमानों तथा पात्रों के ाकाश से अवतरित होने अथवा पृथ्वी से अकस्मात् प्रकट होने के आश्चर्यजनक साधन और उपकरण थे ौर पर्दे भी प्राकृतिक दृश्यों और महल-मन्दिरों की चित्रकला से अलंकृत होकर प्रसंगानुरूप पृष्ठभूमि बनाते ।। अपने समय में यह बड़ा आश्चर्यजनक और एक नवीन आविष्कार था जिसे देखने के लिए जयपुर और

[1] जयपुर वैभव, पृष्ठ 33

आसपास के क्षेत्रों में एक नशा ही छा गया था। इक्के-तांगेवालों ने नाटक देखने के लिये अपने टट्टुओं को बेच डाला था, भिश्तियों ने अपनी मशकें और पखालें। नाटक देखने के नशे में गाफिल शहर में चोरियां और उठाईगीरी की वारदातें भी बढ़ गई थीं। पोटाश के धमाके के साथ संगीत के मुखरित वातावरण में रामप्रकाश का पर्दा उठता तो दर्शक दंग रह जाते और तीन-तीन चार-चार घण्टे बैठकर अपूर्व मनोरंजन करते। उन समय खेले जाने वाले नाटकों में "इन्द्रसभा" बड़ा लोकप्रिय नाटक था जिसमें रामसिंह के गुणीजनखाने के अनेक कलावंत भी काम करते थे।

जयपुर का गुणीजनखाना तब कलावतों की खान था, किन्तु रामसिंह ने इस रंगमंच को एकदम आधुनिक बनाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी और नाट्यकला में सिद्ध-हस्त बम्बई की पारसी थियेट्रिकल कम्पनी के कलाकारों को भी यहां आमन्त्रित किया और स्थानीय अभिनेताओं को उनके प्रशिक्षण में तैयार करवाया। शीघ्र ही रामप्रकाश की मंच-सज्जा, अन्य उपकरण, आर्केस्ट्रा और कलाकारों की टोली ऐसी कुशल हो गई कि तत्कालीन राजपूताना में तो कहीं इसका मुकाबला न था।

महिला पात्रों के अभिनय के लिये तवायफों-वेश्याओं-को प्रेरित करना इस नाटकघर का अपने आप में एक कीर्तिमान था। तब के समाज में भले घरों की कौन औरतें इस गाने-बजाने और नाचने-कूदने के काम के लिये आगे आतीं? सिनेमा के मूक युग में भी तारिकायें बहुत दिनों तक वेश्यायें ही हुआ करती थीं!

जयपुर के इस अत्यन्त लोकप्रिय और अपूर्व रंगमंच ने सौ साल पहले जैसी धूम मचा रखी थी उसकी ऐतिहासिक सनद महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास के "वीर विनोद" में सुरक्षित है। 1880 ई. का साल आरम्भ होते ही श्यामलदास मेवाड़ के महाराणा सज्जनसिंह के साथ जयपुर में महाराजा रामसिंह के मेहमान थे। महाराणा और उनकी पार्टी पूरे एक सप्ताह यहां रहे और इन सात दिनों की पांच रातें उन्होंने रामप्रकाश में नाटक देखने में बिताईं। रामप्रकाश नाटकघर की विशेषताओं को उजागर करने वाली इस इतिहासकार की पंक्तियां उद्धृत करने योग्य है:

"पहली जनवरी को दोनों अधीश एक बग्घी में सवार होकर रामनिवास बाग में पाठशाला के विद्यार्थियों का जलसा देखने गये और वहां हैडमास्टर की स्पीच सुनकर विद्यार्थियों का कुतूहल देखने के बाद वापस महलों में आये। रात्रि के समय दोनों अधीशों ने मय सभ्यजनों के नाटकशाला में पधार कर "जहांगीर" बादशाह का नाटक देखा (यह शायद "अनारकली" रहा होगा)।

"यह नाटकशाला इन्हीं महाराजा साहब ने बड़े खर्च से बनवाकर बम्बई से पारसी वगैरह शिक्षित मनुष्यों को बुलवाया और स्त्रियों की जगह जयपुर की वेश्याओं को तालीम दिलवाकर तैयार करवाया। इस नाटक में वस्त्र, भूषण वगैरह सामग्री समयानुसार और बोलचाल, पठन-पाठन आदि सभी बातें अद्भुत और चरित्र की सभ्यता दिखाने वाली थीं। परियों का उड़ना, पहाड़ों व मकानों की दिखावट और फरिश्तों का जमीन व आकाश से प्रकट होना देखने वालों के नेत्रों को अत्यन्त आनन्द देता था। मैंने ऐसा नाटक पहले कभी नहीं देखा था।"

कविराजा के अनुसार दूसरे दिन भी दोनों अधीशों ने "बद्रेमुनीर" और "बेनजीर" नाटक देखे। चार जनवरी की रात को "अलादीन और अजीब व गरीब चिराग" का नाटक हुआ और पांच जनवरी को "हवाई मजलिस" का नाटक देखा।

"वीर विनोद" में आगे बताया गया है: "छह जनवरी को दोनों अधीशों का मिलना हुआ और रात के समय 'लैला-मजनूं' का नाटक देखा जहां तुकोजीराव होल्कर, इन्दौर के ज्येष्ठ और कनिष्ठ पुत्र भी, जो राजपूताना की सैर करते हुए जयपुर में आये थे, नाटक देखने में शरीक हुए।"

महाराणा सज्जनसिंह और श्यामलदास 30 दिसम्बर, 1879 ई. को जयपुर पहुंचे थे और सात जनवरी,

1880 ई. की रात को स्पेशल ट्रेन से वे किशनगढ गये थे। जयपुर प्रवास मे उनकी रातें जैसे रामप्रकाश नाटकघर के लिए ही आती थीं। "वीर-विनोद" मे यह सविस्तार वर्णन नाटकघर के साथ-साथ नाटको और उनके पात्रो के अभिनय की उत्कृष्टता और सफलता का भी परिचायक है। यह भी स्पष्ट है कि श्यामलदास जैसे विद्वान और इतिहासज्ञ तथा मेवाड के "हिन्दुवां-सूरज" महाराणा ने इससे पहले कभी ऐसे अच्छे नाटक नहीं देखे थे और उनका इनमे भरपूर मनोरंजन हुआ था।

चौड़े चौगान दर्शकों और श्रोताओं की भीड़ से घिरे तख्तों या पाटो पर "देवर-भाभी" और दूसरे तमाशे देखने के शौकीन जयपुर वालों के लिए कलकत्ता के स्टार थियेटर की प्रतिकृति-रामप्रकाश का रंगमंच-वास्तव में अपूर्व मनोरंजन का साधन था, जिसने इस शहर की ख्याति दूर-दूर तक फैला दी थी। इस नाट्यशाला के सिनेमाघर बन जाने से इस मंच के ऐतिहासिक अवशेष भी नहीं रहे हैं, हां इमारत का अग्र भाग अब भी वैसा ही है जैसा कविराजा श्यामलदास ने देखा था।

रामप्रकाश नाटकघर की सबसे बडी उपलब्धि यही थी कि इसके रंगमच पर स्त्री-पात्रो का अभिनय करने वाली औरतें "सचमुच" औरतें ही थी। यह उन्नीसवीं सदी के सातवे-आठवें दशक में एक अद्भुत और अनहोनी-सी बात थी।

भारत में परम प्रसिद्ध और अत्यन्त लोकप्रिय होने वाले पारसी रगमच की स्थापना सन् 1864 ई. में हुई थी। उस समय स्त्री का पार्ट करने के लिये लडके ही रखे जाते थे। इससे पहले भी नौटकी, रासलीला आदि मण्डलियों में स्त्री-पात्रो के लिये लड़कों को ही सजाया जाता था। भारत की ही क्या बात, रोम और यूनान की प्राचीन सभ्यताओं तक मे नाटक ने स्त्री-पात्रों के लिये पुरुष ही पैदा किये थे और इग्लैण्ड में भी इसी परम्परा का पालन किया जा रहा था। 19 वीं सदी के मध्य मे शेक्सपीयर के नाटको को लेकर जो प्रारम्भिक विदेशी कम्पनियां भारत आई थी, वे भी स्त्री-पात्रों के रूप में पुरुष कलाकारों को ही अपने साथ लाई थीं।

भारत मे स्थापित होने वाली आरम्भिक पारसी कम्पनियो मे न्यू एल्फ्रेड कम्पनी सबसे प्रसिद्ध और दीर्घजीवी हुई। पूरे 52 साल यह चली। इसके अपने कारण थे। एक तो यही कि भारतीय जनता की धार्मिक भावनाओ का पूरा-पूरा लाभ उठाते हुए इसने अधिकतर धार्मिक आख्यानो को अपने नाटकों के लिये चुना। सनातनी जनता यह नाटक जहां खूब पसन्द करती थी, वहां यह कभी स्वीकार नहीं कर सकती थी कि कोई वारागना अथवा मंगलामुखी सीता, राधा या पार्वती की भूमिका मे उसके सामने आये। कुछेक कम्पनियो में जो महिलायें तब अभिनेत्रियां बनी थी, वे सभी पेशेवर थी। न्यू एल्फ्रेड कम्पनी ने इन पेशेवर औरतों को कभी काम नहीं दिया और अपने पुरुष-पात्रो को ही नारी बनाकर सफलता की कई सीढ़िया चढ़ गई। उस जमाने में स्त्री-पात्रों का अभिनय करने वालों मे पंजाब में गुजरानवाला का निवासी "जगली", जौनपुर का महबब हुसैन, अहमदाबाद के पास कडी गाव का लल्लूभाई "छोकरी", जालधर का गुलामहुसैन "लेडी" और "कलकत्ते की कोयल" मास्टर निसार के नाम वैसे ही लोकप्रिय थे जैसे आज रेखा, हेमा मालिनी और जीनत अमान के हैं।

सच तो यह है कि रंगमच पर सचमुच की औरतें 1900 ई. के बाद ही आना शुरू हुई। यह प्रायः सभी पेशेवर थीं। पेशेवर कहने से उस जमाने मे आशय यह था कि वे कुलशील की मर्यादा से बाहर और बाजारू थी। इनमे यहूदी पेशेवर गौहर, कराची की असली अरबी पेशेवर जमीलाबाई और शशिशाबाई का बड़ा दौर-दौरा रहा। "बुलबुले बंगाल" जहाआरा बेगम उर्फ कज्जन और मास्टर निसार की जोड़ी 1931 ई. में बोल्-चित्र आरम्भ होने पर पहले नायक-नायिका के रूप मे रजतपट पर आई। इसके साथ ही पारसी रगमच की परम्परा की भारत मे इतिश्री हो गई।

रामप्रकाश जैसे रगमच के सस्थापक महाराजा रामसिंह 1880 ई. में तो स्वर्गवासी हो गया था। पर

जानकर बड़ा विस्मय और आश्चर्य होता है कि जब बम्बई, कलकत्ता और अन्यत्र भी स्त्री-पात्रों की भूमिका स्त्रियां नहीं करती थी, तब जयपुर की तवायफें इस रंगमंच पर तरह-तरह की भूमिकायें अभिनीत कर वाहवाही लूट रही थीं।

एक चन्दाबाई सौम्बाली थी, जिसे महाराजा "मौलाना" कहकर सम्बोधित करते और ग्रीनरूम में जाकर स्वयं उसके पंख लगाते, मेक-अप कराते। वह प्रायः सब्जपरी की भूमिका करती थी। इसी शृंखला में दो और तवायफों के नाम हैं-नन्हीं और मुन्ना। दोनों बहिनें थी और लश्कर से यहां आई थीं। इनकी लम्बी-चौड़ी हवेली घाट दरवाजा बाजार में नवाब के चौराहे पर आज तक पास-पड़ौस के लोग बताते हैं। अब यह किसी मुसलमान जौहरी ने खरीद ली है। महाराजा रामसिंह के जमाने में जयपुर के नये-नये नाटकघर में इन दोनों बहिनों ने भी नाटकों में सफल अभिनय किया था और रंगमंच के दोनों ओर इनके चित्र भी दीवार पर अंकित थे। कविराजा श्यामलदास ने अपने "वीर विनोद" में जिन नाटकों की जी भर तारीफ की है उनमें नन्ही-मुन्ना को भी उन्होंने अवश्य देखा होगा।

लेखक को जयपुर के प्रधानमंत्री कान्तिचन्द्र मुकर्जी के हाथ के लिखे कौंसिल के कार्य-विवरण में रामप्रकाश नाटकघर सम्बन्धी अनेक दिलचस्प इन्द्राज मिले हैं। 30 नवम्बर, 1880 के कार्य-विवरण में लिखा है कि जयपुर कालेज के प्रिंसिपल ने, जो तब शिक्षा विभाग का अध्यक्ष भी होता था, एक रुपये आठ आने की मंजूरी उन दो स्लेटों और स्लेट-पेन्सिलों के लिए मांगी थी जो दिवंगत महाराजा (रामसिंह) के आदेश से महल में भेजी गई थीं। कौंसिल ने यह मंजूरी तब दी जब दिवंगत महाराजा के विश्वस्त सेवक किशनलाल चेला ने यह रिपोर्ट दी कि महाराजा ने ही ये स्लेट-पेन्सिलें भेजने का हुक्म दिया था और ये रामप्रकाश थियेटर में काम करने वाली किन्हीं अभिनेत्रियों को दी गई थी।

इससे नाटकघर के काम में इस महाराजा की व्यक्तिगत दिलचस्पी प्रकट होती है। अभिनेत्रियों को कथोपकथन कण्ठस्थ कराने के लिये शायद ये स्लेट-पेन्सिलें दी गई थीं।

रामप्रकाश में कई तमाशे हो चुकने के बाद रामसिंह ने शायद अनुभव किया था कि इसके आर्केस्ट्रा को आधुनिक रूप दिया जाना चाहिए। भारतीय वाद्य तो थे ही, कुछ पाश्चात्य वाद्य यंत्र भी मंगवाना उचित समझा गया। कांतिचन्द्र मुकर्जी ने 15 नवम्बर, 1880 की कौंसिल की बैठक के विवरण में लिखा है:

"बैंडमास्टर मिस्टर बाकर की 14 अक्टूबर, 1880 की अर्जी आयी जिसमें 581 रुपये दो आने छः पाई की मंजूरी मांगी गयी है। यह रकम वाद्य यंत्रों की कीमत है, जो स्वर्गीय महाराजा ने इंगलैण्ड से खरीदवाकर मंगवाये थे। इसमें बम्बई से जयपुर तक का इन वाद्यों को लाने का रेलभाडा भी शामिल है (बाकर एक जर्मन नागरिक था जो उस समय रियासत का बैंड-मास्टर था।)। चूंकि इन वाद्यों की खरीद का आर्डर स्वयं स्वर्गीय महाराजा ने रामप्रकाश थियेटर के लिये दिया था, कौंसिल ने इस रकम की मंजूरी दे दी और मोहतमिम खजाना तथा मुसरिम मैगजीन को इस सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश जारी किये। साथ ही बैंड-मास्टर बाकर से यह पूछने का भी फैसला किया कि ये वाद्य उसके अधीन बैंडों में काम आ सकेंगे या नहीं?"

इससे अनुमान होता है कि रामसिंह की मृत्यु के बाद रामप्रकाश में किसी ड्रामा का मंचन नहीं हो रहा था और आयातित वाद्यों का वहां कोई उपयोग होने की सूरत नहीं रही थी, किन्तु स्वर्गीय महाराजा के आर्डर का सम्मान करते हुए इन वाद्यों की कीमत का चुकारा करा दिया गया और यह भी देखा गया कि यह व्यर्थ ही न पड़े रह जायें, जहां भी इनका उपयोग हो सकता हो, किया जाय।

इसी प्रकार उस जमाने में स्टेट कौंसिल के सामने 8 अप्रेल, 1879 से 30 सितम्बर, 1880 तक का एक हिसाब पेश हुआ। यह बम्बई के केबीनेट-मेकर जमशेद जी नौरोजी का था जिसने रामप्रकाश थियेटर और नये बिलियार्ड रूम के लिये साज-सामान और फर्नीचर भेजा था।

ऊपर कहा जा चुका है कि महाराजा रामसिंह ने कुछ पारसियों को भी यहां बुलाकर थियेटर में नौकर रख था। सितम्बर, 1880 में महाराजा की मृत्यु हो जाने के बाद दिसम्बर में प्रधानमंत्री ठाकुर फतह सिंह औ रेवेन्यू मैम्बर कांतिचन्द्र मुकर्जी के मौखिक निर्देश से इन पारसियों की छुट्टी कर दी गई। कांतिचन्द्र मुकर्जी ने इसका ब्यौरा इस प्रकार दिया है:

"मोहतमिम कारखाना की 6 नवम्बर, 1880 की कैफीयत में बताया गया है कि ठाकुर फतहसिंह जी औ बाबू कांतिचन्द मुकर्जी की हिदायत के मुताबिक बम्बई से आये हुए पारसियों की बकाया तनखाह उनकी नौकरी करने के दिन तक चुका दी गई है और नीचे की तहरीर के मुआफिक उन्हें रेल-भाडा भी दिया गया है। खजाने के हिसाब में अब इस रकम का समायोजन होना है:

"दादाभाई रत्लनजी जूंली, वेतन 978 रुपये, रेलभाड़ा 100 रुपये, कुल 1 हजार 78 रुपये।

"बरजोरजी, वेतन 60 रुपये, रेलभाड़ा 50 रुपये कुल 110 रुपये।

"रुस्तमजी, वेतन 75 रुपये, रेलभाड़ा 50 रुपये, कुल 125 रुपये।

"खोवासजी, वेतन 29 रुपये 8 आने, रेलभाड़ा 50 रुपये, कुल 115 रुपये।

"एदल जी(बरजोर जी का भाई), वेतन 65 रुपये, सफर खर्च 50 रुपये, कुल 115 रुपये।

"बरजोरजी को घोड़ा भत्ता -50 रुपये 8 आना।

"इन सबके योग 1558 रुपये की रकम का समायोजन करने की इजाजत कौंसिल ने दे दी।"

रामप्रकाश नाटकघर तब नगर-प्रासाद का ही भाग माना जाता था और इसे 'महल रामप्रकाश नाटकघर' कहा जाता था। तब महल की तरह ही यहां के भी कायदे थे। इम्तियाजअली नामक चेला इस महल का अंतिम प्रभारी था।

दो संस्कृत नाटकों के मंचन के उल्लेख के बिना रामप्रकाश का यह वृत्तान्त अधूरा रहेगा। जयपुर में 1936 से तो सिनेमा का युग आरंभ हो गया था, फिर भी 1931 के अक्टूबर और 1940 में इसी नाटकघर के मंच पर अभिनीत 'उत्तर रामचरितम्' और 'पाण्डव विजय' नाटक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जयपुर का भारत-विख्यात महाराजा संस्कृत कॉलेज महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी की अध्यक्षता में प्रगति के नये सोपान चढ़ रहा था कि 1931 में महाराजकुमार भवानीसिंह का जन्म हुआ। पिछले दो राजाओ के गोद आने के बाद राजमहल में इस जन्म से सारी रियासत में ही बडा हर्ष मनाया गया। संस्कृत कॉलेज के छात्रों ने इस उपलक्ष में भवभूति-रचित 'उत्तर रामचरितम्' का मंचन किया। स्वयं महाराजा मानसिंह यह कह कर नाटक देखने आये थे कि वे आधा घंटे बैठेंगे, किन्तु उन्हें इस संस्कृत नाटक में ऐसा रस आया कि पूरे समय बैठे रहे और अन्त में दो हजार रुपये का पुरस्कार भी प्रदान करने की घोषणा की। महाराजा ने इस संस्कृत नाटक के मंचन को जयपुर नगर के इतिहास मे 'एक नई बात' माना।

इस नाटक में चन्द्रकेतु की भूमिका वैदिक साहित्य के प्रख्यात विद्वान् स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल शास्त्री ने की थी और पं. प्रभुनारायण शर्मा 'सहृदय' को 'नाट्याचार्य' की उपाधि मिली थी।

1940 में अभिनीत 'पाण्डव विजय' [illegible] तत्कालीन प्रधानमन्त्री राजा ज्ञाननाथ ने देखा था। यह मंचन भी बडा सफल र[illegible] [illegible] से विदा होकर इन्दौर जाने के बाद वहां एक अवसर [illegible] था।" इस नाटक की तैयारी मे दो हजार [illegible] से ही पूरा पड़ गया था।
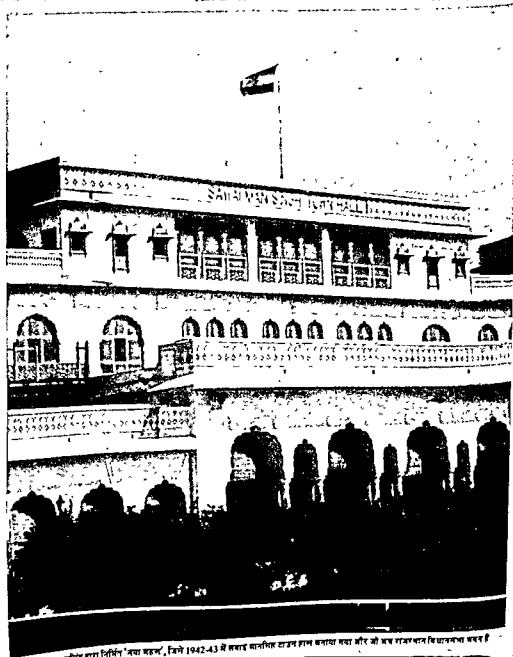
महाराजा रामसिंह द्वारा निर्मित 'नया महल', जिसे 1942-43 में सवाई मानसिंह टाउन हाल बनाया गया और जो अब राजस्थान विधानसभा भवन है

19. बाज़दार और बाज़दारी

रामप्रकाश नाटकघर के पास ही "बाजदारों की मोरी" है, जहां कभी शिकार के लिए बाजों को प्रशिक्षित करने वाले बाजदार लोग रहते थे। बाजों के द्वारा शिकार खेलने को बहुत लोग मुसलमान बादशाहों और उनके शाहजादों का ही शौक मानते हैं, किन्तु यह भारत के प्राचीन मनोरंजनों में से एक रहा है। चालुक्यराज सोमेश्वर कृत "मानसोल्लास" के आधार पर मन्मथराय[1] का कथन है कि बाज ग्यारह जाति के होते हैं। नर-बाज को 'कोणक' और मादा को 'अजड़ा' कहा जाता है। मादा नर से आकार में बड़ी होती है। शिकार इन सभी जाति के बाजों से खेला जा सकता है।

इस ग्रन्थ के अनुसार बाज कई प्रकार से पकड़े जाते हैं—घोंसले में बच्चों को हाथ से पकड़ना, जाल या फन्दे में फंसाकर पकड़ना और पीपल के लसीले दूध में चिपकाकर पकड़ना। बाज को आकर्षित करने के लिए एक छोटी चिड़िया लकड़ी के साथ बांध दी जाती है और उसके चारों ओर पीपल का गर्म किया हुआ लसीला दूध लगाकर कुछ लकड़ियां और टहनियां रख दी जाती हैं। चिड़िया पर झपटने वाला बाज उन लकड़ियों पर बैठता है तो चिपक जाता है और पकड़ा जाता है। फिर बाज के शरीर पर से लसीला पदार्थ छुड़ाकर उसकी आंखों पर पट्टी और टांगों में डोरी बांध दी जाती है और उसका भय दूर करने के लिए शरीर पर हाथ फेरा जाता है। तीन दिन के बाद बाजदार या प्रशिक्षक उसे सिखाना आरम्भ करते हैं। जब वे सीख जाते हैं तो मनोविनोद अथवा शिकार के साधन बन जाते हैं।

शिकार खेलने के पिछले दिन बाज को न खाना दिया जाता है और न सोने दिया जाता है। इससे वह चिड़चिड़ा हो जाता है। शिकार के दिन इस बाज को जंगल में ले जाया जाता है और चिड़ियों व खरगोश जैसे जीवों को हांका जाता है। उनके पीछे बाज छोड़ दिया जाता है जो झपट-झपट कर उनका शिकार करता है। अपने मजबूत डैनों के सहारे बाज आकाश में बहुत ऊंचाई पर भी जाकर चिड़ियों का शिकार कर लाता है।[2] "मानसोल्लास" में बाजदारी को "श्येन-विनोद" कहा गया है।

आमेर के राजा रामसिंह का इकलौता पुत्र और जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिंह का दादा किशनसिंह, जो 1602 ई. में भरी जवानी में मर गया था, बाजदारी का बड़ा शौकीन था। सूरतखाने के चित्र संग्रह में किशनसिंह के अनेक चित्र बताये जाते हैं। किसी में वह खड़ा हुआ है, किसी में बैठा है और किसी में घोड़े पर सवार है, किन्तु शायद ही कोई चित्र ऐसा है जिसमें उसके हाथ पर बाज न हो।[3]

1. प्राचीन भारतीय मनोरंजन, मन्मथराय, इलाहाबाद, 1956, पृष्ठ 277-78
2. वही
3. लिटरेरी हेरिटेज आफ दि रूलर्स आफ आमेर-जयपुर, पृष्ठ 47

जयपुर बसने के बाद अन्य किसी राजा को यह शौक होने का कोई सन्दर्भ नहीं मिलता, कि
हरफनमौला महाराजा रामसिंह द्वितीय (1835-80 ई.) को यह शौक भी खूब था। सांयकाल के समय ज
दिन भर के हारे-थके पंछी रैन-बसेरे के लिए अपने-अपने घोंसलों को लौटते होते तो महाराजा और उन
बाजदारों के छोड़े हुए प्रशिक्षित बाज उन पर झपटते और बेचारे पक्षियों की आँखें फोड़कर मार लेते।

उन दिनों महाराजा के पास प्रायः पुरन्दरराम तिवाड़ी रहते थे, जो रामसिंह की बाघेली रानी के कामदार तो थे ही, महाराजा के भी अन्तरंग बन गये थे। ये रीवां से आये हुए अक्खड़ और परशुराम स्वभाव के ब्राह्मण थे जो अपनी साफगोई के लिए जाने जाते थे। रामसिंह, इस ब्राह्मण को उसकी विनोदप्रियता और हाजिर-जवाबी के लिए "बीरबल" कहते थे (संयोग ही था कि अकबर के दरबार का बीरबल भी पुरन्दरराम की तरह कान्य-कुब्ज ब्राह्मण ही था)।

एक शाम जब आकाश में घर लौटते हुए पक्षियों पर रामसिंह ने पुरन्दरराम की उपस्थिति में ही बाज छोड़ा तो इस अक्खड़ ब्राह्मण से न रहा गया। महाराजा से उसने कहा कि क्यों इतना पाप करते हो? बेचारे पक्षी इस समय अपने-अपने नीड़ों को लौटते हैं जहां उनके बच्चे-लवे उनकी बाट जोहते रहते हैं। अपने माँ-बाप के न आने पर उनको कितना कष्ट होता होगा !

1870 ई. में महाराजा रामसिंह की दायीं आंख की दृष्टि मोतियाबिंद के कारण जाती रही। बड़ी खोज और पूछताछ के बाद कलकत्ता के डाक्टर मेक्नोमारा को आंख के ऑपरेशन के लिए उपयुक्त समझा गया और इस डाक्टर ने गर्मियों में शिमला में यह ऑपरेशन किया। पुरन्दरराम महाराजा के साथ थे। ऑपरेशन के बाद एक दिन जब महाराजा ने पुरन्दरराम का हाथ पकड़कर अपनी पीड़ा सुनायी तो इस मुंहफट ब्राह्मण ने दो टूक जवाब दिया, "एक क्यों, आपकी तो दोनों आंखें फूटनी चाहिए!" महाराजा ने विस्मय से कहा, "वाह बीरबल, हमारे साथ तुम्हारी यह शुभकामना और हमदर्दी है!" पुरन्दरराम ने बेझिझक कहा, "बाजों से बहुत पंछियों की आंखे फुड़वायी हैं, भगवान के घर क्या उनका हिसाब नहीं है?"

महाराजा ने इस ऑपरेशन के बाद जयपुर में दूसरी आंख का ऑपरेशन भी इसी डाक्टर से कराया था, और कहते हैं कि इसके बाद उन्होंने बाजदारी छोड़ दी थी। महाराजा माधोसिंह के समय में बाजदारी के कोई चर्चे नहीं मिलते।

पोथीखाने में बाजदारी पर अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें बाजों के प्रकार, उनके प्रशिक्षण के तरीकों और उनसे शिकार करने के ढंग पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। जैसे गंजीफा, चौपड़, शतरंज, चंगा-पो आदि घर पर खेलने के खेल थे, वैसे ही बाजदारी और कबूतरबाजी बाहर के मनोरंजन थे जो राजाओं और रईसों को प्रिय थे।

माधोविलास की इमारत देखकर ऐसा लगता ही नहीं कि भीतर ऐसे स्वप्नलोक की सृष्टि है। आये दि
रक्तपात और लड़ाई-झगड़ों में उलझे रहने वाले उस काल के राजा लोग अपने अवकाश के क्षण ऐसे कृ
स्वप्नलोक में ही बिताते थे। फिर माधोसिंह के समय में तो जयपुर का वैभव बहुत-कुछ सवाई जयसिंह
जमाने जैसा ही था। जिस प्रकार "दरस-परस" के लिये प्रतापसिंह के समय में हवामहल का निर्माण हु
उसी प्रकार माधोविलास भी बनाया गया। जयपुर में यह महल हवामहल की भूमिका माना जाना चाहि
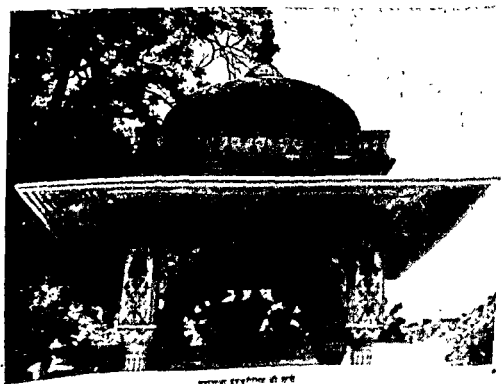
महाराजा ईश्वरीसिंह की छतरी

21. ईश्वरीसिंह की छत्री

बादल महल के उत्तर-पश्चिम में एक रास्ता ईश्वरीसिंह की छतरी पर जाता है। जयपुर के राजाओं में श्वरीसिंह के साथ उसकी वीरता, गुण-ग्राहकता और कला-प्रेम के बावजूद जो-कुछ बीती उसे विधि का धान मानकर ही सब्र करना पड़ता है। अन्य राजाओं की छतरियां जहां गेटोर (ब्रह्मपुरी) में हैं, वहां श्वरीसिंह नगर-प्रासाद के अहाते में ही ताल-कटोरा के पास समाधिस्थ है। चार स्तम्भों पर बनी म्बजदार छतरी जिसके पलस्तर में नीले अलंकरण "लोई" में रगड़कर चमकाये गये हैं, वह स्थान है जहां वाई जयसिंह के इस लाडले बेटे को चैन और आराम नसीब हुआ।

1721 ई. में दिल्ली के जयसिंहपुरा में रानी सुखकंवर के गर्भ से जन्मे ईश्वरीसिंह को जयसिंह कितना यार करता था, यह इसी से सिद्ध है कि दो साल के "चीमाजी" (ईश्वरीसिंह का बचपन का प्यार का नाम) को "चवेणी" के लिये लगभग पांच हजार रुपये की वार्षिक आय की जागीर निकाल दी गई थी। इस बालक को राजधानी से दूर बसवा में रखा गया और जब वह चार साल का था तो पिता ने जयसिंहपुरा (दिल्ली) से ही उसके लिए जेवर, हथियार और लवाजमा भेजा।[1] अपने मरने के दस बरस पहिले 1733 ई. में जयसिंह ने बाकायदा राज-दरबार जोड़कर ईश्वरीसिंह को अपना युवराज घोषित किया।[2] 1743 ई. में जयसिंह की मृत्यु के समय युवराज ईश्वरीसिंह राजसूय यज्ञ कर रहा था। उसने पिता की मृत्यु का समाचार सुना तो तुरन्त दौड़ आया और वह यज्ञ पूरा नहीं हो सका। गद्दी पर बैठने के बाद ईश्वरीसिंह ने अपनी जिन्दगी के अगले सात साल अपने सौतेले भाई माधोसिंह और उसका साथ देने वाले पड़ौसी राजाओं के षडयन्त्रों का सामना करने और लड़ने-झगड़ने में ही बिताये। 1750 ई. में जब होल्कर ने जयपुर पर धावा बोला तो उसके ढीठ मुसाहिब हरगोविन्द नाटाणी ने उसे अंधेरे में रखा और धोखा दिया। इस नाटाणी ने जयसिंह को उसकी मृत्यु शैय्या पर ईश्वरीसिंह का साथ देने का वादा किया था और उसके साथ दीवान विद्याधर ने भी। नाटाणी तो साफ मुकर गया और वृद्ध तथा अशक्त विद्याधर तटस्थ रह गया। अब ईश्वरीसिंह के सामने पराजय या मौत मुंह बाये खड़ी थी। उसने पराजय और आत्मग्लानि की जिन्दगी से मौत ही बेहतर समझी और विषपान कर अपना जीवन समाप्त कर दिया। सवाई जयसिंह के चहेते बेटे का अन्त बादशाह शाहजहां के लाडले दाराशिकोह के अन्त जैसा दर्दनाक तो नहीं, किन्तु मर्मान्तक अवश्य है।

सात साल का कुल समय और उसमें भी बड़ी-बड़ी लड़ाइयां, षडयन्त्र और कुचक्र। लेकिन इतने-से

1. ईश्वर विलास, पृष्ठ 62
2. वही, पृष्ठ 63

अरसे में ईश्वरीसिंह ने गेटोर में अपने महान् पिता की स्मृति में संगमरमर की भव्य छतरी बनवाई, चौगान में मोती बुर्ज खड़ी करवाई और ईसरलाट या सरगासूली के निर्माण से जयपुर की आकाश-रेखा स्थापित की। "ईश्वर विलास" महाकाव्य उसके साहित्य प्रेम और मोती बुर्ज कीड़ा-प्रेम के परिचायक हैं। उसे बचपन से ही हाथियों की लड़ाई देखने का बड़ा शौक था और वह खुद घोड़े पर सवार होकर "साटमारी" करता था। जयपुर के निकट गेटोर में सवाई जयसिंह की छतरी के इजारे पर ईश्वरीसिंह को साटमारी करते हुए बताया गया है। कागज पर अत्यन्त बारीक कटाई करके चित्र बनाना भी उसकी 'हॉवी' थी, और जयपुर नरेश संग्रहालय में उसके बनाये हुए ये कमनीय चित्र देखकर वाह-वाह करना पड़ता है। सांगानेर का हाथ कागज उद्योग ईश्वरीसिंह की ही देन है। विशेष प्रकार से घोटकर तैयार की जाने वाली *कागज की गड्डियां* "ईश्वरसाही पाठों" के नाम से जानी जाती रही हैं। उसके समय में इन पाठों को कौड़ियों से घिसने की *तकनीक विकसित की गई थी और 'क्वालिटी कण्ट्रोल' के लिए मुहर लगती थी।* तब के सांगानेरी पाठे 'डेढ़ मोहरिया' और 'दो मोहरिया' कहलाते थे।

जैसा हमारे देश में दस्तूर है, ईश्वरीसिंह को मरने के लिए मजबूर करने और स्वयं राजा बनने के बाद माधोसिंह ने अपने सौतेले अग्रज को "ईश्वरावतार" कह कर पूजा। गुणीजनखाने के गायक और वादक उसकी छतरी पर जाकर गाते-बजाते। सुरम्य जयनिवास बाग के एक कोने में खड़ी यह उदास छतरी इस गाने-बजाने के समां में जैसे और भी उदास नजर आती।

नगर-प्रासाद में "ईश्वरावतार" की समाधि ही एकमात्र समाधि है।

राजा बनने वाले उसके सौतेले भाई माधोसिंह को चौगान में ऐसी ही लड़ाइयां देखते हुए चित्रित किया गया

संग्रहालय के एक अधिकारी यदुगेन्द्र सहाय ने इन चित्रों के आधार पर अपने अध्ययन में कहा है वि सभी चित्र बड़े सजीव और फिल्म की तरह हैं, एक नजर में तो यह एक ही कलाकार की तूलिका के प्रतीत ह हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि हर चित्र सूरतखाने के किसी सिद्धहस्त चित्रकार की कृति है। इनमें एक चि है 'शिकार अगड़ की," जो सतराम और उदाराम की संयुक्त कलाकृति है। सवाई ईश्वरीसिंह इसमें क फूलों की बूटियों वाले पशमीने का "आतम-सुख" पहिने है और चीनी की बुर्ज में बैठा है। बुर्ज के नीचे ही ए गोलाकार घेरे में एक शेर बंधा है और उस पर सब ओर से शिकारी कुत्तों का दल झपट रहा है। चौगान चारों ओर बनी सभी बुर्जें, दीवारें और मैदान महाराजा के मेहमानों और दूसरे तमाशबीनों से भरे हैं। ए मस्त हाथी ने भी बड़ा बखेड़ा मचा दिया है और उससे कुचले जाने के भय से लोग भाग रहे हैं। अनेक लो कोड़े और कपड़ों के टुकड़े हाथ में लिये उसे नियंत्रित करने में लगे हैं। सारा चित्र ऐसी सजीवता और तन्मय से बनाया गया है कि फोटो की तरह एक-एक बात को उजागर करता है और लगता है जैसे कलाकार ने कि विमान या हैलीकॉप्टर में बैठकर इसे बनाया हो।

सुख निवास (चन्द्रमहल) के इजारों पर भी पशुओं की लड़ाई के ऐसे ही चित्र बने हैं और यह कहन मुश्किल है कि पहले ये बने या वे और कौन किसकी अनुकृति है?

और तो और, चित्र में प्रदर्शित मकानों और दीवारों का रंग भी वही गाढ़ा गुलाबी रंग है जिसके लिए जयपुर सरनाम हुआ। जयपुर को सवाई रामसिंह द्वितीय ने गुलाबी रंग दिया था, यह एक जानी-मानी बात है किन्तु इस चित्र को देखकर अनुमान होता है कि जयपुर में यह रंग कहीं-कहीं तो 1750 ई. में ही हो गया था अथवा होने लगा था।

एक अन्य चित्र में, जो जगरूप का बनाया हुआ है, ईश्वरीसिंह मोती बुर्ज में बैठा दिखाया गया है। इसमें चतर की आड़ के दोनों ओर से अपने सवारों सहित हाथी आकर एक-दूसरे से भिड़ रहे हैं। इसी प्रकार एक चित्र में, जो ऊदा का बनाया हुआ है, मोती बुर्ज के नीचे घोड़ों के दो जोड़ों की लड़ाई दिखाई गई है। दर्शकों की भीड़ में कुछ यूरोपीय पादरी भी साफ नजर आते हैं।

अन्य चित्रों में ईश्वरीसिंह इसी प्रकार भैंसों और ऊंटों की लड़ाई भी देखता है। ये सभी पशु उत्तेजना और क्रोध की प्रतिमूर्ति बने हुए हैं।[4]

एक चित्र जयसिंह, ईश्वरीसिंह और प्रतापसिंह, तीनों को देखने वाले अनुभवी चितेरे साहबराम का बनाया हुआ है, जिसमें एक शेर और हाथी की लड़ाई है। मैदान को बहिश्ती लोग अपनी मशकों से बराबर छिड़क रहे हैं। आकाश में तरह-तरह के पतंग भी उड़ रहे हैं।

इन चित्र में यूरोपियन पादरियों की उपस्थिति उल्लेखनीय है। यूरोपियन लोग इस नगर में इसके निर्माण के बाद से ही आने लगे थे और मनोरंजन के लिए उस जमाने में चौगान से बेहतर और क्या था!

जिस चित्र में माधोसिंह प्रथम दस जोड़े हाथियों की लड़ाई देख रहा है, वह भी उपरोक्त चित्रों के आकार का ही है।

चौगान से गणगौरी दरवाजे में होकर नगर-प्रासाद या चौकड़ी सरहद के बाहर निकला जा सकता है। राज-दरबार और रनिवास की इस उपनगरी का वह पश्चिमी द्वार है। किन्तु, अभी नगर-प्रासाद का एक वैभव तो छूट ही गया, जिसका वर्णन किये बिना यह समूचा वर्णन अधूरा ही माना जायेगा। जयपुर को मन्दिरों का नगर भी कहा गया है और राज-प्रासाद की परिधि में ही ऐसे अनेक मन्दिर हैं जो स्थापत्य की दृष्टि से तो दर्शनीय हैं ही, ऐतिहासिक और धार्मिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं।

4 कल्चरल हेरिटेज ऑफ जयपुर, पृष्ठ 85

23. गोविन्ददेवजी का मन्दिर

जयपुर के सैकडों मंदिरों में गोविन्ददेवजी के मंदिर का नाम दूर-दूर तक है। जो भी हिन्दू यात्री या पर्यटक इस शहर मे आता है, वह यहां के अन्य दर्शनीय स्थानो के साथ गोविन्ददेव की झाकी करने के लिए भी अवश्य जाता है। जयपुर के राजा भी अपने जमाने मे गोविन्ददेव को राजा और अपने को उनका दीवान मानते थे। गोविन्द आज भी राजा हैं। उनके दरबार मे हजारो भक्त हाजिर होते हैं और राधा-कृष्ण की लीलाओं के भजन-कीर्तन से सारे जयनिवास उद्यान को निनादित करते रहते हैं। वृन्दावन की-सी धूम, अनेक अवसरों पर तो उससे भी अधिक, गोविन्ददेव के मंदिर में मची रहती है। इत्र और फूलों की महक यहां की हवा मे तैरती है। बंगाल के चैतन्य महाप्रभु ने चार सदियों पहिले भक्तिभाव और कीर्तन का जो रास्ता सांसारिक लोगों को बताया था, उसका जादू अब भी बरकरार है। गोविन्ददेव के मंदिर में यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

यह विख्यात मंदिर उस बारहदरी मे है जो "सूरजमहल" के नाम से जयनिवास बाग में चन्द्रमहल और बादल महल के मध्य में बनी थी। किंवदन्ती है कि सवाई जयसिंह जब यह शहर बसा रहा था तो सबसे पहले इसी बारहदरी मे रहने लगा था। उसे रात में स्वप्न आया कि यह स्थान तो भगवान का है और उसे छोड़ देना चाहिए। अगले ही दिन वह चन्द्रमहल में रहने लगा और यहा गोविन्ददेवजी पाट बैठाये गये।

मुगल बारहदरी को बीच मे बन्द कर किस आसानी से मंदिर मे परिणत किया गया, यह गोविन्ददेवजी के मंदिर में भलीभांति समझा जा सकता है। जयपुर में इसके बाद तो प्रायः वैष्णव और जैन, दोनों ही मंदिर इसी शैली पर बनने लगे। यहां के संगमरमर के अत्यंत कलात्मक दोहरे स्तम्भ और "लदाव की छत" जिसमें पट्टियां नहीं होती, जयपुर के इमारती काम का कमाल है। मध्यकालीन राज-दरबारों की भव्यता और देवालय की शुचिता की यहां एक साथ प्रतीति होती है।

गोविन्ददेजी की झांकी सचमुच मनोहारी है। भावुक भक्तों का मानना है कि भगवान कृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ ने यह विग्रह बनवाया था। वज्रनाभ की दादी ने कृष्ण को देखा था, इसलिये सबसे पहले वज्रनाभ ने जो विग्रह तैयार कराया उसे देखकर वह बोली कि भगवान के पांव और चरण तो बिल्कुल उन जैसे बन गये, पर अन्य अवयव कृष्ण से नहीं मिलते। वह विग्रह मदनमोहन के नाम से जाना गया, जो अब करौली में विराजमान है। वज्रनाभ ने दूसरी मूर्ति बनाई जिसमें भगवान का वक्षस्थल और बाहु सही बने। इसे गोपीनाथ का स्वरूप कहा गया। फिर तीसरी मूर्ति बनाई गई जिसे देखकर वज्रनाभ की दादी कह उठी "अहा, भगवान का अरविन्द नयनों वाला मुखारविन्द ठीक ऐसा ही था !" यह गोविन्ददेव की मूर्ति थी।

चैतन्य महाप्रभु ने व्रज-भूमि के उद्धार और वहां के विलुप्त लीला-स्थलों को खोज निकालने के लिये

भगवान गोविन्ददेवजी की हिंडोले की झांकी

पने दो शिष्यों, रूप और सनातन गोस्वामी, को वृन्दावन भेजा था। ये दोनों भाई थे और गौड राज्य के साहिब थे, लेकिन चैतन्य से दीक्षित होकर ससार-त्यागी बने थे। रूप गोस्वामी ने गोविन्ददेव की मूर्ति को, गोमा टीला नामक स्थान पर वृन्दावन में भूमिगत थी, निकालकर 1525 ई मे प्राण-प्रतिष्ठा की। अकबर सेनापति और आमेर के प्रतापी राजा मानसिंह ने इस पवित्र मूर्ति की आराधना की। वृन्दावन में 1590 ई मे सने लाल पत्थर का जो विशाल और भव्य देवालय गोविन्ददेव के लिये बनाया वह उत्तरी भारत के र्वोत्कृष्ट मंदिरों मे गिना जाता है। भीतर से यह क्रास के आकार का है– पूर्व से पश्चिम 117 फुट लम्बा तो त्तर से दक्षिण 105 फुट।[1] मुगल साम्राज्य मे इससे बड़ा और भव्य देवालय कदाचित ही बना हो। स्वय दशाह अकबर ने गोविंदजी की गायों के चरने के लिये 135 बीघा भूमि का पट्टा प्रदान किया था।[2]

वृन्दावन के गोविन्ददेव मन्दिर मे चार नागरी-लेख सुरक्षित हैं, जिनसे इसके निर्माण-काल के साथ इसे नाने वाले अधिकारियो व कारीगरों का भी पता चलता है, जो अधिकांश मे आमेर राज्य के ही थे।[3] अकबर के 34 वे राज्य-वर्ष (1590 ई.) का लेख इस प्रकार है–

"सवत् 34 श्री शकबन्ध अकबर शाह राज श्री कूर्मकुल श्री पृथ्वीराजाधिराज वश श्री महाराज श्री भगवंतदास सुत श्री महाराजाधिराज श्री मानसिंह देव श्री वृन्दावन जोग पीठ स्थान मंदिर कराजो श्री गोविन्ददेव को काम उपरि श्री कल्याणदास आज्ञाकारि माणिकचन्द चोपाड् शिल्पकारि गोविंददास वाल करिगरः गोरखदास बीमवल।।"[4]

जब इस मंदिर का मंडान पूरा हुआ तो चैतन्य महाप्रभु की अपनी निजी सेवा की गौर-गोविन्द की लघु प्रतिमा भी किसी काशीश्वर पंडित के साथ वृन्दावन आ गई और गोविन्द के विग्रह के बराबर ही इस पावन प्रतिमा को प्रतिष्ठित किया गया। गोविन्ददेव के साथ राधा का विग्रह तो बाद में प्रतिष्ठित हुआ। यह विग्रह उड़ीसा के किसी प्रतापरुद्र नामक शासक ने बनवा कर भेट किया था।[5]

अप्रेल, 1669 मे जब औरंगजेब ने शाही फरमान जारी कर ब्रजभूमि के देव-मंदिरो को गिराने और उनकी मूर्त्तियों को तोड़ने का हुक्म दिया तो इसके कुछ आगे-पीछे वहां की सभी प्रधान मूर्तियां सुरक्षा के लिये अन्यत्र ले जायी गई। माध्व-गौड या गौडिया सम्प्रदाय के गोविन्ददेव, गोपीनाथ और मदनमोहन, ये तीनों स्वरूप जयपुर आये। इनमें गोविन्ददेव पहिले आमेर की घाटी के नीचे विराजे और जयपुर बसने पर जयनिवास की इस बारहदरी में पाट बैठे।

जयपुर नगर के इतिहास मे ए.के. राय ने वृन्दावन से जयपुर तक गोविन्ददेव की यात्रा का क्रम इस प्रकार निर्धारित किया है:

1590 ई. से 1667-1670 ई. के बीच -वृन्दावन के गोविन्द मंदिर मे।

1670 ई. से 1714 ई. तक कामा या वृन्दावन मे ही विग्रह को छिपा रखा गया।

1714-1715 ई.– आमेर के निकट वृन्दावन मे (इसे कनक वृन्दावन कहते थे)।

1715-1735 ई. –जयनिवास बाग में (राय के अनुसार यह जयनिवास बाग आमेर के नीचे ही था)[6]।

1 इंपीरियल गजेटियर, [illegible], 1942, पृ 137

2 गोविन्ददेवजी के वर्तमान गोस्वामी प्रद्युम्नकुमार से प्राप्त

3 ब्रज का इतिहास, दूसरा भाग, मथुरा, 1958, पृष्ठ 73

4 वही

5 गोस्वामी [illegible] से प्राप्त

6. [illegible]

1735 ई. से आज तक नगर-प्रासाद के वर्तमान मंदिर में।

आगे चलकर गोविन्ददेव के भोग-राग तथा गोस्वामी के निर्वाह के लिये जयपुर के महाराजा ने जागीर दी और स्वतन्त्रता के बाद जागीर उन्मूलन हो जाने पर 32,063.93 रुपये का वार्षिक अनुदान जयपुर के इस सर्वप्रमुख मन्दिर को दिया जाने लगा।

गोविन्ददेवजी की सेवा-पूजा गौड़िया वैष्णवों की पद्धति से की जाती है।[7] सात झांकियां होती हैं और प्रत्येक झांकी के समय गाये जाने वाले भजन और कीर्तन निर्धारित हैं।

गोविन्ददेवजी की झांकी में दोनों ओर दो सखियां खड़ी हैं। इनमें एक 'राधा ठकुरानी की सेवा के लिए' सवाई जयसिंह ने चढ़ाई थी। प्रतापसिंह की कोई पातुर या सेविका भगवान की पान-सेवा किया करती थी। जब उसकी मृत्यु हो गई तो प्रतापसिंह ने उसकी प्रतिमा बनाकर दूसरी सखि चढ़ाई, जिससे इस झांकी की शोभा और सुन्दरता में और वृद्धि हुई।

सवाई प्रतापसिंह के काल में राधा-गोविन्द का भक्तिभाव बहुत बढ़ गया था। गोविन्ददेव को यह राजा अपना इष्टदेव मानता था। अपनी कविताओं में उसने कहा है:

हमारे इष्ट हैं गोविन्द।
राधिका सुख-साधिका संग-
रमत बन स्वच्छन्द।।

प्रतापसिंह सारी जिंदगी समस्याओं में उलझा रहा था और उसे बार-बार मरहठों से टक्कर लेनी पड़ी थी। ऐसी ही किसी नाजुक घड़ी में उसने गोविन्द के सामने यह कातर पुकार भी की:

विपति विदारन बिरद तिहारो।
हे गोविन्दचंद "ब्रजनिधि" अब
करिके कृपा विघन सब टारो।।

प्रतापसिंह अपने उपनाम "ब्रजनिधि" को गोविन्द का इनायत किया हुआ भी कहता है। उसका एक रेख़ता है:

दिल तड़पता है हुस्न तेरे को
कब मिलेगा मुझे सलौना स्याम।
अब तो जल्दी से आ दरस दीजै
जो इनायत किया है 'ब्रजनिधि' नाम।।

गोविन्ददेव के इस विग्रह के सामने राजा मानसिंह जैसे वीर योद्धा का सिर झुका और अकबर जैसे बादशाह ने भी इसका सम्मान किया। माध्व-गौड़ वैष्णव सम्प्रदाय की इस सर्वोच्च और शिरोमणि मूर्ति को जयपुर वाले तो इष्ट मानते ही हैं, चैतन्य के हजारों अनुयायी बंगाल, बिहार, मणिपुर और आसाम तक से दर्शनों के लिये आते हैं। जयपुर इसी विभूति के कारण इन भावुक भक्तों के लिये वृन्दावन बना हुआ है।

[7] [illegible]

24. गंगा-गोपालजी के मंदिर

भक्ति-भावना से ओत-प्रोत जयपुर में मंदिरों की भरमार है। यहां अनेक विशाल और भव्य मंदिरों की वर्तमान दशा और शोचनीय अवस्था को देखकर जहां दुःख होता है, वहां नगर-प्रासाद की सीमा में गोविन्ददेवजी के मन्दिर के पिछवाड़े गंगाजी-गोपालजी के आमने-सामने बने लघु मंदिरों को देखने से सचमुच आनन्द प्राप्त होता है। महकती हुई मेंहदी की भीनी गंध से सुवासित वातावरण में सीढ़िया चढ़कर दर्शनार्थी उस गैलरी में पहुचता है जो दोनों मंदिरों के प्रवेश द्वारों को जोड़ती है। मंदिर क्या हैं, कुज भवन हैं जो धर्म-कर्म के पक्के और कट्टर सनातनी महाराजा माधोसिंह ने "अपने इष्टदेव के प्रसन्नार्थ" बनवाये थे। प्रवेश करते ही दोनों मंदिरों में खुले चौक हैं, जिनमें गढ़े हुए पत्थरों का समतल आंगन और दूब के छोटे लान हैं। गोपालजी के मंदिर में संगमरमर का बना एक तुलसी का बिरवा है तो गंगाजी के मंदिर में दो बडे सुघड और सुन्दर बिरवे हैं, देखने लायक। आगे संगमरमर के तराशे हुए कमनीय खम्भों पर बने हुए बरामदों के "जगमोहन" हैं और उनके बीच में गर्भ-गृह या निज मन्दिर। गंगा मंदिर में तो जयपुर की कलम के दो-तीन चित्र भी लगे हैं, राधा-कृष्ण के और एक चित्र हरिद्वार की हर की पौड़ी का भी है जिससे पता चलता है कि महाराजा माधोसिंह के समय में यह कैसी लगती थी।

अपनी आदत के अनुसार महाराजा माधोसिंह ने दोनों ही मंदिरों में संगमरमर पर उत्कीर्ण लेख भी लगवाये थे। गंगाजी का मंदिर सम्वत् 1971 (1914 ई.) में बनकर तैयार हुआ और इस पर 24,000 रुपये की लागत आई। बाद में इसमें एक रसोई "मय गैस और टूंटी" के और जोड़ी गई तो 11,444 रुपये और लगे। इस प्रकार कुल 35,444 रुपये इस पर व्यय हुए। छोटा होने पर भी मंदिर की निर्माण सामग्री में संगमरमर और करौली के सुघड बलुआ पत्थर के प्रयोग की प्रचुरता को देखते हुए यह लागत कम ही मानी जायेगी।

गोपालजी का मंदिर इसके बाद बनवाया गया था। उसके लेख में निर्माण के साल का उल्लेख नहीं है। यह निश्चित है कि यह अगले तीन-चार सालों में ही बना होगा क्योंकि 1922 ई. में तो माधोसिंह की मृत्यु हो गई थी।

मन्दिरों की इस "जुगल-जोड़ी" से माधोसिंह की धर्मप्रियता और ऐसे कामों के लिये उदारता का अच्छा परिचय मिलता है। जयपुर का यह राजा गंगा माता के साथ राधा-गोपाल का भी अनन्य भक्त था। गंगाजल का प्रयोग और सवेरे जागने पर सबसे पहले राधा-गोपाल का दर्शन उसका नित्य-नियम था।

जयपुर बसाये जाने के समय से ही यहां मंदिरों की संख्या किस प्रकार बढ़ती गई, इस प्रक्रिया के अध्ययन के लिये भी यह दोनों मन्दिर अच्छे उदाहरण हैं। गंगाजी की मूर्ति महाराजा माधोसिंह की पटरानी, जादूणजी

राधागोपालजी की झाकी – जयपुर में इसलिए स्थित ठाकुरजी

की सेव्य मूर्ति थी और इसकी सेवा-पूजा जनानी ड्योढी में महिलायें ही करती थी। जादूणजी के बाद भी इसकी सेवा-पूजा का मंडान पूर्ववत् चलता रहे, इस दृष्टि से यह मंदिर बनवाकर वैशाख शुक्ला 10, सोमवार, सवत् 1971 में गंगाजी को पाट बैठाया गया। अगले वर्ष, संवत् 1972 मे अलवर राजसभा की कवि मण्डली के एक सिद्ध और सरस कवि पंडित रामप्रसाद के ब्रजभाषा मे रचित तीन छन्दों को संगमरमर की फलक पर उत्कीर्ण करवाकर इस मंदिर में लगाया गया। पं. रामप्रसाद उपनाम "परसाद" के प्रसाद-गुण सम्पन्न इस काव्य को देखकर आजकल की स्मारिकाओं का विचार होता है तो लगता है कि उस जमाने में यह स्मारिका का ही रूप था। इससे कुछ साहित्य-सेवा भी होती चलती थी, जबकि हजारों का विज्ञापन जुटाकर आज की स्मारिकाओं से क्या बन पाता है?

पंडित रामप्रसाद सचमुच सफल कवि थे। अलवर के गौड़ ब्राह्मण परिवार मे जन्म लेकर उन्होंने सोलह वर्ष की आयु में ही समस्त अलंकार ग्रंथ पढ़कर हिन्दी साहित्य का अच्छा ज्ञान पा लिया था और हिन्दी काव्य का कोई पठनीय ग्रंथ उनकी दृष्टि से नही बचा था। किन्तु, सुविज्ञ कवि से अधिक पंडित रामप्रसाद व्यवहार-कुशल व्यक्ति थे। अलवर जैसी छोटी-सी जगह में जाये-जन्मे और बड़े हुए, किन्तु तत्कालीन राजपूताना की सभी रियासतों के राजाओं से वह व्यक्तिशः मिले और अपनी कविता से मुग्ध कर प्रत्येक से पुरस्कार प्राप्त किया।[1] इंग्लैण्ड की मलिका विक्टोरिया की गोल्डन जुबली पर जयपुर से एक अभिनन्दन-पत्र लन्दन भेजा गया था। वह काव्यमय था और पंडित रामप्रसाद का ही रचा हुआ था। जब महाराजा माधोसिंह ने 1902 मे इंग्लैंड यात्रा की और जयपुर लौटे तो पंडित रामप्रसाद ने उनके स्वागत में भी अपनी काव्य रचनाये सुनाईं। महाराजा बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रसन्नता का प्रमाण वह दो गाव हैं– यशोदानन्दनपुरा और मुरलीमपुरा–जो जागीर में इस कवि को बख्शे गये। इस प्रकार जयपुर रियासत मे सम्मानित होने पर पंडित रामप्रसाद की गणना जयपुर के राज-कवियों में भी की जाने लगी। पंडित रामप्रसाद का देहान्त 1918 ई. मे हुआ। अपने जीवन में उन्होंने 48 ग्रंथो की रचना की, जिनमे कई प्रकाशित हैं।

यहा उनकी कविता के नमूने के लिये उन तीन छन्दो मे से एक दिया जाता है जो गंगाजी के मंदिर की शिला-फलक पर अंकित हैं। अलवर और जयपुर के इस कुशल कवि का नाम इस मंदिर के साथ अमर है:

ब्रह्मा के कमंडल ब्रह्ममंडली परयो नाम,
विष्णु-पद गये विष्णुपदी नाम पाई है।
शिव की जटा में विराजी जटाशंकरी होय,
जन्हु के गये पै नाम जान्हवी सुहाई है।।
कहै "परसाद" हो भागीरथी भगीरथ के,
याही महिमा से तीन लोकन में छाई है।
ऐसे कलिकाल में बहतर के साल बीच-
माधव ने राखी जासों माधवी कहाई है।

गंगा का यह मंदिर जयपुर के अनेक बड़े और नामी मंदिरों की तरह सुनसान, वीरान नहीं, आज भी जिन्दगी और भक्ति-भाव से भरा है। प्रातः-सायं गोविन्ददेव के जाने वाले भक्तजन यहां भी पहुंचते हैं और "जय गंगा मैया" बोलते दर्शन-परिक्रमा करते हैं। कलिकाल में भी मंदिर के निर्माता का उद्देश्य जैसे पूरा हो रहा है।

माधोसिंह की गंगा-भक्ति अगाध थी। जयपुर की गर्मियों की लू और तपन से बचने के लिए वह राजा न विलायत जाता था और न किसी हिल स्टेशन पर। हरिद्वार मे गंगा का किनारा ही उसे दैहिक सुख और

[1] राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार, जयपुर, पृष्ठ 45
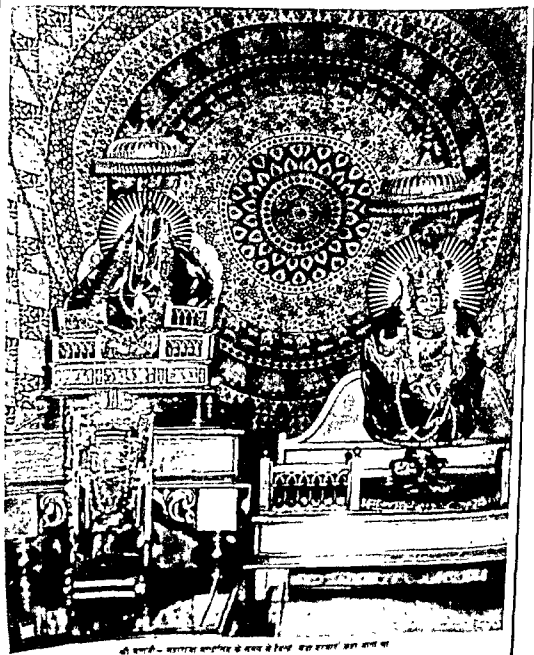
ात्मिक सन्तोष प्रदान कर देता था। उसका गंगाजल-प्रेम मुगल सम्राट अकबर की तरह था। यह सब जानते ए ही महामना मदनमोहन मालवीय ने इस राजा को प्रमुख हिन्दू नरेशों के उस सम्मेलन में विशेष रूप में ामंत्रित किया था जो हर की पौड़ी में गंगा का प्रवाह न हटाने का पक्ष प्रबल करने के लिए भीमगोडा हरिद्वार) में हुआ था—दिसम्बर, 1916 में। इस सम्मेलन में लम्बे विचार-विनिमय के बाद बताया गया कि ीमगोडा में गंगा पर नये बांध (वीयर) के निर्माण से गंगा की पवित्रता में किस प्रकार अन्तर आ जाएगा। न्त में "सात घण्टे के विचार-विनिमय के बाद इस बात पर समझौता हो गया कि सरकार पहले से बने हुए म दरवाजों में ही पानी का प्रवाह जारी रखेगी और दस रेगुलेटर बनाने की योजना पर अमल नहीं किया ाएगा। राजाओं ने यह मान लिया कि हर की पौड़ी पर छह हजार क्यूसेक पानी का प्रवाह पर्याप्त होगा और ह पानी पिछवाड़े के बांध तथा मायापुर रेगुलेटर में आयेगा।"[2]

इस प्रकार हरिद्वार और हर की पौड़ी की यथास्थिति रखने के साथ जयपुर के इस महाराजा का नाम भी ुड़ा है। गंगोत्री का गंगा मन्दिर भी माधोसिंह का ही बनवाया हुआ है।

गंगाजी के इस माहात्म्य के साथ गोपालजी या राधा-गोपालजी की बात ही कुछ और है। रजवाड़ों के रजवाड़े इस शहर में यह 'इंग्लैण्ड रिटर्न्ड' ठाकुरजी हैं।

राधा-गोपाल महाराजा माधोसिंह के इष्ट थे। सवेरे बिस्तर छोड़ते ही वे सबसे पहले इन्हीं मूर्तियों के दर्शन करते और इसके बाद ही और किसी का मुंह देखते। इस सदी के आरम्भ में जब महाराजा को एडवर्ड सप्तम की ताजपोशी में शामिल होने के लिये इंग्लैण्ड जाना पड़ा तो अपने इष्टदेव को भी उन्होंने साथ ले जाने का फैसला किया। "ओलम्पिया" नामक पूरा जहाज, जो महाराजा ने अपनी यात्रा के लिये किराये लिया था, गंगाजल से पवित्र किया गया और उसके एक कक्ष में बाकायदा राधा-गोपाल का मन्दिर बनाया गया। जयपुर छोड़ने के बाद 3 जून, 1902 के दिन लन्दन पहुंचने तक पच्चीस दिन की समुद्री यात्रा में महाराजा अपने नित्य नियम के अनुसार गोपालजी के दर्शन करते, तुलसी-चरणामृत लेते और प्रसाद पाते।

जब यह लम्बा सफर पूरा कर महाराजा लन्दन के विक्टोरिया स्टेशन पर उतरे और कैम्पडन हिल पर उनके प्रवास के लिये निश्चित "मोरेलाज" नामक कोठी जाने लगे तो सवा सौ आदमियों के उनके दल-बल का अच्छा-खासा जुलूस बन गया जिसमें सबसे आगे एक गाड़ी पर राधा-गोपालजी की सवारी थी। आज तो "हरे राम हरे कृष्ण" का प्रचार विश्व-व्यापी हो गया है, किन्तु 3 जून, 1902 को सूर्य अस्त न होने वाले ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी में राधाकृष्ण की यह पहली रथ-यात्रा थी जो इस भारतीय राजा ने निराली

थी जिसमें मूर्ति पूजा को ढकोसला और अंधविश्वास करार दिया गया था। ऐसे हिन्दू-विरोधी कट्टर ईसाई आलोचकों को स्वामी प्रेमानन्द भारती नामक एक सन्यासी ने "वैस्ट-मिनिस्टर" में एक तीखा लेख लिखकर मुंह-तोड़ जवाब दिया। उसने लिखा "ढोंगी ईसाइयों और उनके मिशनरियों को यह याद रखना चाहिए कि पानी से बैप्टिस्मा की रस्म अदा करना, लकड़ी के क्रॉस के सामने घुटने टेक कर आराधना करना और बादशाह की ताजपोशी में जैतून का रोगन लगाना भी ठीक वैसा ही है जैसा जयपुर महाराजा का प्रतिदिन श्रीगोपालजी के पूजन में जल व गंगाजल काम में लाना।"

इसमें सन्देह नहीं कि महाराजा माधोसिंह की इंग्लैण्ड यात्रा ने तब जो धूम मचाई थी, उसके पीछे सबसे बड़ा कारण उनका अपने रंग और अपनी मर्यादाओं को न छोड़ना ही था। राधा-गोपाल का इष्ट इसका मूलाधार था। जयपुर के इस छोटे से मन्दिर का यह महत्त्व क्या कम है?

ब्रजराज बिहारीजी के मन्दिर का अन्तरंग

25.अन्य मंदिर

जयपुर वाले जिसे "ब्रजनन्दजी" का मन्दिर कहते हैं वह ब्रजनिधि का मन्दिर नगर-प्रासाद के चादनी चौक में स्थित है। यह "ब्रजनिधि" उपनाम से काव्य रचना करने वाले महाराजा प्रतापसिंह की भक्ति-भावना का प्रतीक तो है ही, देवालय निर्माण की उस शैली का विशिष्ट प्रतिनिधि भी है जो जयपुर बसने के साथ ही आरम्भ हुई थी और प्रतापसिंह के समय में अपने चरम विकास को पहुंची थी। इस शैली की विशेषता दुर्ग के समान ऊंचे और भव्य प्रवेश द्वार, ऊंची उठान का आतंरिक द्वार या पोल, खुले विशाल चौक और जगमोहन या मण्डप की ऐसी संयोजना है जहां पहुंचकर प्रतीति होती है जैसे किसी हवेली के "रावले" या अन्तःपुर मे आ गये। आज कल यह देखकर बडा क्लेश होता है कि जयपुर के इतिहास, संस्कृति और कला की दृष्टि से ऐसे महत्त्वपूर्ण देवालय भी घोर उपेक्षा के शिकार हैं और संस्कारहीन शासकों तथा लालची प्रबन्धको ने मन्दिरो को वस्तुतः अपने-अपने मर्जीदानों और यार-दोस्तो के रहने के मकानों मे परिणत कर दिया है। ठाकुरजी तो बेचारे बस उस निज मन्दिर या गर्भ-गृह के मालिक हैं जहा वे बिराजे हुए हैं।

सवाई प्रतापसिंह ने कई प्रकार से अपनी रचनाओं में कहा है, "हमारे इष्ट हैं गोविन्द"। कहते हैं एक रात स्वप्न मे उसे गोविन्द की आज्ञा हुई कि वह अपने प्रेम और अपनी भावना के अनुसार पृथक प्रतिमा बनवाकर महल के समीप एक नये मन्दिर में बिराजमान करे। प्रतापसिंह ने इस आज्ञा को शिरोधार्य कर यह विशाल देवालय बनवाया और ब्रजनिधि के नाम से भगवान कृष्ण की श्याम और राधा की पीत मूर्ति को पाट बैठाया।

जब मन्दिर का पाटोत्सव होने लगा तो बड़ा उत्सव मनाया गया। जयपुर के मुसाहिब दौलतराम हल्दिया की जौहरी बाजार स्थित हवेली में ठाकुर ब्रजनिधिजी अपने विवाह के लिये पधारे और वहां प्रिया-प्रियतम का पाणिग्रहण संस्कार हुआ। इसके बाद ही राधा की मूर्ति मन्दिर में लाकर बिराजमान की गई। दौलतराम हल्दिया के लिये यह समारोह बेटी के ब्याह से कम न था। बड़ी तबियत से उसने बरात की खातिर की, लम्बी-चौड़ी ज्यौणार का आयोजन किया और दहेज देकर प्रियाजी की मूर्ति को विदा किया। इस मन्दिर की ठकुरानी राधा के साथ हल्दिया वंश ने आज तक यह सम्बन्ध बरकरार रखा है। बेटी के घर पर्व-त्योहारों को उपहार भेजने की प्रथा सारे राजस्थान में है और ब्रजनिधिजी के मन्दिर मे बिराजमान राधा के लिये हल्दियों के यहां से तभी से "तीज का सिंजारा" आता रहा है।

इस विवाहोत्सव का वर्णन करते हुए प्रतापसिंह ने पद भी लिखा, कवित्त भी लिखे और रेखते या गजले भी। यहां एक रेखता ही देना प्रासंगिक होगा:

शादी में रायजादा से तुमने किया है क्या।
नाजुक बदन की नाज का प्याला पिया है क्या।।
खुशरूह की खूबी का खजाना लिया है क्या।
ब्रजनिधि बदस्त उसके दिल को दिया है क्या।।

जटिल समस्याओं से भरे अपने जीवन में सवाई प्रतापसिंह निराशा की घड़ियों में भक्ति करता और आशा की किरणें फूट पड़ने पर तब के राजाओं के युग धर्म के अनुसार भोग-विलास और आमोद-प्रमोद में डूब जाता। उसकी मौत खून-विकार और अतिसार रोग बढ़ जाने से हुई। उस दशा में वह ठाकुर ब्रजनिधिजी के चरणों के तले तहखाने में ही प्राय: विश्राम करता था। 1803 ई. में सावन के सजल महीने में इस सरस और बहुरंगी व्यक्तित्व के धनी राजा का अन्त हो गया।

आनन्दकृष्णजी का मंदिर

चांदनी चौक में ब्रजनिधिजी के मंदिर के सामने ही ज्योतिष यंत्रालय या वेधशाला की ओट बनाते हुए आनन्दकृष्णजी का अति विशाल मंदिर है। यह प्रतापसिंह के समय माजी भटियानी ने बनवाया था। विशालता में यह बड़े रामचन्द्रजी के मंदिर (जिसमें संस्कृत कालेज है) से कुछ ही छोटा होगा। सामने वाले ब्रजनिधिजी के मंदिर से इसका चौक छोटा, किन्तु जगमोहन बड़ा है और यह दोनों मंदिर उस स्थापत्य शैली के सच्चे प्रतिनिधि हैं जो प्रतापसिंह के समय में अपने विकास की पूर्णता को पहुंची थी।

आनन्दकृष्णजी के साथ आनन्देश्वर महादेव और ब्रजनिधिजी के साथ अलग से बना हुआ प्रतापेश्वर महादेव का मंदिर है। वैष्णव मत के साथ यों शैव मत का भी सामंजस्य रखकर चला गया है। आनन्देश्वर और प्रतापेश्वर, दोनों ही शिव मंदिरों में शिवलिंग के साथ शिव-परिवार के सभी सदस्यों की मरमरी मूर्तियां भी प्रतिष्ठित हैं जिनका सेवा-शृंगार शिवरात्रि पर देखते ही बनता है। आनन्देश्वर का मंदिर तो बड़ा अहाता होने के कारण आनन्दकृष्णजी के मंदिर से ही जुड़ा है, किन्तु प्रतापेश्वर शिव का मंदिर ब्रजनिधिजी के मंदिर से अलग बना है— दोनों के बीच 'चोहत्तर का दरवाजा' नामक द्वार है, जहां से जनानी ड्योढी और रवालेरा के बीच से गणगौरी बाजार तक रास्ता गया है।

राजराजेश्वर शिवालय

चांदनी चौक के उत्तरी-पश्चिमी कोने में रसोवड़ा की ड्योढी से ही महाराजा रामसिंह द्वितीय द्वारा निर्मित राजराजेश्वर शिवालय मे जाने का रास्ता है। रामसिंह शिव-भक्त थे और वे नित्य शंकर का पूजन और दर्शन करते थे। महाराजा के लिये प्रतिदिन चौड़ा रास्ता स्थित विश्वेश्वर शिवालय में जाना शक्य नहीं था। अत: उन्होंने जनानी और मर्दानी ड्योढियों के बीच अपने कमरे के पास ही संवत् 1921 में यह शिवालय बनवाया था। मंदिर क्या है, एक छोटा सा मकान है जिसमें श्मशान-वासी शिव राजमहलों के बीच ही अचल हो गये हैं। किन्तु, राजराजेश्वर का सेवा-शृंगार यथा नाम तथा गुण है, एकदम राजसी। महाराजा रामसिंह के समय के कुछ दीर्घाकार मनहरी कलम के चित्र भी इस मंदिर की शोभा बढ़ाते हैं।

वैसे यह मंदिर जनता के लिये आज भी खुला नहीं है, केवल शिवरात्रि और अन्नकूट को ही इसका द्वार जनता के लिये खोला जाता है।

रामसिंह स्वयं तो इस मंदिर में प्रतिदिन दर्शन करता ही था, उसके समय में जयपुर आने वाले बड़े-बड़े मेहमान भी इस मंदिर में जाकर भेंट चढ़ाना नहीं भूलते थे।

रामसिंह के एक समकालीन कवि राधावल्लभ ने शायद इस मंदिर के निर्माण एवं पाटोत्सव पर ही यह छप्पय कहा था

झरत गंग धमकत मृदंग झल्लत भुजंग गल।
गरल संग लोचन सुरंग, मोचन अनंग खल।।
दमक अंग दिवखत अभंग चवखत सुभंग फल।
डमरु चंग बीना मृदंग बज्जत उमंग तल।।
"वल्लभ" विरंचि नित उच्चरत छन्द वृन्द आनन्द धर।
पावन पत्य तुव गत्य को, जयति राज-राजेसुवर।।[1]

महाराजा माधोसिंह के समय के प्रसिद्ध कविवर और जयपुर की "कवि मण्डल" संस्था के जन्मदाता रीलाल के पिता मन्नालाल कान्यकुब्ज ने भी राजराजेश्वर की महिमा इस प्रकार बताई है.

सीस पर गंग सोहे, भाल बिच चन्द सोहे,
गरे में गरल सोहे, पन्नग सुहाये हैं।
अंग में विभूति सोहे, गौरी अरधंग सोहे,
भूत प्रेत संग सोहे, मन्न कवि गाये हैं।।
देव ओ अदेव सोहे वर सब लैन-लैन सोहे,
मांगत ही देत दान ऐसे शिव पाये हैं।
कूरम सवाई जयसिंह जू के नन्दन के,
राजेश्वरनाथ निसिद्योसक सहाये हैं।।[2]

इस शिव मंदिर में एक 'राजराजेश्वरी यत्र' भी है। इसकी पूजा के लिये महाराजा ने पण्डित नाथूनारायण को नियुक्त किया था। नाथूनारायण सवाई जयसिंह के समय के विद्वान पण्डित घासीराम का वंशज था। उसकी एक सुन्दर संस्कृत कृति "गायत्री कल्पलता" की पाण्डुलिपि बहुराजी ने देखी है और उसके कुछ श्लोक भी उद्धृत किये हैं।[3]

राजराजेश्वरजी का मंदिर उस धर्मसभा के कारण भी जयपुर मे बहुत विख्यात है जिसे महाराजा रामसिह ने "मोद मंदिर" के नाम से स्थापित किया था। जयपुर वाले इसे "मौज मंदिर" बोलते हैं। बहुराजी के अनुसार इस धर्मसभा का इतिहास पुराना है। मिर्जा राजा जयसिंह ने आमेर में एक पण्डित सभा स्थापित की थी जिसमें धर्मशास्त्र के उच्च कोटि के विद्वान सदस्य थे। धर्मशास्त्रीय विवादों मे इस पण्डित सभा का निर्णय देश भर मे मान्य होता था। जब छत्रपति शिवाजी के राज्यारोहण का विचार हो रहा था तो आमेर की पण्डित सभा की सम्मति भी मागी गई थी और सभा ने कहा था कि पहले यज्ञोपवीत संस्कार हुए विना राज्यारोहण नही हो सकता। तदनुसार शिवाजी का लगभग 44 वर्ष की आयु में "मौन्जी संस्कार" किया गया था।

यही पण्डित सभा रामसिंह द्वितीय के समय में मोद मदिर बनी और आज भी यह नाम के लिये तो चल ही रही है। जयपुर मे रामसिह ने ही अदालतें स्थापित की थी और मोद मंदिर का महत्व भी बहुत बढ गया था। हर अदालत मे एक पण्डित अथवा धर्मशास्त्री की भी गद्दी होती थी और धर्मशास्त्र सम्बन्धी मामलो मे न्यायाधीश उसकी राय अवश्य लेते थे। मोद मंदिर की पूरी सभा राजराजेश्वरजी के मंदिर मे ही होती थी। अव तो जमाना जहां आ गया है, उसमें मोद मंदिर की पूछ ही क्या रह गई है !

1. राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार, पृष्ठ 180
2 वही, पृष्ठ 215
3 लिटरेरी हैरीटेज आफ दि रूलर्स आफ आमेर- जयपुर पृष्ठ 118

सीतारामद्वारा

जयपुर के राज-परिवार का निजी मंदिर सीतारामद्वारा कहलाता है जो जयनिवास में चन्द्रमहल के उत्तरी-पूर्वी पार्श्व में स्थित है। कछवाहा अपने को भगवान राम के दूसरे पुत्र कुश की सन्तति मानते आये हैं और सीताराम का अत्यन्त प्राचीनकाल से इष्ट रहा है। उनका पारम्परिक अभिवादन का प्राचीन तरीका भी "जय सीतारामजी की" रहा है। पुराने पट्टों-परवानों के शीर्ष पर भी "श्री सीतारामो जयति" अथवा "श्री सीतारामजी सहाय" लिखा मिलता है। बाद में राधाकृष्ण की भक्ति के अधिक लोकप्रिय हो जाने पर जयपुर में गोविन्ददेव सीतारामजी से बाजी मार गये और यहां के राजा अपने ऐश्वर्य को गोविन्द का प्रसाद मानकर अपने को "गोविन्द-दीवाण" कहने लगे। किन्तु, गलता का तीर्थ और राजा के खास महल की बगल में ही सीतारामद्वारा यही जताते हैं कि यहां के राज-परिवार की भगवान राम में गहरी आस्था और प्रगाढ़ भक्ति रही है।

सीतारामद्वारा के प्रधान ठाकुरजी "बडा सीतारामजी" हैं। कहते हैं कि यह मूर्ति मुगल बादशाह बाबर के समकालीन आमेर के राजा पृथ्वीराज और उसकी रानी बालां बाई को महात्मा कृष्णदास पयहारी ने दी थी। पयहारीजी ही गलता पीठ के संस्थापक माने जाते हैं। इन मूर्तियों के साथ शालिग्राम रूप में नृसिंह की प्रतिमा भी इन महात्मा से पृथ्वीराज दम्पति को मिली थी और पयहारीजी के निर्देशानुसार उस मूर्ति की सेवा-पूजा आज तक आमेर के उस पुराने महल में ही होती है जहां "बालां बाई की साल" है। चमत्कारों में विश्वास की बात नहीं है, किन्तु जयपुर में यह जनश्रुति सभी पुराने लोगों ने सुनी होगी और याद भी होगी कि "जद तक नरसंग देळी में, जद तक राज हथेळी में"। आमेर में विराजमान वह नृसिंह-मूर्ति राजस्थान में जयपुर रियासत के विलय के कुछ ही समय पहले चोरी चली गई थी और बाद में सरगर्मी के साथ किसी कुए से बरामद भी कर ली गई थी। नृसिंह के अपने देहरी से बाहर निकल जाने की इस घटना ने तब सारे जयपुर में बड़ा हंगामा खड़ा कर दिया था। मूर्ति तो बरामद हो गई, लेकिन तब "राज सवाई जयपुर" नहीं रहा था, राजस्थान बन गया था।

सीतारामजी के लिये भी महात्मा पयहारीजी का यह निर्देश बताया जाता है कि "युद्धादि की सवारी में सीतारामजी का रथ आगे रहेगा तो तुम्हारा जय होगा।" जयपुर में कहावत रही है: 'गोला खावा मैं सीतारामजी, अर लाडू खावा मैं गोविन्दजी।' जयपुर के राजाओं ने अपना राज चलाने तक बराबर इस नियम का पालन किया था और दशहरे की सवारी में अब भी सीतारामजी का रथ ही आगे जाता है।

बड़े सीतारामजी के साथ "सीतारामजी हुजूरी" भी सीतारामद्वारे में विराजमान हैं। जब सीतारामजी की बड़ी मूर्ति बाहर जाती थी तो यह छोटी मूर्ति उन्हें "आफीशियेट" करने के लिये प्रतिष्ठित होती थी। जुलूसों में बड़े सीतारामजी के साथ मन्त्री या "मिनिस्टर इन वेटिंग" की हैसियत से सीतावल्लभजी की मूर्ति भी जाती थी जिनका मंदिर सिरह ड्योढी के दरवाजे या कपाट कोट का के ठीक सामने है। इनके कार्यवाहक होते थे- "सीतावल्लभजी हुजूरी" जो सीतारामद्वारे में ही विराजमान है। यह मूर्ति माधोसिंह प्रथम के साथ उदयपुर से आई बताई जाती है।

सीतारामद्वारे के प्रांगण में बीचों-बीच एक यज्ञ-वेदी बनी है जहां पर्व-त्योंहारों को हवन आदि किये जाते हैं। जयपुर के राजा अपनी वर्ष-गाठ पर यहां हवन करते और सबसे पहले सीतारामजी के भेंट चढ़ाकर फिर गोविन्ददेवजी के जाते हैं। यह परिपाटी आज भी निभाई जाती है।

एक दिलचस्प तथ्य यह है कि बड़ा सीतारामजी की सेवा-पूजा का अधिकार आज भी कृष्णदास पयहारी की गलता गादी के अधिकारियों को ही है। प्रधान ठाकुरजी और उनके एवजी ठाकुरजियों के मंदिरों से मंडित सीतारामद्वारा वस्तुतः चन्द्रमहल के निवासियों का निजी देवद्वार रहा है।

लक्ष्मणद्वारा

जयपुर के मंदिरों में लक्ष्मणद्वारा भी सचमुच विलक्षण है। नगर-प्रासाद में गैंडा की ड्योढ़ी के बाहर वेधशाला के सामने ही लक्ष्मणद्वारा है, सीतारामद्वारा के दक्षिण-पूर्व में। स्वयं सवाई जयसिंह ने यह दोनों द्वारे शायद साथ-साथ ही बनवाये थे। दोनों ही में ऐसे देव-विग्रह पूजित हैं जिनमें आमेर-जयपुर के राजाओं की गहरी आस्था रही है।

लक्ष्मणद्वारा लक्ष्मणाचार्य के नाम पर है जो वैष्णव-भक्ति और सगुण उपासना के प्रतिपादक रामानुजाचार्य का ही दूसरा नाम है। रामानुजाचार्य ने दक्षिण भारत में भक्ति की जो गंगा प्रवाहित की उसमें आमेर के राजा और मुगल बादशाह अकबर के सूबेदार मानसिंह ने भी अवगाहन किया और संवत् 1620 (1563 ई.) में भगवान व्यंकटेश (वैकुण्ठनाथ) और उनके साथ भूदेवी और नीलदेवी की मूर्तियां भी तिरुपति से आमेर भेजीं। रामानुजाचार्य द्वारा प्राण-प्रतिष्ठित अष्ट धातु की यह मूर्तियां वहां किसी जुलूस में ले जाई जा रही थीं। मानसिंह ने अपनी राजधानी आमेर को इनसे पवित्र बनाने की सोची थी और इन्हें जुलूस में से ही आमेर भेजा गया था। आमेर में फूल बाग, जिसे अब मावलियों का बाग कहते हैं, इन मूर्तियों का देवस्थान बना और जयपुर की स्थापना के बाद सवाई जयसिंह ने इन्हें लक्ष्मणद्वारा में पाट बैठाया।

भगवान व्यंकटेश यहां अपनी त्रिविध शक्तियों के साथ तभी से विराजमान हैं। श्रीदेवी या लक्ष्मी को तो वह अपने वक्षस्थल पर ही धारण किये हैं और दोनों ओर भू-देवी तथा नील-देवी की मूर्तियां हैं। भगवान के दो हाथों में तो शंख और चक्र हैं, किन्तु शेष दो हाथों में गदा और पद्म नहीं है। वह रीते और "वर" तथा "अभय" मुद्राओं में हैं। विष्णु मूर्ति में यह मुद्रायें अन्यत्र नहीं मिलतीं बताई। रामानुजाचार्य के सेव्य यह ठाकुर इन मुद्राओं में इहलौकिक और पारलौकिक, दोनों ही प्रकार के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

लक्ष्मणद्वारा का देवालय नक्काशी, संगतराशी और अन्य अलंकरण से सर्वथा हीन है, किन्तु इसकी दीवारों के आसार कहीं भी तीन फुट से कम चौड़े नहीं। सीधा-सादा इकमंजिला मंदिर, लेकिन बड़ा सुदृढ़ बना है। दरवाजों और खिड़कियों के किवाड़ आधे आसार ही चिपक कर रह जाते हैं।

सवाई जयसिंह के समय में भगवान व्यंकटेश का दैनिक भोग सवा मन चूरमे का हुआ करता था। जितना पैसा तब सवा मन चूरमे में लगता था, अब उतना ही ढाई सेर आटे में लग जाता है, क्योंकि बख्त भागकर वहां से यहां आ गया है! लक्ष्मणद्वारे के भोग के नाम पर ही सवा सेर आटे की बाटियां अभी हाल तक उस सदावर्त में प्रतिदिन बांटी जाती रही हैं जो महाराजा रामसिंह ने अपनी मृत्यु से कुछ दिन पूर्व स्थापित किया था। रामसिंह की दी हुई रकम के सूद से चलने वाला यह "सूद सदावर्त" सिरह ड्योढ़ी बाजार में महाराजा संस्कृत कॉलेज वाले मंदिर में चलता था, किन्तु अब गोविन्ददेवजी के बाहर है।

लक्ष्मणद्वारा जयपुर में रामानुज सम्प्रदाय के कीर्ति-स्तम्भों में से है। बालानन्दजी की गादी और गलता के ठिकाने के बाद रामावत भक्तों की यह प्रमुख पीठ है और अपनी मूर्तियों के कारण तो इसका महत्त्व वास्तव में बड़ा है।

जयनिवास के दो लघु मंदिर

नगर-प्रासाद की परिधि में जितने महल हैं उतने ही, शायद उनसे भी अधिक, मन्दिर हैं। दो लघु मन्दिर चन्द्रमहल के सामने जयनिवास उद्यान की दोनों ओर की भित्तियों से सट कर आमने-सामने बने हैं। एक में मदनमोहनजी और दूसरे में लक्ष्मीनारायण की सेवा है, जिनके साथ शालिग्राम रूप में नृसिंह भगवान की भी पूजा होती है।

जयनिवास उद्यान के साथ शायद आमने-सामने ये खुली तिबारियां ही बनी थीं। बाद में जब इनमें ये विग्रह विराजमान किये गये तो थोड़ा परिवर्द्धन कर इन्हें मन्दिरों का रूप दिया गया। मदनमोहन सवाई

प्रतापसिंह की निजी सेवा के ठाकुर हैं जो उसके जीवन में तो चन्द्रमहल में ही विराजते थे, माधोसिंह राधा-गोपाल की तरह। लक्ष्मीनारायण और नृसिंह माधोसिंह प्रथम के सेव्य रहे थे। इन दोनों ही नरेशों के निधन के बाद उनकी निजी सेवा के ये ठाकुर यहां विराजमान किये गये।

गोवर्द्धननाथजी का मन्दिर

जयपुर के व्यक्तित्व के प्रतीक झीने जाली-झरोखों से सुशोभित हवामहल की कमनीय इमारत से जुड़ा हुआ जो देवालय है उसे इस नगर के प्रमुख वैष्णव मंदिरों में गिना जाता है। यह गोवर्द्धननाथजी का मंदिर है जिसे 1790 ई. में हवामहल के साथ ही साथ सवाई प्रतापसिंह ने बनवाया था। मंदिर के कीर्त्ति स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख इस प्रकार है:

"श्री गोरधननाथजी को मीदर बणायो हवामहल श्री मन्महाराजाधिराज राजे श्री सवाई प्रतापसिंहजी देव नामाजी मिती माह सुदी 13 बुधवार संवत् 1847।"

यह मंदिर उन अनेक देवालयों में से एक है जिन्हें स्वयं सवाई प्रतापसिंह ने बनवाकर इस नगर को (जो तब गुलाबी नहीं था अतः गुलाबी नगर भी नहीं कहलाता था) मंदिरों का नगर बना दिया था। नगर-प्राकार की परिधि के भीतर ब्रजनिधिजी, आनंदकृष्णजी, प्रतापेश्वर और आनन्देश्वर महादेव के मंदिर तो उस समय बने ही थे, सिरह ड्योढी बाजार में गोवर्द्धननाथ के आगे पीछे ही मदनमोहन, अमृत रघुनाथ और रत्नेश्वर महादेव के मंदिर भी बने और माणक चौक पुलिस थाने वाला आनन्द बिहारी का मंदिर भी।

गोवर्द्धननाथ का मंदिर उस काल के अन्य मंदिरों से अपेक्षाकृत छोटा है, किंतु संगमरमर के शुंडाकार स्निग्ध स्तम्भों और पलस्तर में फूल-पत्तियों के अलंकरण की जिस कला ने जयपुर शैली के मंदिरों को प्रतापसिंह के समय में इतना सुन्दर बनाया था, वह इस मंदिर में भी कम नहीं है। हवामहल के प्रवेश द्वार के बराबर ही इसका प्रवेश द्वार भी जयपुर शैली की सभी विशेषताओं को सुरक्षित रखता है। फिर खुले चौक के पार इसका छोटा किंतु सुघड़ अनुपात से बना जगमोहन और निज-मंदिर या गर्भ-गृह है जिसमें गोवर्द्धनधारी कृष्ण का विग्रह विराजमान है। सावन के महीने में जब सभी मंदिरों मे भगवान हिंडोले में झूलते हैं, गोवर्द्धननाथ की भी हिंडोले की झांकी होती है और श्रद्धालु भक्तों की भीड़ आकर्षित करती है। इस मंदिर में हवामहल की बगल में सिरह ड्योढी बाजार से भी रास्ता गया है।

माधोसिंह प्रथम के गुरु भट्टराजा सदाशिव से प्रश्रय प्राप्त और सवाई प्रतापसिंह द्वारा 'महाकवि' उपाधि से सम्मानित भोलानाथ शुक्ल ने जो दो संस्कृत ग्रन्थ उस समय लिखे थे, उनमें से एक—"श्री कृष्णलीलामृतम्"—की रचना का निमित्त यह नव-निर्मित मंदिर ही था। इस कृति में 104 पद हैं और उनका विषय है श्रीकृष्ण की लीलायें। समूची रचना का आधार है श्रीमद्भागवत का दशम स्कंध जिसने सूरदास सहित ब्रजभाषा के अनेक छोटे-बड़े कवियों को बालकृष्ण के चरित्-गान के लिये प्रेरित किया था। भोलानाथ की कृति का महत्त्व न केवल इसके सम्पूर्ण काव्य होने में, वरन् इसलिये भी है कि सारा वर्णन सरस और सुललित है। अपनी कृति के अंत में कवि ने इसका सम्बंध गोवर्द्धननाथजी के मंदिर से इस प्रकार इंगित किया है

> श्री प्रतापस्य नृपतेः
> व्यथसत् सुखसर्गान्।
> श्रीरामस्वामिनो भर्ता
> गोवर्द्धनधरः प्रभुः ।।104।।

यह रामस्वामी सम्भवतः इस मंदिर के गोस्वामी थे।

हवामहल के निर्माता सवाई प्रतापसिंह ने भी इस मन्दिर के साथ मंदिर का सम्बंध जोड़ते हुए ही यह दोहा लिखा होगा—

हवामहल याते कियो
सब समझो यह भाव।
राधे-कृष्ण सिधारसी
दरस-परस को हाव।।

गिरिधारीजी का मन्दिर

जयपुर में राजामल का तालाब मिट्टी और कूड़े— कचरे से भर जाने के कारण जिस प्रकार ताल कटोरा कोरा ताल रह गया, कटोरा न रहा, वैसे ही सिरह ड्योढी बाजार के उत्तरी छोर पर बने हुये गिरिधारीजी के मंदिर का भी मंदिर तो रह गया, किंतु इसकी प्रमुख विशेषता जाती रही। यह विशेषता थी इसके प्रवेश द्वार पर बनी हुई सीढ़ियों के एक स्नान-घाट होने की। राजामल के तालाब मे शहर के उत्तरी भाग का पानी आता था जो मुख्यतः नाहरगढ़ की पहाड़ी का होता था। यह पानी नाहरगढ़ की छाया मे बनी बारह विशाल और मजबूत मोरियों में होकर आता था और एक-दूसरे के ऊपर बनाये गये चार चौकोर मोखों की तीन कतारों मे होकर इस झील या तालाब मे पहुंचता था। ये मेहराबदार मोरिया और मोखे वहां परकोटे की दीवार में अब भी देखे जा सकते हैं और 'बारह मोरी' ही कहलाते हैं। तालाब भर जाने पर अतिरिक्त पानी निकालने की मोरिया माधोविलास महल से सटी हुई हैं। जयपुर मे अभी बहुत लोग हैं जिन्हें बारह मोरियों से निकलने वाला पानी गणगौरी बाजार से ब्रह्मपुरी जाने वाली सड़क पर घुटनों तक भरा हुआ याद है और ब्रह्मपुरी से जोरावरसिंह के दरवाजे जाने वाली सडक पर माधोविलास से निकलने वाले पानी के प्रवाह मार्ग को आज भी "नन्दी" (नदी) ही कहा जाता है जिसके किनारे पहले छीपो ही छीपो के घर थे। अब तो सातो जातों ने सारी जल-प्लावित होने वाली जमीन पर कब्जा कर अपने-अपने घर-घरौंदे बना लिये हैं।

गिरिधारीजी का मंदिर माधोविलास के निर्माता माधोसिंह प्रथम ने ही बनवाया था। एक विशाल और ऊंचे चौक को (जैसे आमेर रोड पर जलमहल में) चार बुर्जों और दालानो से घेरा गया है। इसमे पूर्व की ओर कमानीदार छत की "इकदरी" या छोटे दालान के नीचे भगवान गिरिधारीजी का मंदिर है। मंदिर के सामने जो चौकोर खुला चौक है, उसके अग्र-भाग में दोनों कोनों पर अष्टकोण छतरिया बनी हुई है। तीनो बाजुओं के मध्य मे खड़ी सुन्दर कमानीदार छतों वाली लम्बी छतरिया हैं जिनके दोनो सिरे आयताकार कक्षों से जुड़े है जिन पर गोल गुम्बज हैं। सामने की बाजू के ठीक मध्य मे बनाये गये प्रवेश-द्वार से तीन ओर घूमती हुई सीढ़िया उतरती हैं जो तालाब के पूरा भर जाने पर पानी में डूब-डूब जाती थी। यह स्नान-घाट का नजारा था जिसकी कल्पना सीढ़ियों को देखकर अब भी की जा सकती है।

गिरिधारीजी का मंदिर इस जलाशय के तट पर कैसा भव्य देवालय रहा होगा, इसका अनुमान आज इसलिये नहीं किया जा सकता कि सारा मंदिर लौह-लक्कड और काठ-कबाड से घिर गया है। इसकी दीवारो के सहारे ट्रकों की मरम्मत करने के कारखाने बन गये हैं जिससे इसकी बाहरी सचित्रित दीवारो पर भी बुरी तरह आ बनी है। सब ओर ग्रीस, तेल और गले हुए लोहे की दुर्गन्ध है। गिरिधारीलाल के मंदिर मे केसर-चन्दन, धूप और फूलों की जो सुगन्ध आनी चाहिए, वह ठेठ जगमोहन मे भी अब नहीं आती।

गिरिधारीजी के मंदिर को माधोसिंह ने जिन महन्तो को भेंट किया वे उसके साथ उदयपुर से ही यहां आये बताये। इनमे एक "प्रेम कवि" के नाम से ब्रजभाषा की बडी सुन्दर कविता करते थे। "छन्दतरंगिनी" के नाम से उनकी एक पुस्तक भी बताई जाती है। रचना की एक बानगी देखिये:

छकी प्रेम छकिन के नेम में छबीली छैल,
छैल के बंसुरिया के छलन छली गई।
गहरे गुलाबन के गहरे गरूर भरे,

गोरी की सुगन्ध गैल गोहन चली गई।
दर में दरीन हूँ में दीपति दिवारी अति,
दाँतों की दमक दुति दामिनी दली गई।
चौसर चमेली चारु चंपक चकोरन तैं,
चाँदनी में चंद्रमुखी चीन्हत चली गई।।[1]

प्रेम कवि जब ऐसी सरस पद रचना करते थे तब यहां का माहौल और था। इस मंदिर की सेवा-पूजा अब आचार्य वल्लभ सम्प्रदाय की पद्धति से होती है। माधोसिंह कांकरोली (मेवाड) के गोस्वामी व्रजभूषणलाल का शिष्य था।

गिरधारीजी के मंदिर से संबंधित एक उल्लेखनीय बात यह है कि अठारहवीं सदी के आठवें दशक में जब रससिद्ध महाकवि पद्माकर राज्याश्रय और आजीविका की तलाश में ग्वालियर से जयपुर आया तो वह इसी मंदिर में ठहरा था। यहीं रहते हुए पद्माकर ने सवाई प्रतापसिंह से भेंट करने की बड़ी कोशिश की, लेकिन दरबार के परस्पर विरोधी धड़ों के आगे इस परदेशी कवि की कुछ न चली। पद्माकर निराश हो चला था कि एक दिन गोविन्ददेवजी के मंदिर में यह वांछित भेंट हो ही गई और इसके साथ पद्माकर का भाग्य जाग उठा। इस कवि को फिर इतना वैभव प्राप्त हुआ कि पद्माकर ने गद्गद् होकर कहा है—"हम कविराज हैं प्रताप महाराज के।"

डा. भालचन्द्रराव तैलंग[2] ने महाराजा से पद्माकर को मिलाने का श्रेय महाराजकुमार जगतसिंह को दिया है, जबकि कुछ लोग यह श्रेय दूणी के राव शम्भूसिंह को देते हैं।

बलदाऊजी का मंदिर

नगर-प्रासाद प्रांगण का एक और मंदिर बलदाऊजी का मंदिर है जो सिरह ड्योढी बाजार में महाराजा रामसिंह के "नये महल" (बाद में कौंसिल भवन और अब राजस्थान विधान सभा भवन) के दक्षिण में तथा रथखाने के पूर्व में है। यह सवाई प्रतापसिंह (1778-1803ई.) के राज्यकाल में बना हुआ मंदिर है। बाजार से इसके प्रवेश द्वार तक ऊंची उठी हुई सीढ़ियां इसके देवस्थान होने की द्योतक हैं। स्थापत्य की दृष्टि से इस मंदिर का विशेष महत्व नहीं है, किंतु बलदेव का अकेला मंदिर होने के कारण इस धार्मिक नगर में सावन के महीने में यह मंदिर भी बहुत भक्तों और दर्शनार्थियों को आकर्षित करता है।

मेहताब विहारीजी का मंदिर

ब्रजराजविहारीजी से कुछ आगे मेहताब विहारीजी का मंदिर है जो जगतसिंह की एक रानी मेहताब कुंवर ने बनवाया था। यह मंदिर उपरोक्त दोनों मंदिरों से छोटा है और वैसा दर्शनीय भी नहीं। इसके जगमोहन की कुर्सी भी ऊंची नहीं, प्रवेशद्वार के बाद चौक में सामने ही यह है। स्तंभ वही संगमरमर के हैं और उनकी कढ़ाई-कुराई भी अच्छी हुई है, किंतु ये स्थूल हैं और जगमोहन के आकार के अनुपात में बहुत भारी लगते हैं।

जब तक जयपुर रियासत थी तो इसी मंदिर में "राज सवाई जयपुर" का प्रधान डाकघर था।

चन्द्रमनोहरजी का मन्दिर

त्रिपोलिया से कुछ कदम चलने पर पहला मंदिर चन्द्रमनोहरजी का है। यह मंदिर जयसिंह तृतीय (1818-35 ई.) की रानी और सवाई रामसिंह द्वितीय (1835-80ई.) की विमाता माजी मेडतणीजी ने बनवाया था और गोविन्ददेवजी के गोस्वामी की पुत्री को कन्यादान में दिया था। इस कन्या के पति नीलमणि चटर्जी ही इस मंदिर के गोस्वामी बने। मंदिर को तब तीन हजार रुपये सालाना की जागीर भी दी गई थी।

1. राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार
2. पद्माकर श्री औरंगाबाद 1959, पृष्ठ 59-60

चन्द्रमनोहरजी के दर्शन अतीव सुन्दर हैं। गोस्वामी कन्या का नाम चन्द्रकिशोरी था, अतः मंदिर के विग्रह को चन्द्रमनोहरजी के नाम से ही पाट बैठाया था। स्थापत्य की दृष्टि से इस मंदिर में वे सभी विशेषताएं हैं जो जयपुर के अन्य बड़े मंदिरों मे पाई जाती हैं। प्रवेश द्वार को पार करने पर चौक, जिसमें दोनों ओर दालान बने हैं, और फिर दूसरा चौक आता है। आयताकार मण्डप या जगमोहन का बीच का द्वार बड़ा और उसके दोनों ओर दो अपेक्षाकृत छोटे द्वार हैं—मुगल मेहराबें जो संगमरमर के दोहरे स्तम्भों पर उठी हैं। यह स्तंभ बड़े सुघड़ और सुन्दर हैं। मण्डप के मध्य में निज मंदिर या गर्भ-गृह संगमरमर की चौखट में जड़ा है जिसके ऊपर छतरियों और नाचते हुए मयूरों के अलंकरण हैं। गर्भ-गृह के दोनों ओर द्वारपाल या छड़ीबरदार भी संगमरमर के ही बने हैं। गर्भ-गृह के पीतल के कपाट भी देखते ही बनते हैं।

ब्रजराजबिहारीजी का मन्दिर

ब्रजराजबिहारीजी का मंदिर थोड़ा आगे जाने पर आता है। यह एकमात्र इमारत है जो जयपुर के विलासी राजा सवाई जगतसिंह (1803-1818ई.) ने बनवाई थी। जयपुर के इस सर्वथा अयोग्य राजा के शासन-काल के पन्द्रह वर्ष बड़े घटनापूर्ण थे। इस अवधि मे रियासतों मे चलने वाले लड़ाई-झगड़े तो अपनी पराकाष्ठा को पहुंचे ही, ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी रजवाड़ों के साथ कभी सम्बन्ध बनाये, कभी बिगाड़े और अंततः उनसे संधियां कर वह अमन-चैन कायम किया जिसके लिये अंग्रेज इतिहासकारों ने बड़ा गर्व किया है। सत्तर-अस्सी वर्षों से राजाओं और सामन्तों की आपसी ईर्ष्या और कलह से इस प्रकार राजस्थान के निवासियों को भी शांति की सांस लेने का अवसर मिला था और सात समदर पार से आये फिरंगी को लोगों ने इसलिये त्राता मान लिया था कि आये दिन के उपद्रवों और टंटे-बखेड़ों से तो उसने मुक्ति दिला दी।

जगतसिंह जब गद्दी पर बैठा तो सत्रह साल का जवान था। यद्यपि माचेड़ी का राव स्वतंत्र अलवर रियासत बनाकर सवाई जयपुर से अलग हो चुका था और प्रतापसिंह के समय मे तुंगा की बड़ी लड़ाई तथा मरहठों को बार-बार दी जाने वाली चौथ के कारण "जय मंदिर" का खजाना प्रायः रीत चुका था, फिर भी जयपुर जयपुर था। अपने रसिक पिता प्रतापसिंह की परम्परा को निभाते हुए जगतसिंह ने बाईस रानियों और अनेक पासवानो से अपने रनिवास को आबाद किया और उदयपुर की सुन्दरी राजकुमारी कृष्णाकुमारी को पाने के लिये उसने अपने सारे साधन-स्रोतों को दांव पर लगाकर जोधपुर के मानसिंह से लोहा लिया। राजस्थान के दो बड़े राजाओ के बीच हुई इस रस्साकशी में पिंडारी नेता अमीरखां की सुब बन आई जिसने जयपुर और जोधपुर के साथ उदयपुर को भी लूटने मे कोई कसर न छोड़ी। कृष्णाकुमारी किसी के हाथ न लगी, उसे विषपान करना पड़ा और जयपुर के सामंतो ने जगतसिंह को गद्दी से ही उतार दिया होता यदि वह अपनी चहेती रसैल वेश्या रसकपूर पर दुश्चरित्र होने का आरोप लगाकर नाहरगढ़ के किले में बंदी न बना देता। रानियों और पासवानो मे इस सर्वाधिक चहेती वारांगना का अन्त फिर कैसे हुआ, कोई नहीं जानता।

जगतसिंह ने गद्दी पर बैठते ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी से संधि कर सुख-चैन से रहने का प्रयत्न किया था, किंतु कम्पनी की नीति तब तटस्थता की थी और वह रियासतों में कोई बखेड़ा मोल लेना नहीं चाहती थी। 1818 ई. मे जगतसिंह की मृत्यु से कुछ पूर्व आखिरकार यह संधि हो गई। इस राजा के शासन-काल की यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना थी।

जगतसिंह ने विनाश और विप्लव के उस काल मे अपने पूर्वजों की परम्परा के अनुसार यह मंदिर अवश्य बनाया। इस राजा का स्मारक भी एक प्रकार से यह मंदिर ही है, क्योंकि गेटोर में उसकी छत्री भी उस विप्लव काल में नहीं बन पाई।

कई वर्षों से इसके बाहर ठण्डे जल की प्याऊ लगने के कारण जयपुर वाले इसे "ठण्डी प्याऊ" का मंदिर भी कहते हैं। जयपुर आखिर जयपुर था, इसलिये जगतसिंह जैसे राजा को भी ऐसा मंदिर बनवाने का अवसर

और साधन तब भी मिल गये। यह इस शहर के बड़े और दर्शनीय मंदिरों में से है। जगतसिंह के पिता के समय में इस शहर में बहुत मंदिर बने थे। इसलिये स्वाभाविक था कि राजनीतिक अस्थिरता के बावजूद जगतसिंह का यह मंदिर भी सुन्दर बनता।

मंदिर के भीतर वाले बड़े चौक में तीन ओर हवामहल के समान जालियां और छोटी खिड़कियां इसके स्थापत्य का सौष्ठव बढ़ाती हैं। यह तीनों ही दीवारें सुचित्रित हैं। निज मंदिर की चौखट संगमरमर से इस प्रकार बनी है जैसे किसी तस्वीर का फ्रेम हो। मण्डप की तीन मेहराबों के ऊपर बाहर की ओर चूने के पलस्तर का जैसा अलंकरण इस मंदिर में है, वह उस जमाने में ही हो सकता था जब जयपुर का चूना पत्थर की तरह पुख्ता होता था।

गर्भ-गृह के द्वार पर पांच मरमरी शिखर बने हैं और उनके बीच में चार नाचते हुए मोर हैं। इसका जगमोहन या मण्डप भी वैसा ही है जैसा चंद्रमनोहरजी का है, किंतु है उससे बड़ा। बीच की मेहराब बड़ी और उसके दोनों ओर की छोटी हैं। इन मेहराबों के अलंकरण और चौक में तीनों ओर जालियों तथा चितराम के कारण ब्रजराजबिहारीजी का भीतरी चौक अपनी ही भव्यता और सन्दरता रखता है।

गोपीजनवल्लभजी का मन्दिर

श्रीजी की मोरी में प्रवेश करते ही बायीं ओर गोपीजनवल्लभजी का मंदिर भी नगर-प्रासाद और इस नगर के विशाल और सुन्दर मंदिरों में से एक है। कहते हैं कि यह मंदिर पहले निम्बार्क संप्रदाय का था। इस संप्रदाय के 39वें जगद्गुरु श्री वृन्दावनदेवाचार्य सवाई जयसिंह के अश्वमेध यज्ञ में जयपुर आये थे। आमेर की सड़क पर परशुरामद्वारा नामक स्थान तभी का है और वृन्दावनदेवाचार्य वहीं ठहरे थे। सवाई जयसिंह ने अपने नये नगर को सभी संप्रदायों के स्थानों से मण्डित किया था और वृन्दावनदेवाचार्य को उसने यह मंदिर दिया था। रामसिंह द्वितीय के समय तक इस देवस्थान के महन्त निम्बार्क संप्रदाय के ही होते रहे। फिर जब शैवों और वैष्णवों में खटक गई और ब्रहमपुरी से गोकुलनाथजी तथा पुरानी बस्ती से गोकुलचन्द्रमाजी के गोस्वामी अपने देव-विग्रहों के साथ जयपुर छोड़ गये तो निम्बार्काचार्य गोपेश्वरशरण देवाचार्य भी यहां से सलेमाबाद (किशनगढ़) चले गये और फिर नहीं लौटे।[1]

महाराजा रामसिह ने यह मंदिर फिर द्राविड विद्वान पं. जयराम शेष की महन्ताई में दे दिया। फिर रामनाथ शास्त्री, जिन्हें जयपुर में "मन्वाजी" के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त थी, महन्त बने और 1872 ई. में महाराजा रामसिंह ने यह मंदिर उन्हीं को भेंट कर दिया। तब से इस मंदिर को मन्वाजी के मंदिर के नाम से ही जाना जाता है।

इस मंदिर का प्रवेशद्वार पूर्व की ओर देखता है, किंतु राधा-कृष्ण के सुन्दर विग्रह, जो ऊपर जाने पर हैं, नगर की ओर दक्षिणाभिमुखी हैं। भगवान के मंदिर का यहां वही रूप है जो गोविन्ददेवजी के मंदिर में देखा जाता है। पांच मेहराबों की विशाल बारहदरी के बीच में चार स्तम्भों को बंद कर गर्भ-गृह बना है, जिसमें गोविन्द के समान मुंह बोलते राधा-कृष्ण विग्रह हैं। गर्भ-गृह के दोनों ओर चंवरधारी द्वारपाल हैं। दीवानखाना या बारहदरी दो ओर से जालियों से बंद है और ऊपर छत पर गुम्बजदार छतरियां तथा आयताकार खुले दालान इमारत के देवस्थान होने की सूचना देते हैं।

इस मंदिर के दिवंगत महंत पं. गोपीनाथ द्राविड साहित्याचार्य जयपुर के संस्कृत विद्वानों में गणनीय थे। जयपुर के प्रसिद्ध वीतराग दाक्षिणात्य विद्वान पण्डित वीरेश्वर शास्त्री भी इसी मंदिर में रहे थे और उनसे साहित्य एवं शास्त्र-चर्चा के लिए यहां अनेकानेक विद्वान, अध्यापक और धर्मशास्त्री आते ही रहते थे।

□□□

1. जयपुर की संस्कृत साहित्य को देन, प्रभाकर शास्त्री, जयपुर, 1980, पृष्ठ 164

26. त्रिपोलिया

चांदनी चौक और पूरबिया की ड्योढ़ी के ठीक दक्षिण में तीन पोलों या दरवाजों का "त्रिपोलिया" नामक द्वार है जो नगर-प्रासाद का दक्षिणी दरवाजा है। गुलाबी रंग से पुते त्रिपोलिया बाजार में यह पीले रंग का द्वार इसके ठीक सामने चौड़े रास्ते या सवाई मानसिंह हाईवे के मोर-मुकुट के समान है। इस पर जालियों से बंद जो कक्ष है, वह शहर में निकलने वाले जुलूसों आदि को देखने के लिए रानियों के बैठने का स्थान था। दीपावली तथा अन्य हर्षोल्लास के अवसरों पर ईसरलाट के साथ त्रिपोलिया पर भी बिजली की रोशनी हो जाती है तो नगर-प्रासाद की यह बाह्य प्राचीर जगमगा उठती है।

त्रिपोलिया, जैसा इसके नाम से प्रकट है, तीन पोलों या द्वारों से बना है। बाहरी दरवाजा तो त्रिपोलिया बाजार में खुलता है और स्थापत्य की दृष्टि से बड़ा नयनाभिराम और भव्य है। इसकी छत बंगाल के ग्राम की छतों की तरह कमानीदार है जिस पर कलश चढ़े हैं। यह सुन्दर प्रवेश द्वार सवाई जयसिंह ने ही अपने सात चौकों वाले "सतखणे महल" (चन्द्रमहल) के साथ ही बनवाया था। दरवाजे की भव्यता और सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए महाराजा मानसिंह (1922-70ई.) ने इसके बहिरंग में झरोखे और अश्वारोही प्रहरियों के "थामस" बनवाये थे और तभी से त्रिपोलिया आम जनता के लिए बंद है। पहले नगर-प्रासाद में सभी के प्रवेश के लिए यह दरवाजा भी खुला था। अब तो राज-परिवार के सदस्य और खास मेहमान ही इस द्वार से प्रवेश पाते हैं। त्रिपोलिया का बाहरी द्वार लम्बा, सुरंग की तरह है। उसके पीछे एक छोटा और फिर तीसरा दरवाजा या पोल है जो चांदनी चौक में प्रतापेश्वर महादेव के मंदिर से सटी हुई है। गुलाबी शहर में पीत रंग का यह राजसी द्वार अपने बहिरंग में "रान के काम" की सजावट से जैसे अपनी विशिष्टता प्रकट करता है।

यह उल्लेखनीय है कि नगर-प्रासाद की दक्षिणी सरहद में पहले यह एक ही द्वार था। महाराजा रामसिंह ने इसके पश्चिम में आतिश का वह दरवाजा निकलवाया था जिसकी चर्चा यथास्थान आ चुकी है। आतिश के बाजार बन जाने पर और आगे पश्चिम में ही एक दरवाजा और खोला जा चुका है तथा पूर्व में एक दरवाजा हवामहल और राजेन्द्र हजारी गार्ड्स में जाने के लिए सर मिर्जा इस्माइल के जमाने में खोला गया था। इसी दरवाजे से अब रथखाना होकर राजस्थान विधानसभा में भी जाने का सीधा रास्ता हो गया है। इस प्रकार सब मिलाकर अब नगर-प्रासाद के दक्षिण में चार दरवाजे—त्रिपोलिया, आतिश, आतिश का नया दरवाजा और हवामहल का दरवाजा—तथा एक मोरी (धोबी की मोरी) है।

त्रिपोलिया से माणक चौक की ओर जाने पर कुछ और मंदिर हैं जो हैं तो नगर-प्रासाद के प्रांगण में ही, किन्तु उनके प्रवेशद्वार नगर में पूर्व-पश्चिम जाने वाले मुख्य राजमार्ग—त्रिपोलिया बाजार—में हैं।

त्रिपोलिया— नगर- प्रासाद का दक्षिणी द्वार
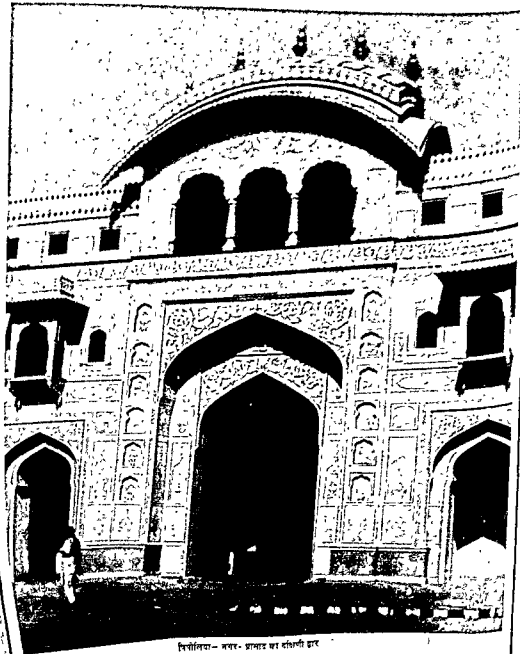
27. ईसरलाट

आतिश के अहाते मे ही वह लाट या मीनार है जो आज तक गुलाबी नगर की आकाश-रेखा बनी हुई है
जयपुर वाले इसे सरगासूली कहते हैं, किन्तु इसका अधिकृत और उपयुक्त नाम "ईसरलाट" है।

1743 ई. मे सवाई जयसिंह की मृत्यु होने के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र ईश्वरीसिंह उसका उत्तराधिकार
हुआ, किन्तु उसके नसीब में न राज लिखा था और न चैन। उसका सौतेला भाई माधोसिंह अपने मामा
उदयपुर के महाराणा की शह से स्वयं जयपुर का राज्य हथियाने के सपने सजो रहा था। जब माधोसिंह
महाराणा, कोटा के दुर्जनसाल और बूंदी के उम्मेदसिंह के सहयोग से जयपुर पर धावा बोला तो ईश्वरीसिंह
अपने प्रधानमंत्री राजामल खत्री और धुला के राव के नेतृत्व में एक सेना भेजी। दोनों ही सेनानायक बड़
वीरता से लड़े और उन्होने आक्रमणकारी को रणक्षेत्र छोड़कर भागने पर विवश कर दिया। 1744 ई. में य
हमला तो विफल रहा, लेकिन 1748 ई. में माधोसिंह ने महाराणा, मल्हार राव होल्कर, जोधपुर, कोटा, बूं
और शाहपुरा के राजाओं की सहायता से फिर कूच किया। जयपुर से बीस मील दूर बगरू के पास दोनों सेना
की मुठभेड़ हुई और सात शत्रुओं की सम्मिलित सेना को ईश्वरीसिंह के सेनापति हरगोविन्द नाटाणी ने फि
परास्त किया। यह सफलता सचमुच बड़ी महत्त्वपूर्ण थी और ईश्वरीसिंह ने इसके उपलक्ष में 1749 ई.
सात खण्डों या सात मंजिल का यह विजय-स्तम्भ बनवाया-ईसरलाट।[1]

इस ऐतिहासिक तथ्य की अवहेलना कर जयपुरवासियों ने इस मीनार के साथ एक कहानी जोड़ दी। य
कहानी ईश्वरीसिंह को अपने प्रधानमंत्री और सेनापति हरगोविन्द नाटाणी की बेटी का प्रेमी बताती है औ
जताती है कि उसे देखने के लिये ही ईश्वरीसिंह ने यह मीनार बनवाई। उन्नीसवीं सदी के अन्त में श्र
कृष्णराम भट्ट ने भी अपने "कच्छवंश महाकाव्य" में इस कहानी को स्थान देकर कुछ श्लोक लिख डाले
किन्तु, उस काल में राजा की ऐसी इच्छा को पूरी करने के और भी अनेक रास्ते हो सकते थे। यह नितान
हास्यास्पद ही है कि ईश्वरीसिंह जैसा विवेकवान और वीर राजा अपनी किसी चहेती को मात्र देखने के लि
इतनी ऊंची मीनार पर चढ़ता। यह कहानी संभवतः पहली बार सूर्यमल्ल मिश्रण के "वंश भास्कर" में आ
है, जो ईसरलाट के बनने के कम से कम सौ वर्ष बाद लिखा गया था। "वंश भास्कर" बूंदी के आश्रय में लिख
गया था और बूंदी उस युद्ध में पराजित हुई थी जिसके उपलक्ष मे यह विजय-स्तम्भ बना। इस कहानी से बूं
के विजेता ईश्वरीसिंह और हरगोविन्द दोनों का ही अपयश हो जाता था और उनकी विजय की बात भी गौण
फिर ईश्वरीसिंह के आत्मघात के बाद राजा बनने वाले माधोसिंह को भी यह विजय-चर्चा नहीं सुहानी होगी
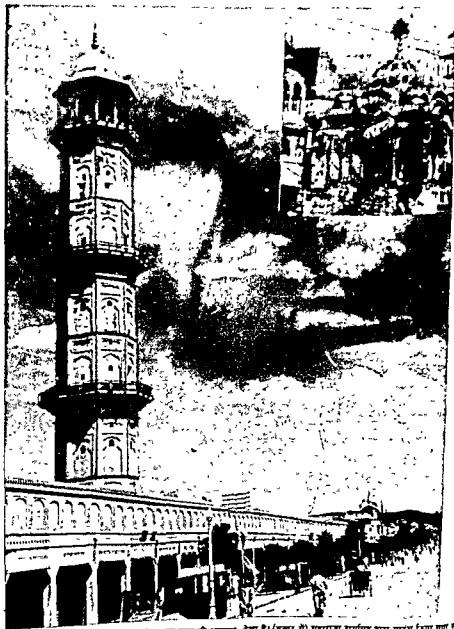
ईसरलाट— ईश्वरीसिंह द्वारा निर्मित विजय-स्तंभ, जो जयपुर नगर की आकाश-रेखा है। (अन्तर में) महाराजा रामसिंह द्वारा आरंभ किया गया सोना-चांदी का ताजिया, जो मोहर्रम के जुलूस में अब भी निकलता है।

अतः नाटाणी हरगोविन्द की दुहिता और ईश्वरीसिंह के प्रेम की बात का बतंगड़ ही बनता गया और "कच्छवंश महाकाव्य" में भी स्थान पा गया।

अशीम कुमार राय ने इस प्रेम कहानी को सर्वथा अनर्गल और बेतुकी माना है, किन्तु उनसे एक भूल हो गई है। उन्होंने हरगोविन्द नाटाणी का मकान छोटी चौपड़ पर स्थित कोतवाली को बताया है जो ईसरलाट से कोई 500 मीटर दूर है। कोतवाली वास्तव में सवाई जयसिंह के समकालीन लूणकरण नाटाणी की हवेली थी, जबकि हरगोविन्द की हवेली इस लाट के सामने ही नाटाणियों के रास्ते में है।[2]

हरगोविन्द नाटाणी था तो बनिया, लेकिन था बड़ा दिलेर और हिम्मतवाला सिपाही। राजमहल की लड़ाई में वह जयपुर की फौज की हरावल में था और अपनी व्यूह-रचना में उसने मरहठों, कोटा और उदयपुर की मिली-जुली फौज के छक्के छुड़ा दिये थे। बेशक, इस कामयाबी ने उसके हौंसले काफी बुलन्द कर दिये थे और वह फौज बख्शी से रियासत के सबसे बड़े ओहदे मुसाहिबी पर पहुंचना चाहता था। उस वक्त मुसाहिब था केशवदास खत्री जो सवाई जयसिंह के विश्वासपात्र और काबिल प्रधानमंत्री राजामल खत्री का ही पुत्र था और खुद भी बड़ा काबिल था। लेकिन जब हरगोविन्द महाराजा ईश्वरीसिंह और केशवदास में मनमुटाव कराने में सफल हुआ तो ईश्वरीसिंह ने केशवदास को जहर खाने के लिये मजबूर कर दिया। केशवदास का मरना था कि ईश्वरीसिंह और जयपुर के बुरे दिन आ गये और सारे शहर में यह बात चल गई

मंत्री मोटो मारियो,
खत्री केशवदास।
अब थे छोड़ो ईसरां,
राज करण री आस।।

माधोसिंह जयपुर की गद्दी हासिल करने के लिये बराबर जोड़-तोड़ कर रहा था और अपने मामा उदयपुर महाराणा की मदद से उसने होल्कर की मरहठा फौज को अपनी हिमायत पर फिर बुला लिया था। ईश्वरीसिंह के काबिल मुसाहिब को मरवाने वाला हरगोविन्द ईश्वरीसिंह का भी नहीं रहा। 1750 ईस्वी में जब होल्कर जयपुर पर चढ़ आया और ईश्वरीसिंह ने हरगोविन्द से फौज जुटाने के लिये कहा तो पहले तो वह दिलासे देता रहा कि 'एक लाख कछवाहे मेरे खीसे (जेब) में हैं' और बाद में जब हमलावर शहर के बाहर ही आ खड़े हुए तो उसने ढिटाई से जवाब दिया कि "हुजूर, खीसा तो फट गया!" अब ईश्वरीसिंह क्या करता! सवाई जयसिंह के इस बड़े बेटे ने तब अपने को जलील होने से बचाने के लिये सोमलखार (संखिया) खाया और काले साप से अपने आपको डसाया। सारे राजनीतिक जंजालों से उसे छुट्टी मिल गई।

हरगोविन्द और विद्याधर दीवान ने ईश्वरीसिंह की आत्महत्या का समाचार खुद होल्कर को दिया और दस दिन बाद होल्कर माधोसिंह को हाथी पर अपने साथ बैठाकर इस शहर में निकला। इस ऐतिहासिक घटना का एक जयपुरी टप्पा है:

माधो मांगे आयो
ईसर दे नै पाव।
ज्यो गोविन्द जिरया करे-
तो सारा ही घर जाव।।

ईसरलाट की सातों मंजिलें अष्टकोणीय बनी हैं और हर दो मंजिल के बाद चारों ओर घूमती हुई गैलरी या छतरियाँ हैं। दीपावली और अन्य अवसरों पर जब यह मीनार बिजली की रोशनी से देदीप्यमान हो उठती है तो इसकी शोभा देखते ही बनती है।

ईसाइयत को मानने वाले पुरुष का नाम ईसोदा मोहम्मद माना जाता है।

राजकीय ताजिया

कर्बला पुराना शहर और अब मजार है, किन्तु इसके साथ ही जयपुर की मिलीजुली संस्कृ
हिन्दू-मुस्लिम एकता का एक प्रतीक जुड़ा है। हर साल मुहर्रम पर जयपुर के राजमहलों की ओर से
ताजा सोने-चाँदी का ताजिया आतिश के दरवाजे पर एक घोड़े पर रखा जाता है और ताजियों के जु
कर्बला तक ले जाया जाता है।

जयपुर में राजाओं का राज भले ही रहा पर धर्म निरपेक्षता भी शुरू से ही रही। मुहर्रम यहां बड़ी धूम
से मनाया जाता है और कुछ जानकार जहां यह कहते हैं कि कारीगरी में जयपुर में बनने वाले ताजि
हिन्दुस्तान भर में कहीं मुकाबला नहीं है, वहां कुछ दूसरों का मत है कि जयपुर का स्थान लखनऊ के बा
पर दिल्ली, आगरा, रामपुर आदि मुस्लिम संस्कृति के अन्य केन्द्रों से शायद ऊपर।

हिन्दुओं में, कहते हैं, जितने बेटे उतने ही श्राद्ध। जयपुर में ताजियों के लिये भी कहावत है कि जि
मोहल्ले, उतने ही ताजिये। इतने ताजिये निकलते हैं कि माणक चौक की चौपड़ के चारों ओर तथा पूरे
ड्योढ़ी बाजार की लम्बाई में चमचमाते ताजिये ही ताजिये कर्बला की ओर जाते नजर आते हैं और बह
बड़ा हुजूम हो जाता है।

कहते हैं एक बार महाराजा रामसिंह (1835-1880ई.) बीमार हो गये थे। उनके संगीत के उस्ताद र
अली खां ने कहा कि अन्नदाता, ताजियों की डोरी पहिन लीजिये! महाराजा ने यह नुस्खा भी आजमाया अ
डोरी बांधते ही तकलीफ रफा-दफा हो गई। तब से महाराजा की ओर से भी सोने-चांदी का बना हुआ ताजि
निकलने लगा। राज तो चला गया, पर भूतपूर्व राजघराना आज तक यह ताजिया आतिश के दरवाजे
कर्बला (जलमहल) तक भेजता है।

"मत्स्य देश का इतिहास" में लिखा है कि सोने-चांदी का यह ताजिया महाराजा ने नवाब फैज अली
के प्रधानमंत्री होने के बाद निकालना शुरू किया था। अपने ढंग का यह देश भर में एक ही ताजिया निकल
है।

28. पर्व-त्योहार

जब 'राज सवाई जयपुर' का संचालन इस राजप्रासाद से होता था तो यहां का वैभव और ऐश्वर्य वर्णनातीत था। भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने जयपुर को "नित्योत्सवशाली" नगर कहा है, जहां सात वार, नौ त्योहार हुआ करते थे। जिस नगरी के पुरजन ही ऐसे उत्सवप्रिय हों, वहां के राजा के महल में आये दिन कोई न कोई आयोजन होता रहे तो आश्चर्य ही क्या था! इन्द्र की अमरावती के समान तब इस राजसी नगरी में हर ᐧन कोई न कोई नया आयोजन लेकर आता था और हर्षोल्लास, राग- रंग व धूमधाम में कोई विराम ही नहीं ाता था।

महाराजा मानसिंह की नाबालगी (1922-31 ई.) के दौरान स्टेट कौंसिल के वाइस- प्रेसीडेंट और हाराजा माधोसिंह के समय में 1907 ई. से 1922 ई. तक कौंसिल मेम्बर रहने वाले सर पुरोहित गोपीनाथ , जो जयपुर के पहले- पहले एम.ए. भी थे, उत्सव- त्योहारों का एक कलेण्डर तैयार किया था। संक्षेप में यह वरण भी यहां प्रासंगिक होगा:

वसन्त पंचमी: माघ शुक्ला पंचमी वसन्त पंचमी कहलाती है, क्योंकि इसी दिन से वसन्त का, जिसे ऋतुओं में ऋतुराज कहा गया है, आरम्भ माना जाता है। इस मादक मास के उपलक्ष में राणा, ढोली आदि न्दीजन हरी दूब लाकर महाराजा को भेंट करते थे। ज्ञान- विज्ञान की देवी सरस्वती और प्रेम के देवता ामदेव का भी इस दिन पूजन होता था। पहले (शायद महाराजा रामसिंह के समय में) दरबार भी होता था समें सभी दरबारी बसंती या गुलाबी साफे और पगड़ियां बांध कर आते थे।

भानु सप्तमी: वसन्त पंचमी के दो दिन बाद आने वाली भानु सप्तमी या सूर्य सप्तमी जयपुर के राजाओं के ये विशेष महत्व रखता था, क्योंकि कछवाहा राजपूत अपने को सूर्यवंशी मानते आये हैं। इस दिन गलता ी पहाड़ी पर स्थित सूर्य मंदिर से सूर्य की प्रतिमा को रामगंज बाजार तक एक पालकी में लाया जाता था और हाराजा अपने सरदार- सामंतों व हाकिमों के साथ पूरे माही- मरातिब लवाजमे के जुलूस में सिरह ड्योढ़ी से नकलकर वहां तक जाते थे और आमेर की चौपड़ तक सूर्य के रथ के पीछे- पीछे चलते थे। इस चौपड़ से सूर्य ा रथ रामगंज तक वापस जाता था और महाराजा जब अपने महल में लौट आते तो सूर्य- प्रतिमा पुनः ालकी में अपने मन्दिर चली जाती थी।

जयपुर की सूर्य सप्तमी का मेला सारे राजस्थान में प्रसिद्ध था। सूर्य भगवान के दर्शन और महाराजा की वारी देखने के लिये नगर के मुख्य राजमार्ग पर रंग- बिरंगे परिधानों में स्त्री- पुरुषों और बालकों की भीड़

. दि जयपुर एलबम, अध्याय 15, जयपुर, 1935

उमड पडता था और इस चित्रोपम नगर में यह एक चित्रोपम दृश्य ही होता था।

महाशिवरात्रिः फाल्गुन मास की कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी महाशिवरात्रि का पर्व होता है। इस दिन सभी शिव मन्दिरों में विशेष पूजा और झांकियों का आयोजन होता है। महाराजा रामसिंह के समय में राजराजेश्वर का मन्दिर शिवरात्रि पर विशेष आयोजन का केन्द्र होता था। यह महाराजा शिवोपासक था।

होलीः फाल्गुन की पूर्णिमा होलिका- दहन का दिन है। जयपुर की जिन्दगी जब राज- दरबार के इर्द-गिर्द ही चलती थी तो नगर मे हर चौराहे पर जलाई जाने वाली नागरिकों की होलिया तभी जलाई जाती थी जब राज- प्रासाद में होली मगल हो जाती थी। विभिन्न मोहल्लों के नागरिक 'राज की होली' से अपना पूला जलाकर भागते थे और पहले किसकी होली मगल हो, इसकी होड लग जाती थी।

महाराजा की फाग की सवारी जयपुरवासियो के लिये बडी आल्हादकारी होती थी। महाराजा हाथी पर सवार होकर सारे शहर से होली खेलते हुए सरे- बाजार निकलते थे। सड़को, फुटपाथों, दुकानों और मकानों की छतों, झरोखो तथा इकढालियों पर बैठे नर- नारियों पर महाराजा गुलाल- गोटे फेंकते। टेनिस की गेंद के आकार के ये चपडी के गोटे जहां लगते, वहीं फूट पडते और लाल, हरी, नीली गुलाल से सराबोर कर देते। विशेष उल्लेखनीय राज- प्रासाद के "पिचकारे" (पिचकारी नही) थे और अपने पीछे चलने वाले रग के पानी से भरे टैंकर से कम्प्रेसर द्वारा पानी ले लेकर महाराजा जब अपना पिचकारा चलाते तो उसकी मार जयपुर के चौडे बाजारों के पार नागरिकों को तर कर देती। ये पीतल के पिचकारे अपने आप में एक कलाकृति होते थे। कुछ नमूने नगर-प्रासाद के सग्रहालय मे अब भी देखे जा सकते है।

जनानी ड्योढी मे महिलायें आपस मे रंग खेलती और महारानिया भी इसमे अपनी परम्परागत वेशभूषा और आभूषणो से सज- धज कर भाग लेती। महाराजा भी बाहर होली खेल लेने के बाद जनानी ड्योढी में आते तो रंग, अबीर और गुलाल से एक- दूसरे को सराबोर करने की होड लग जाती।

महाराजा माधोसिंह के जमाने में 1913 ई. की होली की एक टिप्पणी पुरोहित गोपीनाथ ने अपनी डायरी में भी लिखी है। उस दिन होली थी और पुरोहित गोपीनाथ सवेरे ही महाराजा से मिलने गये थे। मुलाकात नहीं हो सकी, क्योंकि जनानी ड्योढी में सवेरे- सवेरे ही शानदार जल्सा हो रहा था और महाराजा भी उसी मे थे। "इस जल्से मे नौ नई पड़दायतें बनाई गई और अनेक को सोना तथा गंगा- जमनी (सोना- चांदी दोनो) जेवर बख्शे गये। दो एक नादरो (खोजो) तथा अन्य नौकरो की तनख्वाह में इजाफा किया गया और लालजी साहब गोपालसिंहजी व लालजी साहब गंगासिंहजी को पचास- पचास हजार रुपये, भीतर के दो छोटे लाल जी व आठ बाईजी लालो को एक- एक हजार रुपये इनायत हुए।"

इस डायरी में 4 दिसम्बर, 1914 को भी एक ऐसे ही जनाने जल्से का यह हाल लिखा है: "पिछली रात श्रीजी ने सुख निवास में बडा भारी जनाना जल्सा किया। उसमें छोटा पड़दायतजी रूपरायजी को जो पाच हजार रुपये सालाना के गांव बख्शे गये, उनका पट्टा निज कर- कमलों से उनको प्रदान किया। चेला रूपनारायणजी को उनके पिता के मुआफिक चार रुपये रोजाना के गाव बख्शे, बजाय चार रुपये रोजाना खानगी के जो वह रोकड पा रहे थे। वल्लभजी चेला की तनख्वाह एक रुपये से दो रुपये रोजाना हुई। गोपीनाथजी नादर के दो रुपये से चार रुपये रोजाना किये गए। दूसरे कई नादरो की तनख्वाह में एक- एक रुपये का इजाफा हुआ। सेठ रामनाथजी को.....सालाना के गाव अता हुए और नायब रामनाथजी की तनख्वाह 30 रुपये से 50 रुपये माहवार की गई।"[2]

दावात- पूजनः होली के अगले दिन ढूंढ़ी और उसके अगले दिन दावात- पूजन होती। महाराजा कौंसिल हाल में जाकर शुभ मुहूर्त में अपने कौंसिल मेम्बरो के साथ कलम और दावात की पूजा करते।

2. डायरी (ह.लि.), पुरo पु. गोपीनाथ, जयपुर

महाराजा न होते तो वरिष्ठ राजगुरु उनका स्थान लेता। इस पूजा के बाद सबको प्रसाद के लड्डू बांटे जाते। इस दिन रियासत भर में दावातें धोई जातीं, उनमें नई स्याही डाली जाती और नेजे की नई कलमें रखी जातीं। मसि- जीवी या नौकरी- पेशा लोगों के लिये जयपुर में यह दिन विशेष महत्व का होता था।

शीतला अष्टमीः जयपुर जिले भर का सबसे बड़ा मेला आज भी इस दिन चाकसू के निकट शील की डूंगरी पर लगता है। अपने दो अनौरस पुत्रों के शीतला निकलने पर महाराजा माधोसिंह स्वयं वहां गया था। इस दिन सभी घरों में ठंडा बासी भोजन किया जाता है। जयपुर के संस्कारशील राजप्रासाद में भी इस दिन ठंडा ही खाया जाता था।

गणगौरः कुमारियों और सुहागिनों का त्योहार गणगौर चैत्र शुक्ला तृतीया को आता है। जनानी ड्योढ़ी में महारानियों द्वारा गणगौर या गौरी की काष्ठ- प्रतिमा की पूजन की जाती और फिर इसकी शहर में सवारी निकलती। जनानी ड्योढ़ी के लोग लाल पोशाक में गणगौर के साथ चलते और उनके आगे हाथी, घोड़े, ऊंट, रथ, पालकी आदि पूरा लवाजमा। महाराजा चौगान की मोती बुर्ज में बैठकर अपने सामंतों के साथ इस जुलूस को देखते। गणगौर की सवारी पाल के बाग तक जाकर जनानी ड्योढ़ी लौट जाती और महाराजा बादल महल में जाते। सभी दरबारियों की पोशाकें लाल होतीं, स्वयं महाराजा की भी। यहां नाच- गाना चलता रहता और सभी दरबारी महाराजा को नजर पेश करते। बादल महल से महाराजा तख्ते- रवां में बैठकर चन्द्रमहल लौटते तो सारे रास्ते जयनिवास बाग के सैकड़ों फव्वारे चलते रहते।

गणगौर का मेला दो दिन का होता था जो अब भी होता है।

रामनवमीः चन्द्रमहल के पास ही राजमहल का मुख्य देवालय- सीतारामद्वारा— है। रामनवमी के दिन- चैत्र शुक्ला नवमी— यहां हवन- पूजन होता और महाराजा जाकर दर्शन करते।

रामनवमी का मेला भरता रामगंज में। राजमहल से गलता के सीतारामजी के मन्दिर में विशेष भेंट भेजी जाती। गलता और बालानन्दजी के मन्दिर जो क्रमशः नगर के पूर्वी और पश्चिमी छोरों पर हैं, जयपुर के राजाओं की गुरु- गद्दियां हैं।

गंगा सप्तमीः वैशाख शुक्ला सप्तमी गंगा सप्तमी अथवा गंगा के उद्भव का दिन मानी जाती है। महाराजा माधोसिंह गंगा का उपासक था और उसके समय में गंगाजी को बड़ा दरबार कहा जाता था। उसकी गंगा- भक्ति का इस पुस्तक मे प्रसंगानुकूल उल्लेख किया जा चुका है।

आषाढ़ी दशहराः आषाढ़ का सतरहवां दिन आषाढ़ी दशहरे का होता है। इस दिन महाराजा अपने सब सरदारों और पूरे लवाजमे के साथ सिरह ड्योढ़ी बाजार में चांदी की टकसाल के सामने लगाये जाने वाले एक शामियाने में जाते थे। उनके आगे सीतारामजी का रथ चलता था। वहां रथ में विराजमान सीतारामजी का पूजन किया जाता और फिर महाराजा की सवारी लौट आती।

गुरु पूर्णिमाः आषाढ़ का अन्तिम दिन गुरु पूर्णिमा होता है। इस दिन राजगुरु लोग जिनमें गलता व बालानन्द के महन्त, बड़े और छोटे ओझाजी मुख्य होते थे, महल में जाते और महाराजा उनकी पूजा कर आशीर्वाद प्राप्त करते। एक बार की बात है, बड़े ओझाजी पण्डित विद्यानाथ ओझा निरे बालक थे। महाराजा माधोसिंह का जमाना था। बालक ओझाजी को पगड़ी- अंगरखी और कमरबंद में देखकर दरबार के लोगों को बड़ा अटपटा लगा और किसी ने कह भी दिया कि ऐसे छोटे- से गुरु की क्या पूजा! छोटे-से ओझाजी का मन छोटा होता, उससे पहले ही उस धर्मनिष्ठ और आस्थावान राजा ने कहा कि खबरदार, ऐसी बात नहीं कहनी। गुरु तो गुरु ही है। शालिग्राम तो सब भगवत् विग्रहों में सबसे छोटा है, किन्तु क्या इससे वह कम पूज्य हो जाता है?

नाग पंचमीः सावन की सजीले महीने का पहला त्योहार जयपुर में नाग पंचमी है। इस दिन चांदपोल के

शहर पुलिस लाइन्स के पीछे हरदेवजी का मेला भरता है। हरदेवजी कोई सिद्ध (हरिजन) सन्त हो गये हैं उनका सर्पों पर भी नियंत्रण बताया जाता है। जयपुर की जनानी ड्योढ़ी में माजी या महारानी की ओर से इस मेले में हमेशा "ढोलणी" जाती थी— इसमें एक छोटा पलंग, बिस्तर, हरदेवजी की पोशाक, मिष्टान्न व नकद भेंट भी शामिल होती थी।

तीज: इमारतों में जैसे हवामहल जयपुर का प्रतीक है, वैसे ही पर्व-त्योहारों में सावन की तीज का मेला जयपुर के उत्सवों में सर्वोपरि महत्त्व रखता है। तीज के दस्तूर सब जनानी ड्योढ़ी में आज भी होते हैं, अब भी मेला भरता है, सवारी निकलती है और राज्य सरकार भी इसमें सहयोग देकर राजकीय स्तर पर यह त्योहार मनाती है, किन्तु यहां 1940-41 ई. की उस तीज का वर्णन उद्धृत है जिसमें जयपुर का राज भोगने वाली महारानी गायत्री देवी (अब राजमाता) ने ब्याह कर यहां आने के बाद पहली बार भाग लिया था:

"जयपुर में जिस त्योहार में मैंने पहले-पहल भाग लिया, वह तीज था. . इस त्योहार को जनानी ड्योढ़ी में विशेष महत्त्व दिया जाता था। पौराणिक कथाओं के अनुसार पार्वती ने भगवान शिव जैसा पति पाने के लिये वर्षों तपस्या की थी। अतः इस दिन कुमारियां पार्वती का पूजन कर शिव जैसा पति पाने की प्रार्थना करती हैं। सुहागिनें अपने पति के दीर्घ जीवन की कामना करती हैं ताकि उन्हें विधवा के सफेद वस्त्र न पहनने पड़ें और वे 'सदा लाल परिधान पहिनती रहें।' हम तीनों महारानियों को ही नगर-प्रासाद में पूजा और प्रार्थना की रस्में पूरी करनी थीं। मेरे आने के बाद पहली तीज को जय की अन्य दोनों पत्नियां राज्य से बाहर थीं और मुझे कहा गया कि मुझे हर रस्म तीन बार करनी होगी— एक बार सबसे बड़ी महारानी के लिये, दूसरी बार दूसरी महारानी के लिये अन्त में मेरे अपने लिये.....

"नगर-प्रासाद में इस पूजा-प्रार्थना के बाद देवी की मूर्ति को शहर के बाजारों में होकर जुलूस में ले जाया गया। इस नजारे को देखने के लिये ड्योढ़ी के नादर या खोजे अंधेरी सुरंगों और गलियारों की भूल-भुलैया और ऊंचे-नीचे खुर्रों में होकर औरतों को एक दीर्घा में ले गये, जहां महल के उत्तरी-पश्चिमी किनारे पर मुख्य बाजार को देखा जा सकता था। हम नादरों के पीछे-पीछे घूमती और मुड़ती हुई कोई आधा मील चली होंगी। मैंने समय और दिशा का सारा एहसास खो दिया और हम जैसे-जैसे जल्दी-जल्दी उनमें गये, केवल रेशम की सरसराहट और पायजेबों की झनझनाहट की ही प्रतीति होती रही। जब हम अन्त में अपने स्थान पर पहुंच गईं तो मैंने देखा कि जय अपने सरदार-सामंतों से घिरे एक अन्य छत्री में बैठे हैं। हमारे अपने मण्डप के पाषाण-पर्दे में, जो महल की प्राचीर पर ही बना था, हम अपने नीचे उस विशाल प्रांगण को देख सकती थीं जहां पुराने राजपूत नरेशों का मन-पसन्द खेल— हाथियों की लड़ाई— होता था। यह सारा प्रांगण मेले के कारण आज नर-नारियों से भरा था— शहर के लोग भी थे, लेकिन अधिकतर जयपुर के आसपास के देहातों के किसान थे।

"बड़ा ही भरापूरा और उल्लसित करने वाला नजारा था। .... हम सभी ने सराहना के साथ प्रांगण के एक ओर जयपुर कैवलरी को कूद-फांद और टैंट-पेगिंग का प्रदर्शन करते देखा, जबकि दूसरी ओर सैनिक साधुओं (नागाओं) की जमात एक अवर्णनीय तलवार-नृत्य कर रही थी। हाथी सब कतारबन्द खड़े थे और उनके हौदों से साटन और मखमल की झूलें लटक रही थीं। सैनिक भी मुस्तैदी के साथ खड़े थे, उनकी यूनीफार्म और रूपहरी तमगे धूप में चमक रहे थे और सब ओर जयपुर के निवासियों का हिलोरें मारता जन-समुद्र था— सब अपनी प्रखर पगड़ियों और बहुरंगी पोशाकों में थे।

"मैंने कोई घंटे भर तक यह सब मंत्रमुग्ध होकर देखा। फिर चलने का संकेत हुआ तो मैं अनिच्छापूर्वक वहां से उठी और सबके साथ हमें फिर उन खिड़की-विहीन सुरंगों में होकर जनानी ड्योढ़ी में पहुंचा दिया

गया। इस बीच जय अपने सरदारों के साथ सदर- प्रासाद के एक अन्य मण्डप में गये जहां गायकों और नर्तकों ने उनका मनोरंजन किया ....."[4]

रक्षा बन्धन व बड़ी तीज: सावन का अन्तिम दिन रक्षाबन्धन होता है। इसके बाद भाद्रपद की तृतीया कजली तीज या बड़ी तीज कहलाती है। इस दिन कुमारियां और सुहागिनें उपवास रखती हैं। वैसे यह मारवाड़ में विशेष रूप से मनाया जाता है। जनानी ड्योढ़ी में जोधपुर- बीकानेर- मेवाड़ सभी ओर की स्त्रियां रहती थीं और यह त्योहार यहां भी धूमधाम से मनाया जाता था। इस दिन अमल गालने और उसे बांटने का रिवाज भी था।

जन्माष्टमी: श्रीकृष्ण जन्माष्टमी भाद्रपद का सबसे बड़ा धार्मिक उत्सव है। राजमहल में सवाई जयसिंह के समय से ही सभी धार्मिक पर्व बड़े विधि- विधान से मनाये जाते थे। सवाई प्रतापसिंह "राधा- कृष्ण उपासी" था और महाराजा माधोसिंह राधा- गोपाल का इष्ट रखता था। फिर गोविन्ददेवजी का मन्दिर तथा ब्रजनिधि और आनन्दकृष्ण के मन्दिर भी इस पर्व पर सदैव विशेष आकर्षण का केन्द्र बन जाते थे। गोविन्ददेव के तो जन्माष्टमी और नन्दोत्सव आज भी ब्रज प्रदेश- का सा वातावरण बना देते हैं।

गोगानवमी: जन्माष्टमी के अगले दिन गोगानवमी उस लोकदेवता को मनाने का दिन होता था जिसका प्रधान मंदिर गोगामेड़ी (बीकानेर) में है। गोगाजी सर्पों के देवता माने जाते हैं।

महाराजा की सालगिरह: जनानी व मर्दानी, दोनों ही ड्योढियों में महाराजा की सालगिरह बड़ी धूम-धाम का अवसर होता था। इस दिन महाराजा सवेरे ही अपने ठाकुरद्वारा— सीतारामद्वारा— में जाते, यज्ञ करते और अपने गुरुओं का पूजन करते। फिर महाराजा एक जुलूस में गोविन्ददेवजी, गोपालजी आदि के मंदिरों में भेंट चढ़ाने जाते। ईश्वरीसिंह की छत्री पर भी भेंट चढ़ाई जाती। चन्द्रमहल लौटने पर सुखनिवास में वर्ष- पूजन किया जाता। शाम को दीवाने- आम में दरबार होता और सभी सरदार— जागीरदार व हाकिम- अहलकार महाराजा को नजरें करते।

रात को महाराजा जनानी ड्योढी जाते और वहां जनानी मजलिस में भाग लेते। वहां से लौटकर महाराजा अपने सामंत- सरदारों को एक बड़ा भोज देते।

जयपुर ब्याह कर आने के बाद 1940 में महारानी गायत्री देवी ने तीज के बाद महाराजा की सालगिरह का जश्न ही देखा था। अपनी आत्मकथा में उन्होने लिखा है कि जय की पहली दोनों पत्नियां भी इस दिन अवश्य- अवश्य जयपुर आ जाती थीं और स्वयं महाराजा भी। जनानी ड्योढी में माजी साहब महिलाओं के दरबार में मसनद पर बैठती और यही एक ऐसा अवसर होता था जबकि "हम लोग, जय की पत्नियां, उनकी उपस्थिति में भी अपने मुंह उघाड़ सकती थीं।" दीवाने-आम में महाराजा अपना समारोहिक दरबार करते। दरबार- हाल के एक छोर पर नाच- गाना चलता रहता और सभी दरबारी अपनी- अपनी नजरें महाराजा को पेश करते। "सेना के अफसरों ने अपनी म्यानों में से तलवारें आधी बाहर निकालीं और जय ने उनकी वफादारी कबूल करने के लिये उनकी मूठ छू ली। सब कुछ ऐसे करीने और सलीके से किया जा रहा था कि मैंने पहले ऐसा कभी नहीं देखा था। बाद में महाराजा भीतर जनाने दरबार में आये और माजी साहब के बायीं ओर एक सिंहासन पर बैठे। महाराजा के सामने किसी भी औरत से पर्दे की अपेक्षा नहीं की जाती, हालांकि वे बड़ी-बूढ़ियों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिये सामान्यतः अपने मुंह ढक ही लेतीं। यहां भी गाने- बजाने से मनोरंजन चलता रहा और जनानी ड्योढी की औरतों ने बारी- बारी से नजरें की।"[5]

महाराजा माधोसिंह की सालगिरह पर एक संक्षिप्त टिप्पण 1920 ई. का मिला है जो सर पुरोहित

4 ए प्रिन्सेस रिमम्बर्स, गायत्री देवी व शान्ता रामाराउ, पृष्ठ 172-174

5. ए प्रिन्सेस रिमम्बर्स, पृष्ठ 174-175

गोपीनाथ ने अपनी डायरी में लिखा था। इसके अनुसार महाराजा 18 मई, 1920 से बराबर बीमार चल रहे थे, इसलिये अनेक रस्म- रिवाज गत वर्ष की भांति अनिच्छापूर्वक छोड़ दिये गये। सीतारामद्वारा में आचार्य लक्ष्मीनारायण ने कौंसिल मेम्बरों की उपस्थिति मे 'वर्द्धापन- पूजन' कराया और गुरु- पूजन भी। प्रीतम निवास में खवास बालाबख्श ने महाराजा की ओर से बालानन्दजी के महन्त को भेंट की। शाम को 159 कैदी छोड़े गये और रात को प्रीतम निवास मे सरदारों की गोठ का आयोजन किया गया। फतह टीबा पर हमेशा की तरह सलामी की तोपें छोड़ी गईं।

जलझूलनी: भाद्रपद शुक्ला एकादशी को जयपुर नगर के सभी महत्वपूर्ण मन्दिरों की मूर्तियों को उसी प्रकार पालकियों और विमानों में तालकटोरा ले जाया जाता था, जिस प्रकार तीज और गणगौर की सवारियां वहां जाती है। नगर- प्रासाद के इस जलाशय के तट पर नगर के देवताओं का यह सम्मेलन भी पुराने जयपुर का एक दर्शनीय दृश्य था।

दशहरा: आश्विन शुक्ला दशमी या विजयादशमी राजपूतो का विशेष पर्व है। इस दिन महाराजा शस्त्र और सिंहासन- पूजा के बाद सर्वतोभद्र या सरबता में एक भव्य दरबार करते। दरबार के बाद विभिन्न सवारियो या वाहनों की पूजा होती। सूर्यास्त के समय महाराजा अपने सरदारों और अन्य राजवर्गी लोगो के साथ पूरे लवाजमे की सवारी लगाकर सिरह ड्योढ़ी से निकलते और आमेर की सड़क पर विजय बाग जाते। वहां शमी वृक्ष का पूजन किया जाता और रात नौ बजे के लगभग महाराजा की सवारी चन्द्रमहल मे लौट आती। सारे शहर में महाराजा की दशहरे की सवारी को देखने का एक अजीब चाव रहता।

1940 के दशहरे की एक झलक महारानी गायत्री देवी ने ऐसी देखी थी: "जय ने शस्त्रास्त्र की पूजा कराई और बाद मे छह सफेद घोड़ो द्वारा खींची जाने वाली एक सुनहरी बग्घी में तीन मील दूर एक विशेष महल में गये जिसका उपयोग केवल दशहरे के दरबार के लिये ही होता है।..... इस जुलूस में पैदल दस्ते, घुड़सवार सैनिक, बैलगाड़ियां और ऊंट, सेना के बैण्ड और खासा बग्घी के आगे काले घोड़ो पर जय के अपने निजी बाडीगार्ड थे। जय के पीछे जर्क- बर्क पोशाकों में सरदार- सामंत थे और उनके घोड़े खूब सजे- धजे थे (इनमें कुछ लोग अच्छे सवार नहीं थे और जब यह जुलूस हमारी खिड़कियों के नीचे से गुजरा तो हम औरतों में बड़ी हंसी- मजाक और ठिठोलिया होने लगी)। सारे रास्ते जय का अभिनन्दन होता रहा। हर खिड़की, हर झरोखे और ऊंचे स्थान पर लोग जय की झलक देखने के लिये बैठे थे और सवारी समीप जाने पर 'महाराजा मानसिंह की जय' का उद्घोष आप से आप हो जाता।"[6]

शलक: दशहरे का अगला दिन शलक के मेले का दिन होता। इस दिन शाम को महाराजा की सवारी सिरह ड्योढ़ी से निकलकर जौहरी बाजार होती हुई फतह टीबा तक जाती। इस सवारी में भी पूरा लवाजमा साथ होता। महाराजा फतह टीबा जाकर हाथी से उतर जाते और दो हाथियों द्वारा खींचे जाने वाले अनूठे रथ– इन्द्र विमान– में बैठते। फिर तोपखाना, घुड़सवार दस्ते, शुतर सवार और पैदल सैनिक पाच- पांच राउण्ड फायर करते। महाराजा की सवारी रात को नौ बजे चन्द्रमहल को लौट आती।

शरद् पूर्णिमा: दीवाली के दो सप्ताह पूर्व शरद् पूर्णिमा को सरबता की छत पर शरद् का दरबार महारानी गायत्री देवी के शब्दों में सबसे खुशनुमा हुआ करता था। इस दिन अधिक तो कुछ नहीं होता, किन्तु महाराजा और उनके दरबारी सब दूधिया सफेद पोशाकें पहनते और चांदनी रात में अपनी तलवारों और जवाहरात की चकाचौंध में खुले छत पर दरबार लगाते। गायत्री देवी को यह दृश्य "असाधारण, प्राय: अलौकिक" लगा था "जो आज तक मेरी स्मृति में सदा के लिये अंकित है।"[7] इस दरबार में पगड़ियां मोतिया

6 वही, पृष्ठ 174-175

7 वही, पृष्ठ 175

उदयपुर दरबार के लवाजमे का अम्बा-बाड़ी का हाथी। दूसरे हाथी पर माही-मरातिब के निशान हैं

रंग की बांधी जाती थी और मावे व चीनी में जमाई हुई भंग की माजूम से सरबराह करने का रिवाज था।

दीपावली: दीपावली तो त्योहारों का त्योहार होता था जब सारे शहर के साथ राज-दरबार और रनिवास भी असंख्य दीपों से जगमगा उठते थे। जयपुर में नाहरगढ़, गणेशगढ़, गलता का सूर्य मन्दिर आदि भी दीपावली की रात जगमगाते तो ऐसा लगता जैसे परियों के महल अधर में झूल रहे हैं। नगर-प्रासाद के चौव (प्रीतम निवास)मे दीपावली की प्रात: से सायं तक तवायफों के नाच होते। रात को जयनिवास बाग में शोरगर आतिशबाजी के करतब दिखाते। महाराजा काली अचकन और वैसे ही जरी के साफे मे अपने सरदारों के साथ औपचारिकता निभाने के लिये वहां जाते। जनानी ड्योढी में भी इस दिन सभी महिलाये गाढ़ी नीली पोशाके पहनतीं--ऋतु-- परिवर्तन की प्रतीक।

सूर्यास्त के समय जब सरबते के चारो ओर की गुलाबी दीवारे एक गुलाबी आभा से दीप्त हो जातीं तो दीपावली का दरबार होता और प्रमुख सरदार व हाकिम लोग महाराजा को नजरें पेश करते। रात को चन्द्र महल के विशेष कक्ष में महाराजा धन-सम्पदा और ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी की विधि-विधान से पूजा करते। दीपावली की रात जुआ खेलने की परम्परा भी रही है जिसे परम्परा के नाते ही महाराजा मानसिंह भी निभाते थे।

अन्नकूट: दीपावली के अगले दिन अन्नकूट महोत्सव होता तो नगर-प्रसाद के मंदिर भी विशिष्ट व्यंजनों से भर जाते और शाम को गोवर्धन-पूजा होती नगर-प्रासाद की डेयरी ग्वालेरा में।

महाराजा माधोसिंह इस दिन मार्गपाली की सवारी निकालता था। पूरे लवाजमे के साथ यह सवारी सिरह ड्योढी से निकलकर माणक चौक तक जाती और फिर त्रिपोलिया होकर महल मे लौट आती। सिरह ड्योढी के दरवाजे पर इसी दिन नई "बांदरवाल" (बन्दनवार) लगाई जाती। इस दरवाजे को इसीलिये 'बांदरवाल का दरवाजा' भी कहते है।

मकर संक्रान्ति: प्रति वर्ष 14 जनवरी को मकर संक्रान्ति जयपुर का एक विशिष्ट पर्व है। इस दिन ब्राह्मणों व निर्धनोंको चावल, मूंग, तिल, लड्डू, फीणी, तिलसकरी आदि का दान दिया जाता है। जनानी ड्योढ़ी के रावलों में यह दान दिया जाता। इस दिन पतंगबाजी जयपुर की विशिष्टता है और महाराजा रामसिह व महाराजा माधोसिंह के इस शौक की चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है।

इन त्योहारों के अतिरिक्त और छोटे- मोटे त्योहार और उत्सव होते ही रहते। गणेश चतुर्थी के बाद शहर भर के जोशी (चटशालाएं चलाने वाले अध्यापक) अपनी-अपनी शालाओं के बच्चों को लेकर जनानी ड्योढी जाते। ये बच्चे तब के जयपुर में भी हजारों की संख्या में होते। जनानी ड्योढ़ी के बाहरी चौक में ढोलक की ताल पर ये बालक डंके बजा-बजाकर नाचते। फिर हर बच्चे को एक बडा हरा दौना मिलता जिसमे चीनी और गुड़ की गेहूं की धानी तथा चार लड्डू रहते। जोशीजी को एक टोकरा इन्हीं चीजो से भरा मिलता और साथ में पांच रुपये दक्षिणा स्वरूप भी। यह जनानी ड्योढी की ओर से उस जमाने में अध्यापकों या गुरुओं का सम्मान ही था।

महाराजा रामसिंह के समय में शिवरात्रि राज-रनिवास का प्रधान पर्व था तो माधोसिह के समय गंगादशमी, जन्माष्टमी और राधा अष्टमी विशेष उत्साह के साथ मनाये जाते थे। महाराजा मानसिंह शिला देवी के अनन्य उपासक थे, इस कारण नवरात्र को विशेष महत्त्व देते थे और आमेर में सप्तमी-अष्टमी को होने वाले बलिदान के अवसर पर वे स्वयं वहां उपस्थित होते थे।

जयपुर के नगर-प्रासाद मे 1949 के मार्च तक ये सभी पर्व-त्योहार प्राचीन परम्परा के अनुसार मनाये जाते रहे--ठीक वैसे ही जैसे नगर-प्रासाद और जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिंह के समय मे मनाये जाते थे। हर त्योहार और पर्व की अपनी पोशाकें होती थी, अपना ही रंग और एक ऐसा सलीका व करीना जो गुलाबी

शहर के राजमहल का अपना ही था।

रस्म-अदायगी या लकीर पीटने के लिये अब भी सरबते में 'दरवार' होते हैं, दशहरे पर कर्नल भवानी सिंह आमेर रोड के विजय बाग में भी जाते हैं और शमी वृक्ष को पूजते हैं, दीवाली का पूजन भी होता है और होली भी खेली जाती है, किन्तु वह भव्यता, शान-शौकत और गरिमा अब कहां जो इस राज-दरवार और रनिवास के हर आयोजन में पहले रहा करती थी !

□□□

29. शेष-विशेष

भारत के स्वतन्त्र होने के अनन्तर रियासतो-रजवाडो का विलय भी होना ही था। एक-एक क
रियासतों के भारतीय सघ में आत्मसात होने की यह प्रकिया उन लोगो के लिये मचमुच दर्दभरी रही होगी ज
राजमहलों के स्वप्नलोक में रहते थे। जयपुर और इसके अंतिम शासक महाराजा मानसिंह ने इस प्रक्रिया
न केवल पूरा-पूरा सहयोग दिया, वरन् एक प्रकार से पहल भी की। आजादी के पहले जयपुर को सर मिज
इस्माइल जैसा दूरदर्शी प्रधानमंत्री मिला था और आजादी आई तो सर वी टी. कृष्णामाचारी यहा का दीवा
था। इन दोनो प्रधानमत्रियो ने जयपुर मे ऐसे वैधानिक सुधारों का सूत्रपात कर दिया था कि राजशाही
लोकशाही का परिवर्तन कम से कम यहां तो बडे सहज और स्वाभाविक रूप में आ गया और महाराज
मानसिंह ने भी इस बदलाव को वैसे ही लिया जैसे पोलो के खेल मे अपने घोड़े को बदल लिया हो।

इस युगान्तर के बाद जयपुर के नगर-प्रासाद की जिन्दगी और हैसियत दोनों में फर्क आना भी स्वाभावि
था और यह अन्तर अठारहवीं सदी के इस राजपूत राजप्रासाद को अब एक जीवंत राजमहल के स्थान पर ए
दर्शनीय और ऐतिहासिक स्मारक बनाकर रख देता है। गोविन्ददेव तो जयपुर के 'वास्तविक' राजा हैं
इसलिये उनका दरबार तो शायद पहले से भी कहीं अधिक भीड़भाड़ का होता है, किन्तु अन्य मंदिरो
दर्शनार्थियों की इतनी संख्या भी नहीं होती कि ब्रजनिधि और आनन्दकृष्ण जैसे विशाल मंदिरो को सजीव
बनाये रखे। इन मंदिरों की देखभाल अब राज-दरबार का काम नहीं, राज्य सरकार के देवस्थान विभाग क
दायित्व है और यह दायित्व जिस प्रकार निभ रहा है, वह भगवान ही जानते हैं !

महाराजा मानसिंह के विवेक और दूरदर्शिता का स्थायी स्मारक उनके द्वारा सस्थापित संग्रहालय है जिस
देखने के लिये आज भी ससार भर के पर्यटकों की पदचाप नगर-प्रासाद के विभिन्न प्रागणो मे बराबर सुना
पड़ती है। इस स्वप्निल संसार में भ्रमण करने वाले सैलानी यहां की भव्यता, सुन्दरता और मौलिकता प
वाह-वाह करते हुए शायद उन दिनो की कल्पना करते है जब नगर-प्रासाद के हर कक्ष मे राज-दरबार क
मर्यादा, शिष्टता और कुरब-कायदों का बोलबाला था। जैसा इस पुस्तक के आरम्भ में कहा गया है, जयपुर
राज-दरबार की एक अपनी ही शान और आन-बान रही है— एक ऐसी चकाचौंध जो अन्य राजा-रानियों क
भी चकित और विस्मित कर देती थी।

किन्तु, राजशाही की समाप्ति और लोकशाही के प्रादुर्भाव के बाद इस राजप्रासाद को अब सजीव नहीं
कहा जा सकता। हां, देश के आजाद हो जाने और जयपुर रियासत के राजस्थान में विलीन होने तक के
अन्तराल मे दो आयोजन ऐसे अवश्य हो गये थे, जिनमे जयपुर का राज-दरबार और रनिवास एक बार फि

पहले की तरह सजीव हो उठे थे। इनमें पहला आयोजन था जयपुर के 39 वें और अन्तिम शासनारूढ़ महाराजा मानसिंह के राजत्वकाल की रजत जयंती, जो जयपुर रियासत के भारतीय संघ में सम्मिलित हो जाने के कोई चार माह बाद दिसम्बर, 1947 में मनाई गई थी।

महाराजा मानसिंह के शासन के पच्चीस वर्षों में जयपुर का बड़ा कायाकल्प हो चुका था और महाराजा माधोसिंह के जमाने की मध्ययुगीन परम्पराओं को छोड़कर यह रियासत ऐसी प्रबुद्ध और प्रगतिशील हो गई थी कि इसे तत्कालीन "राजपूताना की तकदीर को बदलने वाली"[1] कहा जाने लगा था। सवाई जयसिंह ने जयपुर को बनाया था तो सवाई मानसिंह ने विगत पच्चीस वर्षों में इसका पुनर्निर्माण कराया था।[2] ऐसे महाराजा की रजतजयंती के लिये स्वभावतः सारी रियासत में बड़ा उत्साह था— इसलिये भी कि आने वाले दिनों में न जाने रियासत का क्या होगा और महाराजा की क्या हैसियत रहेगी !

जयपुर शहर और नगर-प्रासाद तब दुल्हिन की तरह सजाये गये थे। सब ओर ध्वजा-पताकाएं, तोरण-द्वार और बन्दनवारें लगी थीं। रात को सारी महलीयत और गढ़-किलों व राजकीय इमारतों पर रोशनी हुई थी। जयपुर के नागरिकों के विभिन्न वर्गों ने इस अवसर पर अपने महाराजा का अभिनन्दन किया था और ये आयोजन कई सप्ताह तक चलते रहे थे। राजकीय समारोहों के साथ सेना ने भी टैटू का आयोजन किया था। महाराजा को चांदी से तोला गया था और यह तुलादान निर्धनों में बांट दिया गया था। जनानी ड्योढी में महाराजा की दोनों जीवित रानियों— किशोर कुमारी और गायत्री देवी— को भी इसी प्रकार चांदी में तोला गया था।

रजत जयंती समारोह में चौदह महाराजा और इनमें से कइयों की महारानियां भी जयपुर आई थीं। रामबाग मेहमानों के लिये खाली कर पूरा राजपरिवार नगर-प्रासाद में ही जा रहा था। इससे जनानी और मर्दानी ड्योढियों के सभी विशाल कक्ष जिन्दगी की चहल-पहल से भर गये थे।

समारोह का सबसे उल्लेखनीय आयोजन वह राजकीय भोज था जिसमें भारत के अन्तिम वायसराय लार्ड माउंटबैटन और लेडी माउंटबैटन ने भी भाग लिया था। यह भोज तो रामबाग में हुआ था, किन्तु रजत जयंती दरबार दीवाने-आम में ही हुआ था। इसमें लार्ड माउंटबैटन ने महाराजा को जी.सी.एस.आई. (ग्रांड कमांडर आफ दि स्टार आफ इण्डिया) से अलंकृत किया था।

1948 में महाराजा मानसिंह ने अपनी एकमात्र पुत्री "मिकी"— प्रेमकुमारी— का विवाह बारिया (गुजरात) के महाराजकुमार के साथ किया था। जयपुर के राज परिवार में सौ से भी अधिक वर्षों बाद किसी लड़की का विवाह था यह, इसलिये इस अवसर पर आयोजित जुलूस, भोज, मनोरंजन व अन्य सभी कार्यक्रम अभूतपूर्व चमक-दमक और शान-शौकत वाले थे। स्वयं महारानी गायत्रीदेवी के शब्दों में "यह संभवतः रियासती भारत की चकाचौंध का आखिरी भव्य प्रदर्शन था।"[3]

रजत जयंती की तरह इस विवाह में भी बहुत राजा-महाराजा और अन्य लोग आये। राज-परिवार ने उनके लिये फिर रामबाग खाली किया और नगर—प्रासाद सजीवहोगया। विवाह की धूमधाम का अनुमान इसी बात से किया जा सकता है कि सारे कार्यक्रम और व्यवस्था सम्बन्धी निर्देश-पुस्तिका ही कोई दो इंच मोटी बनी थी। कोई दो सप्ताह तक पार्टियाँ, भोज और मनोरंजन चले। गायत्रीदेवी इस धूमधाम को याद करती हुई लिखती है: "यही एक अवसर था जब मैने नगर-प्रासाद को पूर्णतः सजीव देखा, लोगों से भरा और पार्टियों से महकता, जनानी ड्योढी के भी सभी रावले उपयोग में आ रहे थे, सब कहीं फूलों और महिलाओं की

1. दि इण्डियन रिव्यू, मद्रास, अप्रेल, 1945
2. आर वी मूर्ति, 'कामर्स', बम्बई, 1945
3. ए प्रिन्सेस रिमम्बर्स, पृष्ठ 212

राजपूती वेशभूषा के प्रखर रंग थे, हंसी-खुशी की आवाजें थी, संगीत और महिलाओं की पायजेबों की छमछम सुनाई पड़ती थी।.....

"बाद मे विशाल भोज हुआ.... आतिशबाजी के प्रदर्शन ने एक जादुई सृष्टि कर दी, निर्धनो और ब्राह्मणों के भी भोज हुए, कुछ कैदी भी छोडे गये.... अखबारों में विवाह समारोह की खबरें मुख पृष्ठो पर छपी। 'दि गाइनीस बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्ड्स' में इसका उल्लेख 'संसार की सबसे खर्चीली शादी' कहकर किया गया है।"[4]

यह सबसे खर्चीली शादी और रजत जयंती तो हुई, किन्तु रियासती दुनिया में शीघ्र ही चुपके-चुपके ऐसे क्रांतिकारी परिवर्तन हो गये कि वह सजीवता बुझते दीप की लौ की तरह अपनी क्षणिक दीप्ति दिखाकर लुप्त हो गई और राजमहलों के निवासियों को यथार्थ की कठोर भूमि पर अपने पांव रखकर नई परिस्थितियों में ढलने के लिये तैयार होना पड़ा। अपनी आत्मकथा में महारानी गायत्रीदेवी ने राजप्रासाद के दीवाने-आम, मुबारक महल, सरवता आदि को जयपुर नरेश संग्रहालय बनाये जाने की प्रक्रिया का मार्मिक वर्णन करते हुए बताया है कि किस प्रकार उन्होंने फीलखाने के हाथियो के जेवर और अन्य सजावटी सामान को, जिसमें साटन और जरी की झूले तथा सोने-चांदी के हौदे भी थे, नीलाम किये जाने से रोका जिससे उस विगत वैभव के इन प्रतीको को नये संग्रहालय में प्रदर्शित किया जा सके और जयपुर की इस सांस्कृतिक थाती को सारा संसार देख सके।

नगर प्रासाद में आज यही हो रहा है। जो भव्य भवन राजदरबारों और मजलिसों के लिये बने थे, उनमें अब दरबार नहीं होते, जयनिवास बाग अब आधा चन्द्रमहल के साथ लगा है और आधा (निचला बाग) जयपुर की बढ़ती जनसंख्या के लिये सार्वजनिक उद्यानों की कमी दूर करने को जयपुर नगर परिषद की सम्पत्ति बन गया है (यह कर्नल भवानीसिंह ने परिषद को दे दिया है), जयसागर जनता बाजार मे परिणत हो हो गया है, आतिश में घोडे नहीं हिनहिनाते, वहां का पूरा मैदान हार्डवेयर और नल-बिजली वाले दुकानदारों के काठ कबाड़ से पटा पड़ा है, फीलखाने मे कोई हाथी नहीं झूमता, ग्वालेरा में गाय नहीं हैं, बग्घीखाना और रथखाना भी नाम-शेष हैं और जनानी ड्योढी प्रायः सूनी पड़ी है। राजमहलों और रनिवासों के स्वप्निल संसार के स्थान पर अब संग्रहालय की कलादीर्घा, शस्त्रागार और वस्त्र विभाग के प्रदर्शन कक्ष हैं और जयपुर के महाराजाओ के विशाल रंगभरे तैल चित्र दीवारो से उन देशी-विदेशी पर्यटकों को निर्निमेष निहारते हैं जो उनके इन अप्रतिम महलो से आकर्षित होकर यहां आते हैं।

राज-दरबार क्या उठ गये, जाजम ही उलट गई; लेकिन विगत की यादों के साथ सवाई जयसिंह और उसके उत्तराधिकारियों की यह नगरी अपने स्थापत्य, शिल्प-सौष्ठव तथा कला-वैभव के कारण आज भी आकर्षक और मोहक बनी हुई है। जयपुर क्या था, और क्या हो गया है !!

इसी जयपुर के लिए प्रतापसिंह और जगतसिंह के दरबार के रससिद्ध महाकवि पद्माकर ने कहा था:

जय जयपुर सुरपुर सदृश
जो जाहिर चहुं ओर!

4 वही, पृष्ठ 213-14

जयपुर रियासत का राजस्थान में विलय : 30 मार्च, 1949 को सरदार वल्लभभाई पटेल महाराजा मानसिंह को राजप्रमुख पद की शपथ ग्रहण कराते हुए

परिशिष्ट-1
जयपुर के राजा

1-सवाई जयसिंह द्वितीय	1699-1743 ई.
2- सवाई ईश्वरीसिंह	1743-1750 ई.
3-सवाई माधोसिंह प्रथम	1750-1767 ई.
4-सवाई पृथ्वीसिंह	1767-1778 ई.
5- सवाई प्रतापसिंह	1778-1803 ई.
6-सवाई जगतसिंह	1803-1818 ई.
7-सवाई जयसिंह तृतीय	1818-1835 ई.
8-सवाई रामसिंह द्वितीय	1835-1880 ई.
9-सवाई माधोसिंह द्वितीय	1880-1922 ई.
10-सवाई मानसिंह द्वितीय	1922-1970 ई. (1949 ई.में जयपुर रियासत राजस्थान में विलीन हो गई)
11-कर्नल सवाई भवानीसिंह (वर्तमान)	-1970 ....

उपरोक्त तालिका में केवल जयपुर में रहने वाले राजाओ के नाम ही दिये गये हैं, जयपुर बसने से पहले आमेर के राजाओ के नहीं। जयसिंह प्रथम (मिर्जा राजा), रामसिंह प्रथम और मानसिंह प्रथम आमेर में हुए थे जिनके समय क्रमशः इस प्रकार हैं:

मिर्जा राजा जयसिंह प्रथम	1611-1667 ई.
रामसिंह प्रथम	1667-1689 ई.
राजा मानसिंह प्रथम	1589-1614 ई.

परिशिष्ट-2

गोविन्ददेवजी के गोस्वामी

जयपुर के भारत-विख्यात मंदिर श्री गोविन्ददेवजी के गोस्वामियों का वंश-वृक्ष इस प्रकार है.

रूप गोस्वामी (1490-1563 ई.)

I

हरिदास

I

गोविन्ददास

I

नित्यानन्द

I

राधाकृष्ण

I

शिवराम

I

कृष्णचन्द्र

I

गोविन्दचन्द्र

I

जगन्नाथ (प्रथम विवाहित गोस्वामी: सवाई जयसिंह के समकालीन)

I

रामशरण

I

नीलाम्बर (+) — बलराम

I (बलराम)

कृष्णशरण

I

रामनारायण

I

हरे कृष्ण

I

श्यामसुन्दर

I

रामचन्द्र (+) — राधाचन्द्र — भवनचन्द्र

कृष्णचन्द्र (रामचन्द्र) — सुधाचन्द्र (राधाचन्द्र) — मूलचन्द्र (भवनचन्द्र)

भोलानाथ — पचानन (कृष्णचन्द्र)

प्रद्युम्न कुमार (वर्तमान गोस्वामी) — निरजनकुमार — कौनीत कुमार — रजीतकुमार — अजीतकुमार
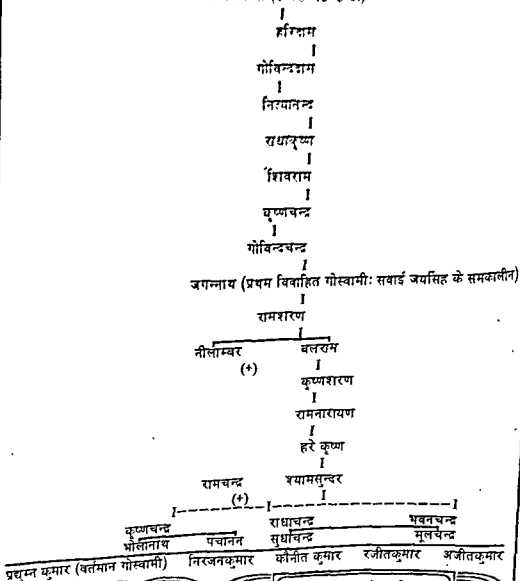
परिशिष्ट-3

'बुद्धि- विलास' का जयपुर वर्णन

जयपुर से 25 मील दक्षिण मे चाक्सू के निवासी बखतराम साह ने 1770 ई. में "बुद्धि- विलास" व
रचना की थी। यह ब्रजभाषा और ढूढ़ाड़ी या जयपुर की बोलचाल की भाषा में लिखित है। इसमें जैन धर्मग्रं
"नीतिसार" को सरल भाषा में जन सामान्य के लिए सुलभ किया गया है, किंतु इसमें जयपुर नगर का ज
समसामयिक वर्णन आया है वह सचमुच बड़ा महत्त्वपूर्ण और रोचक है। "बुद्धि- विलास" राजस्थान प्राच
विद्या संस्थान, जोधपुर से प्रकाशित हो चुका है।

नगर उतपति वरनन

दोहा छंद: नगर बसायो यक नयौ, जयस्यंघ सवाई,
निसांनी: जाकी सोभा जगत मै, दसहौं दिसि छाई।
ताकौ वरनन करनयौ, हुलसी मति मेरी,
इंद्रपुरी हू जानियौं ताकी है चेरी।।97।।

कवित्त: कूरम सवाई जयस्यघ भूप सिरोमनि,
सुजस प्रताप जाकौ जगत मै छायो है।
करन-सौ दानी पाडवन- सौ कपांनी महा,
मानी मरजाद्र मेर राम- सौ सुहायौ है।।
सोहै अंबावति की दक्षिण दिसि सांगानेरि,
दोऊ वीचि सहर अनौपम बसायो है।
नांम ताकौ धरयौ है स्वाई जयपुर,
मांनौ सुरनि ही मिलि सुरपुर- सौ रचायो है।।98।।

छंद पद्धरी: च्यारयौं दिसि रच्यौ उतंग कोट,
तापरि कंगुरनि की बनी जोट।
तिह तलि चौडी षाई बनाय,
औडी मनु सरिता चली जाय।।99।।
दरवाजे ऊचे बनें गोप,
पौरिया वैठि तिह करत जौप।
चौपरि के कीन्हें है बजार,
विचि वीचि वनाऐ चौक चार।।100।।
ल्याऐ नहैरि बाजार मांहि,
विचि मै ववे गहरे रपांहि।
चौकनि मैं कुंड रचे गंभीर,
जगत पीवत तिनकौ मिष्ट नीर।।101।।
हाटिन के विचि रस्ता रषाय,
दीन्हे, ते सूधे चले जाय।
वहु वनें हवैली कूप बाग,

धनवांन जु व्यौपारी कितेक,
वहु देस सुदेसनि तैं आऐ अनेक।
ते करत विणज अति निसक होय,
परदेस मुदेसहि जात कोय।।103।।
मिलि साहूकार धनाढि मिंत,
वार्गान मैं गोठि करै नचिंत।
या विधि सौं सुप निसि दिन वितात,
देवन समान नर तिय लसात।।104।।

छंद. आऐ निजूमी जोतिगी, बहुरयौं फिरंगी कौतिगी।
तिन रच्यौ जत्र विसाल है, तामैं ग्रहों की चाल है।।105।।
तिथिपत्र मिलि ठान्यौं नयौ, सिरिनांम भूपति कौ दयौ।
सो "जयविनोद" कहात है, जग मांहि सौ विप्यात है।।106।।
वहु विप्रि विद्यावांन ते, आऐ दिसा- विदिसान ते।
साहित्य तर्क सु न्याय के, पाठी प्रवीन सुभाय के।।107।।
मिलि वैठि वै चरचा करै, 'वांनी सुरनि की' उच्चरै।
वोले सु अधिक मरोर सौ, वहु जोर करि कैं सोर सौ।।108।।
सुनि भूप चरचा तिन- तनी, हिय हरपि कैं कवि गुनी।
धन देत तिनहि अपार है, ऐसी अनेक सभा रहै।।109।।
भाषा कवी परवीन ते, जस करत नव प्राचीन ते।
वाग्हट भाट सुभावतै, वहु पढ़त कवि चित चावतै।।110।।
गज वाजि धन सिरपाव तें, वकसीस लहि गुन गावते।
विचरै सु पर हू देसते, आसिषा देत हमेस तें।।111।।

छंद पद्धरीः वहु विधि के कारीगर अनूप,
परिवार सहित वुलवाय भूप।
तिनकौ पुर मैं दीन्हे वसाय,
हासिल सबको माफी कराय।।112।।
यह सुजस वढ्यौ चहुधां अनंत,
आऐ वहु जन तिनकौ न अंत।
व्यौपार करन लागे अनेक,
वहु भांतिन के करि करि विवेक।।113।।
वहु महर रूपैया लेन देन,
जौंहार विकत मुक्तन गमंत,
वहुं वस्त्र पाट कैं वहुरि श्वेत,
मैहमूदी षासा तनमयेन।।114।।
वहु पसमीना पुनि विकत पान,
वहुं विक्रत रिपाने वहुरि धान।
वहुं लिऐं छकीत धान पात्र,

वेचत तिनमैं नहि झूठ मात्र।।115।।
कहु गधी अत्तर वेलि तेल,
वेचत मिस्सी फुलवा फुलेल।
कहु हलवाईगर वणिक रूप,
वेचत जु मिठाई करि अनूप।।116।।
मेवा परदेस सुदेस के जु,
वहु लेत देत करि करि मजेज।
कहु वणत पारिचा जरीवाव,
अति गर्व भरे नहि देत जाव।।117।।
जरदोज कहूं सीवत वितान,
सिरपावन के वहु वस्त्र- थान।
रगरेज रंगत कहू पट सुरंग,
लहरिया जु वांधत करि उमग।।118।।
कहू पत्री छीपे चुनरीन,
पोमचे वांधि वेचत प्रवीन।
कहुं चूरा चित्रत है चतेर,
कहु वेचत है तिनकौ लपेर।।119।।
वहु वसें आय कै सिल्पकार,
वहु भांतिन के घडि सग सार।
देहुरे और मंदिर जु आदि,
तिनके लावत करि सिल्प यादि।।120।।
कहु वेजारी वहु व्यौत साजि,
तें चुनत चुनांवहार काजि।
कहु घडत ठठेरे द्यौस राति,
घन आवत मनु दादर वुलात।।121।।
कहु रतन- जडित जड़िया सुनार,
मुलमची वेगडी सिक्लगार।
वस्मागर वुनकर वरक साज,
कहुं वेचत गुडी पतगवाज।।122।।
काछी कलार लोहे लुहार,
मोची कहु जीन रचै सवार।
वढ़ई पिरजापति आदि और,
व्यौपारी फुन कसवी करोर।।123।।
छत्री ब्राहमण अर वैस्य सूद्र,
च्यारि हु वरण के गुण- समुद्र।
सव सुखी मुर मायर प्रवीन,
[illegible] ।।124।।

बहु- मोल सु सोभत वस्त्र अंग,
भूषन मनि- जटित सुवर्न संग।
जरबाफ और पटो मनाम,
नर सगन मनी गुर बने आन।।125।।
नारी सुंदर अति चारु चार,
झीने पट-भूषनजुत सिंगार।
सुकुमार स्वरूप चित मन हरंत,
देवांगनां न समता करंत।।126।।
पुर- छोर बसी वारांगनां सु,
यहु करत नांच मनु अपछरा सु।
तिनकौ लखि सुनि संगीत- गांन,
यहु देत रसिक जन रीझि दांन।।127।।
अब सुनहु भूप बागनि बखान,
बरनौं कछु क मांमति प्रमान।
यक हुतौ बाग निह जै- निवास,
नृप रच्यौ बडै जयम्यष ताम।।128।।
ताकौ लखि नंदन- वन लजात,
जल- जंत्र फुहारे बहु छुटात।
तिनतैं ग्रीषम की मिटत झार,
बिन समै होत पावस बहार।।129।।
मधि है अनेक पादप रसाल,
कहु नूत नूत नूतन तमाल।
कहु बकुल केलि अंजीर बेर,
कहु सेव नासपाती नरेर ।।130।।
कहु पारिजात पीपलि लवंग,
पिस्ता बिदांम केसरि सुरंग।
कहु पनस पूंग महुवा अरिष्ट,
गूलर कपिथ्य दाड़िम सुमिष्ट।।131।।
कहुं ताल हिंताल सु बीजपूर,
भल्लात-वेलि परवर पिजूर।
क्हुं आमिलवेत जमूनि निंब,
करणा नारिंग सु पक्क बिंब।।132।।
अभया बिभीति आमिल छुहार,
कहुं दाप ईप ऐला अपार।
जाती फूलन्यौज जभीर बोट,
सीताफल मीठे हैं परोट।।133।।
बहु फूले वृक्ष अनेक जाति,

करूणा केतगी कदंब- पाँत।
केवरा कुंद चंपा गुलाव,
मचकुंद सेवती मोगराव।।134।।
कहु गुल व गुला फूल्यौ नवीन,
कहु कुसम फिरगी गुल अचीन।
गुललाला दाऊदी हजार,
कहु गुलहवास रंग वहु प्रकार।।135।।
चंदन असोक कहु कोविदार,
वधूक वहुरि सिंगार- हार।
इंह विधि फूले वहुवृछ वेलि,
तिन माँहि भ्रमर मन करत केलि।।136।।
सीतल मंद सुगंध पौन मचु पायकै,
मघन छाह मैं वैठि विहगम आयकैं।
मैने मूंदि अंनि चैन भरे अव रोपिए,
मनौं महा मुनि लीन वृहममय देपिऐ।।137।।
विरह- वेदना कहत मनौं पिक टेरिकै,
सुनत भौंरि हुकार देत मन पेरिकै।
तरू- वेलनि कै रहे फूल- फलझूलि वे,
देपत सुर नर आत- जात मग भूलि वे।।138।।
वहुरि ताल यक तालकटोरा है तरै,
मनौं सरोवर मान देपि छवि कौ हरै।
वहुरि सवाई जयसागर यह नाम है,
ताकी तीरन सुभटादिक के धाम हैं।।139।।
विमल नीर तै भरे लपै आनंद ह्वै,
पछी- गन तह विहरत आय मुदित ह्वै।
चकवाक चातिक चकोर चहु देपिऐ,
कहु कपोत कलहंस कोकिला पेपिऐं।।140।।
कहु मोर नाचत छवी करि चावसौं,
कहु सारिस कहु वग खडे इक पाव सौं।
कहु वैठि चलचक मंज तजि रंग करै,
कहु टिट्टट्टीभ कुकटनु आदि वहु पग तिरै।।141।।
कहुं करत नर कर्मीन आय सनान यौं,
मनौ सुरमरी आए छांडि विमान यौं।
वहुरि मानसागर यक दीरघ ताल है,
तामै सरिता मिली सु अंति सोभा सहै।।142।।

दोहा. या विधि पटु मदेस मैं, वरने मरवर वाग।
[illegible]

छंद पद्धरी   मणि बाग गगन अद्भुत नरिंद,
बनवाये ता मधि महल- वृन्द
गगनगे कनक मुवरण उतंग,
जिना परि ध्वज फहरत पचरंग।।144।।
आंगन फटिक ग मले पखांन,
मनु रचे विरंचिज करि गयांन।
है आब मनिन सम सिंह बनाय,
तंह प्रगट परत प्रतिबिंब आय।।145।।
मणि-कंचन- जटि मधि रची भींति,
दुति लखी परत लपि कै पछीति।
जंह कनक- पाट दीनें कपाट,
दिय जटि विद्रुर सोपान वाट।।146।।
मणि- पचित थंभ मधि जगमगात,
मनु रतन- मान वहु विधि लगात।
यह रची चित्रसाली विमाल,
राजिंद्र रमत तंह सहित वाल।।147।।
कवहू मणि- मंदिर मांहि जाय,
तिय दूजी लपि प्यारी रिसाय।
तव मानवती लपि पिय हसाय,
कर जोरि जोरि लेहैं मनाय।।148।।
मणि- जटित कुंभ अति जगमगांहि,
वह भरे सुव्व जल तै लसांहि।
दधि- दूव- धूप- जुत- हेम सार,
सोहत अंतहपुर द्वार द्वार।।149।।
प्रीतम- निवास फुनि सुप निवास,
बैठक दीवांन सभा- निवास।
फुनि चंद्र- महल आदि जु आवास,
कवि करै कहां लौ वरन तास।।150।।
ऊँचे दरवाजे सुगम वाट,
कंचन- सम जटित वने कपाट।
लगते बनवाऐ चौक ईस,
तंह रहैं कारपांने छतीस।।151।।
यह हुतो कारपाने त नौंस,
पारसी नांम ता मद्धि दोस।
नृप काढि हिंदवी नांम कीन,
गृह- संग्या यह ठांनी नवीन।।152।।
गज- ग्रह मै गज मद झर लसात,

ऐरावत हू तिन लपि लजात।
सुंडिन मै ते लै कै पहार,
फैंकत है पारावार पार।।153।।
वहु अस्व- साल मधि है तुरंग,
राजत है सुंदर अति उतंग।
फेरत'र के बिन मै फिरै सु,
मन पवनहु तै आधे कढै सु।।154।।
फनि रतन- गृहै अरू धन- भडार,
तिनके बरनन कौ है न पार,
इन आदि ग्रहै जो है समस्त,
भरि पूरि रही तिन माँहि वस्त।।155।।
मंत्री घने बुधिवांन है, जानें जिन्है सु जिहान है।
सौप्यौ तिन्है नृप भार कौ, हक देत है हकदार कौ।।156।।
अगी अनेक पवास ते, अति चतुर गिनत उसास ते।
वहु काम के वहु भांति कें, सपति सहित सुभ कांति के।।157।।
वहु सुभट सजि आवै जहा, बैठे सभा मधि नृप तहां।
जैसें हुकम भूपति करै, तैसे करै नाही टरै।।158।।
इन आदि चाकर हैं जिते, हक पाय राजी है तिते।
प्रभु- भक्ति करि जस गात है, सुप माँहि द्योस वितात है।।159।।
पांचौ विधिजुत राज परि, राजत कूरम भान।
रैति सुपी भंडार वहु, नीति सु दांन कपांन।।160।।
ो· चहुधा पुर के गिर हैं उतग,
तिनपै गढ वनवाऐ उतंग।
पूरव दिसि गढ़ रघुनाथ नाम,
तलि तीरथ गलता है सु ठाम।।161।।
दक्षिण दिसि संकर- गढ़ अनूप,
वनवायो माधवस्यंघ भूप।
हथरोही कौ गढ़ दुतिय जानि,
पच्छिम हि सुदरसन गढ़ बपानि।।162।।
उत्तर अंबावति है सुथांन,
तापै स्वाई जै- गढ़ महान।
उत्तर दक्षिण की कुंण पाय,
इक ब्रंह्मपुरी दीन्ही बसाय।।163।।
नृप कीन्हें असमेदादि जग्य,
वहु दान दिऐ लपि द्विज गुणग्य।
यह जस फैल्यो चहु दिसि मझार,
सुनि विप्रादिक आये अपार।।164।।

तिनु ब्रह्मपुरी मैं दे वसाय,
धन धान्य ठौर दिय अधिक राय।
फुनि पूरव दक्षिण वीचि और
गिर परि अंवागढ़ विषम ठौर।।165।।
चहुधां पुर कै उपवन अनेक,
तरू सुफल फले तिनमैं प्रतेक।
फुनि वन गिर सोभा अति लसंत,
तहां ध्यांन धरत मुनिजन महंत।।166।।

दोहाः
हुतौ राज अंवावती, सो जयपुर मैं ठानि।
करन लगे जयसाहि नृप, सुरपति सम सुप दानि।।167।।
भये भूप जयसाहि कै, पुत्र दोय अभिरांम।
ईस्वरस्यंघ भये प्रथम, लघु माधोस्यंघ नांम।।168।।
रांमपुरो दुर्ग भांन कौ, ताकौ लै कै राज।
दीन्हौ माधोस्यंघ कौ, संगि दये दल साज।।169।।
बहुत वर्ष लौं राज किय, श्री जयस्यंघ अवनीप।
जिनकै पटि बैठे स्वदिनि, ईस्वरस्यंघ महीप।।170।।
तिनकी दांन कपांन कौ, जंग जस करत अपार।
जिन सौं जंग जुरे तिन्हैं, करि छाड़े पतझार।।171।।

कवित्तः प्रतापीकः
प्रथम कुमर पदई मैं बड़ी जंग जीत्यौ,
कूट्यौ दल दधिनी कौ, गहें सर चाप सौ।
बूंदी जिन रूंदी कोटावारे पर डंड लयो,
सवही सराहत सवाई भयौ वाप सौ।।
विरचि वचैंगे न मवासे महि मंडल मैं,
संमुति विचारि जे वचैंगे जय जाप सौ।
सवाई ईस्वरसिंघ महाराज नरनाह,
रांग भयौ रांनां तेरे पावकप्रताप सौ।।172।।

दोहाः
बहुरि पाटि बैठे नृपनि, रामपुरे तै आय।
भाई माधवस्यंघ जू, दरजन कौ दुखदाय।।173।।

कवित्तः
जिन रांमपुरे मै करी निज चाकरी,
मी धरि रार्धी विचारि हिये।।
फिरि पाय कै राज ढुंढाहर पौ,
मनउं निधि के गुन आनि लिये।।
भनि "राम" कपानै भले ही भले,
अमरेस के से जिनु दांन दिये।
हरि ऐक सुदामां निवाज्यौ वहूं,
नृप माधव केई सुदामां किये।।174।।

सोरठः
दिये दिवाये दांन, जस प्रगट्यौ दसहूं दिसनि।

उवै जगत परि भान, राज कियो यम मुलक परि।।175।।
आगैं नृपति अनत, जतन किये आयो न गढ।
रणथंभौर महंत, सौ माधव सहजै लह्यो।।176।।

कवित्तः
ऐसी मौज कढत सवाई माधवेस कर,
सुवरन- झर ज्यौं प्रवाह नदी नद के।
मान-वस- भान जयसाहि के समांन स्यांम,
हरत गुमांन निज दान सौं धनद के।।
मोती अनहद के जराऊ साज सदके,
कर हार रद के अनाथ दीन दरद के।
जीन जवूनद के तुरग करी- कद के,
मतग मंति मद के कढत सदा सदके।।177।।

सोरठाः
चढी फौज करि कोप, भिरि भागे जट्टा प्रवल।
नई चढी यह वोप, कछवाहन की तेग कौं।।178।।

दोहा
तिनकैं पटि वैठे पुहमि, प्रथ्वीस्यघ नरिंद।
सकल प्रजा पोपण मनौ, प्रगटे आय सुरिंद।।179।।

छंद भुजग प्रयातः अन्योक्त
उदै श्रंग अवावती पीठि उग्यौ,
मनौ अर्क सौ उग्र तेजा सुहायौ।
धरै धर्म सेतून के दिव्वि बाने,
वड़े भाग कौ छत्र माथे तनायो।।
म्हाराज राजेन्दरी की कृपा तै,
महाराजि राजांन कौ विश्व भायौ।
प्रथी पालिवे कौ प्रथीराज मांनौ,
प्रथीस्यघ कौ धारि कै रूप आयौ।।180।।

सोरठाः
प्रथ्वीस्यघ विख्यात, जा दिन तैं भूपति भऐ।
मिटे सकल उतपात, सुषी भई सारी प्रजा।।181।।

दोहाः
लर्यौ भागि- वल भूप कौं, मर्यौ गयो रिपु जाट।
भऐ सत्रतै मित्र सिप, इहै पुन्य कौ थाट।।182।।
नर- नारी दे आसिप, प्रथ्वीस्यघ नरेस।
अचल राज करि जगत की, रख्या करौ हमेस।।183।।

परिशिष्ट-4

"भोजनसार" का जयपुर वर्णन

"भोजनसार" की रचना 1739 ई. में जयपुर की स्थापना के बारह वर्ष बाद- गिरधारी नामक हिंदी कवि ने की थी। इसकी एक मात्र प्रति पूना के भण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट में है। जयपुर नगर के वर्णन में सर्वाधिक इसके पद्य अब तक कई जगह उद्धृत हो चुके हैं। यहां ए. के. राय की "हिस्ट्री आफ जयपुर सिटी" में ही दिये गये अंश उद्धृत किये जा रहे हैं जिनमें जयपुर के बंगाली नगर-नियोजक विद्याधर और नगर को बसाने का प्रामाणिक वर्णन मिलता है:—

अथ सवाई जैपुर बसायो ताको वर्णन ।।दोहा।।
पुगवरे बह हरप करि मनमहिमोद बढ़ाय
विद्याधर सौ बोलि कहि सहरम एक बसाय।। 182।।
जैनिवास या महरमधि आवै यहै विचारि
चौपरि केरू बजार बहु धरि पिछवारे मारि।। 183।।
अथ जैनिवास वर्णण।।दोहा।।
मुक्त महल सर्जहि महल बादल महल सुजानि
सिदरा और हमाम मनि बुरजि रसोई ठानि।। 184।।
बड़ी बडी नहरै जहा हौद तडागहि देपि
भर फंहरि नलिन तै कुंडा चादरि पेषि।। 185।।
कविता
देषौ नये तरू नये पातनि केनी केन
येन ईन ईसाषा नये फूलफूल नये हैं
नये नये सौरभ सुवात निर्म आवैं
नये नये अलि गुंजे बौसे बोल नये हैं
नये नये कैकी कीर चातक चकोर नये
नये नये कोकिल कुहुकै बांनी नये हैं
सवाई असाह रहाराजनि मुकाटमनि
जै निवास बाग में बसंत नित नये हैं।। 186।।
।।दोहा।।
बेग बसै यक वर्ष में बारहै कोस ही फेर।
देस देस के बौलियो व्योपारी सुनिहैरी।। 187।।
कूचे टीवे रेत नले बहुत है पूर।
तिनकौ दूरिकराय कै करो हवेली सूर।। 188।।
लेहु पजानौ बहुत है लागै सोही लगाय।
सवाई जैपुर सुनौ सहरसु येक बसाय।। 189।।
करि असीस बिनती करी देहो बेग बसाय।
संवत सतरेसे सुनौं चौरासी मनलाय।। 190।।
पौसहि सुदि परिवाजहा घारसनी सरवरा।

गिरधारी या महर को जनम महाप्रभवार।।191।।
या कौडर मवजगत है व्हे यदै विचारि,
या कौडरना ही न कह गिरधारी यह धारी।।192।।
वह द्विजको भोजन दये दक्षिना दई बुलाय।
दे असीस यह उच्चर वसह महर वह माय।।194।।
।।कविता।।
मंदिर अनेक जहा गौव्य देव गोपीनाथ
शिवरू गनेशरू दिनेम के दिवाले हैं।
देवी दव पियत गैह गेह झालरिमु घटा
झाझिदुंदभि के नादनी के चाले हैं।
वापी कूप बाग मानसागर सुपूर भरे नदी
चली आवै नावैं चढै नर नाले है।।195।।
।।दोहा।।
चौपर केरू वजार है हाटैक ई हजार
देस देस के करते है व्यापारी व्यौहार।।196।।
।।कविता।।
गजवाजी विकैदरी यावनिकै अरू कछकै उट अनेकही आवै
वैलविकेक करे जी घनें अरू मे मिवनीमी वीलापनयावै
जरीजरवाव पटवर अंबर- जरायकै भूषण जव विमाहै
राजाधिराज यमायोसु जैपुर कर्न तहां तेपरीदिकै ल्यावै।।197।।
।।दोहा।।
बसत फिरंगी हन हांमागर तजिकै आय।।
जिनकै वुधि वर्वक बहुवहिये यहा यनाय।।198।।
जैमे देस देस के आय है वहु साह।
लाप करोरि नवीमुनी हुंडी चलत मुनाह।।199।।
जिनके लछि अयार है करत रहन व्यापार।
गिरधारी सुपने रहैतन मक्र नहीं निहारि।।200।।
कौउं काहने कछु हन नाहक नहीं बोल।
गिरधारी या महर मै कम्यो चनीमहितोन।।201।।
।।कविता।।
यज्ञ करै द्विज प्राताहिनै पुनि वेद पढ़ें अरू औरे पढावै।
मुभन माधिक है मव धर्म्म अधर्म्म की बात ही दूरि नमावै।
घर ही घरमाड कथा मानियेरपुरान अयारह भवगावै।
राजाधिराज यमाधी मुजैपुर जै जै करै हरिनाव मुनावै।।202।।

□□□
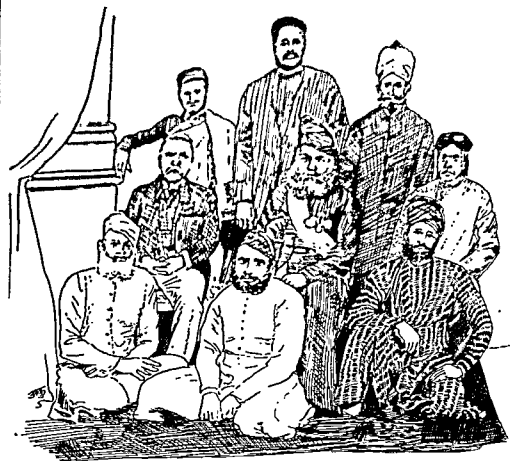
महाराजा माधोसिंह के 1902 ई. में इंग्लैण्ड जाने के समय लिए गए चित्र की प्रतिकृति। महाराजा (बीच में) के एक ओर प्रधानमन्त्री ससारचन्द्र सेन तथा दूसरी ओर सु इंजीनियर स्विन्टन जैकब बैठे हैं। पीछे खम्भे पर हाथ टिकाये पं मधुसूदन ओझा और महाराजा के आगे बालाबख्श खवास (मध्य में) हैं।

महाराजा माधोसिंह की इंग्लैंड यात्रा *

ईसा की 19 वीं सदी का उत्तरार्द्ध। 1857 के सिपाही विद्रोह में एकबारगी डगमगाने के बाद ब्रिटिश साम्राज्य भारत में अपने पूरे तेज और प्रताप के साथ जम चुका था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बदले इंग्लैंड की साम्राज्ञी के साथ भारतीय नरेशों के सीधे सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे और 1876 में महारानी विक्टोरिया ने ब्रिटिश पार्लियामेंट के कानून के आधार पर भारत की साम्राज्ञी- एम्प्रेस आफ इण्डिया– का नया खिताब स्वयं धारण किया था। इस प्रकार भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद को चिरस्थायी बनाने के लिए जिस सामन्तशाही ढांचे को सुदृढ़ किया जा रहा था, उसमे भारतीय राजा- महाराजाओ की महत्ता वायसराय के दरबारों मे उनकी बैठकों के क्रम, सलामी की तोपों और "स्टार आफ इण्डिया"– सितारे- हिन्द- जैसे खिताबो और तमगो से ही आंकी जाने लगी थी। भारतीय नरेशो, विशेषतः राजपूत राजाओं के लिए अंग्रेजों का यह आधिपत्य कोई अटपटी बात न थी। राजस्थान के रजवाड़े मुगल साम्राज्य की अधीनता में सदियां बिता चुके थे और इस साम्राज्य के क्षय के अनन्तर मरहठो की "चौथ" और पिंडारियो की लूट ने उन्हे कोई एक सदी तक चैन की नीद न सोने दिया था। उनके अपने दरबारियों और जागीरदारो के षडयंत्रो एवं कुचक्रों, आंतरिक अशांति और शोचनीय शासन- व्यवस्था से अंग्रजों ने ही उन्हें उबारा था और उनका वंशानुगत उत्तराधिकार सुरक्षित किया था। इसलिए इंग्लैड के राजमुकुट के प्रति इन राजा- महाराजाओ को अपनी निष्ठा और वफादारी प्रदर्शित करने में कोई भी झिझक या संकोच नहीं रह गया था।

किन्तु राजस्थानी नरेश जहां अंग्रेजो से प्रशंसा और आदर प्राप्त करने में गौरव का अनुभव करने लगे थे, वहां पुरानी परिपाटी का निर्वाह करने में भी वे एक अजीब आत्मतुष्टि और गर्व की अनुभूति करते थे। वैसे राजनीतिक विवशता, प्रशासनिक दुरावस्था, सामाजिक विषमता और आर्थिक अव्यवस्था के परिणामस्वरूप तब समूची जनता का दृष्टिकोण भी पूर्णतया संकुचित और संकीर्ण था और इस जनता के स्वाभाविक नेता, राजा- महाराजा, अंग्रेजो द्वारा सुरक्षित उनके विशेषाधिकारों और सुख- सुविधाओं का उपयोग करते हुए और भी रूढिवादी और दकियानूस थे।

भारत जैसे विशाल देश पर ब्रिटिश ताज का एकछत्र प्रभुत्व स्थापित हो जाने के अनन्तर प्रथम विश्व- युद्ध के पूर्व तक का यह काल इग्लैड में "केयर- फ्री एडवर्डियन एज"– बेफिकी का एडवर्ड युग– माना गया है जिसमें अंग्रेज जाति निश्चिंत भाव से अपने साम्राज्य का विस्तार करने में लगी थी। भारत में यह निश्चिंत भाव अथवा बेफिकी किसी मे देखी जा सकती थी तो वह यहां के राजा- रईसों में ही। उस काल मे यदि कोई सामान्य अथवा खाता- पीता नागरिक कानून की ऊंची पढ़ाई अथवा अन्य किसी प्रयोजन से इंग्लैंड चला जाता तो उसका जाति से बहिष्कृत होना एक आम बात थी। साथ ही यह बात भी आम थी कि इस प्रकार के जाति- बहिष्कृत व्यक्ति को कुछ पूजन- हवन, दान- पुण्य और अपने स्वजातीय बंधुओं को सहभोज मे तृप्त करा देने के बाद जाति में पुनः प्रवेश दे दिया जाता था।

विलायत जाते समय जयपुर के महाराजा माधोसिंह के असमंजस की यही पृष्ठभूमि थी जो तत्कालीन राजस्थान की सामाजिक परिस्थिति और यहां के राजा- रईसों के पारस्परिक ईर्ष्या- द्वेष और तनाव- खिंचाव पर भी अच्छा प्रकाश डालती है। माधोसिंह जयपुर जैसी बड़ी और सम्पन्न रियासत का महाराजा था, किंतु उसके इंग्लैड जाने से पांच वर्ष पूर्व जयपुर के ही एक करद राज्य, खेतड़ी का राजा अजीतसिंह इंग्लैड तथा

* महाराजा माधोसिंह (1880-1922ई.) की इंग्लैंड यात्रा पर यह सामग्री एक लेखमाला – एक राजा सात समन्दर पार – के रूप में 'राजस्थान पत्रिका' में

अन्य यूरोपीय देशों में घूम-फिर आया था और यह भी महाराजा की इच्छा के विपरीत। 1902 में स्वयं महाराजा को सम्राट की "आज्ञा" से इंग्लैंड की यात्रा करने के लिये विवश होना पड़ा तो उन सभी तर्कों का निराकरण हो गया जिनके आधार पर अजीतसिंह की विदेश-यात्रा का विरोध किया गया था।

राजा अजीतसिंह का राज्य तो बहुत छोटा था और जयपुर के बड़े राज्य के अधीन भी था, किंतु अजीतसिंह में किसी भी बड़ी रियासत का शासक होने की योग्यता और गुण विद्यमान थे। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के शब्दों में गणित शास्त्र में राजा अजीतसिंह की अद्भुत गति थी और विज्ञान भी उसे बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहकता में अद्वितीय था। दर्शन और अध्यात्म की रुचि इतनी थी कि विलायत जाने से पहले और पीछे स्वामी विवेकानन्द उसके यहां महीनों रहे थे और राजाजी तथा स्वामीजी में सदैव शास्त्र-चर्चा हुआ करती थी। ज्ञान-विज्ञान की नयी-नयी बातों को जानने और अनुभव प्राप्त करने के लिये वह सदैव उत्सुक और जिज्ञासु बना रहता था।

1895 ई. में जब राजा अजीतसिंह अस्वस्थ था तो डाक्टरों ने उसे विलायत जाने की सलाह दी जिसे उसने तुरंत स्वीकार कर लिया। इंग्लैंड में तब मलिका विक्टोरिया की हीरक जयंती मनाने का आयोजन हो रहा था। राजा अजीतसिंह ने इसे एक सुयोग माना और इंग्लैंड जाने की तैयारी की।

भारत सरकार ने तो तत्काल अनुमति दे दी, किंतु महाराजा माधोसिंह की आज्ञा से जयपुर के प्रधानमंत्री कान्तिचन्द्र मुखर्जी ने 27 अप्रेल, 1897 ई. को राजा अजीतसिंह को एक पत्र में लिखा:—

"आप इंग्लैंड जायेंगे और जब वहां से लौट कर आयेंगे तब सरदारों और स्वजातीय सम्बन्धियों द्वारा सामाजिक झगड़ा खड़ा हो जायेगा। इसलिये आप पहले इन सब बातों पर अच्छी तरह विचार कर लीजिये।"

जयपुर के प्रधानमंत्री ने 28 अप्रेल, 1897 को राजा अजीतसिंह को फिर लिखा कि "महाराजा साहब व्यक्तिशः आपकी प्रस्तावित इंग्लैंड यात्रा के विरुद्ध नहीं हैं, किंतु कल के पत्र का अभिप्राय यह था कि इस यात्रा के गंभीर परिणाम को आपके सामने इंगित कर दिया जाये। आपके इस कदम से जो गंभीर परिणाम निकल सकते हैं, उन्हें ध्यान में रखते हुये महाराजा साहब आपको स्वयं विचार करने की अनुमति देते हैं। उनकी अपनी राय में अब भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।"

इन पत्रों से स्पष्ट है कि महाराजा माधोसिंह राजा अजीतसिंह की इंग्लैंड यात्रा के विरुद्ध था और इसे धर्म-विरोधी तथा प्रचलित सामाजिक आचार-विचार के विपरीत मानता था। किंतु, अजीतसिंह अपने निश्चय पर दृढ़ था। इंग्लैंड के ठण्डे जलवायु और समुद्र यात्रा को अपने स्वास्थ्य के लिए लाभदायक मानते हुये, मलिका विक्टोरिया की हीरक जयंती के अवसर पर उपस्थित होने को सुअवसर बताते हुये और विदेशों के अनुभव तथा ज्ञान को अपने राज-काज के लिये उपयोगी होने की आशा लेकर वह 1 मई, 1897 ई. को इंग्लैंड जाने के लिये बम्बई से जहाज पर सवार हुआ। जोधपुर का महाराजा सर प्रताप भी उसी जहाज से इंग्लैंड जा रहा था।

राजा अजीतसिंह प्रायः छह महीने बाद भारत लौटा और बम्बई में उसका शानदार अभिनन्दन किया गया। अभिनन्दन समारोह की अध्यक्षता बम्बई हाईकोर्ट के जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे ने की थी। उसकी सफल विलायत यात्रा, सम्राज्ञी विक्टोरिया के हाथों स्वर्ण-पदक की प्राप्ति और इस मान-सम्मान से महाराज माधोसिंह अवश्य ही और कुढ़ गया होगा। राजा अजीतसिंह तभी से उसका कोपभाजन बना रहा।

अजीतसिंह बहुत नीति-निपुण था और उसने इंग्लैंड जाने से पहले और बाद में अपने शेखावत बन्धु-बान्धवों को पूरे विश्वास में लेकर अपनी इच्छा पूरी की थी, किन्तु जयपुर दरबार की अकृपा को मिटाना उसके लिये भी साध्य नहीं था। फरवरी, 1898 ई. में जब अजीतसिंह जयपुर आया तो यहां तीन अवसरों पर उसने रियासत के प्रमुख सरदारों के साथ भोजन किया। एक बार पोकरण के ठाकुर के जयपुर आने पर, जो

चौमूं ठाकुर का मेहमान था, अजीतसिंह ने दावत का आयोजन किया और इसके निमंत्रण उन सभी सरदारों व
भेजे गये जिनके साथ वह सहभोजों में सम्मिलित हुआ था। महाराजा माधोसिंह के इशारे पर काले पानी व
यात्रा कर आने वाले खेतडी के राजा की इस दावत मे वे कई सामंत- सरदार नही आये जिन्हें मान- मनुहार
बुलाया गया था। अजीतसिंह को इससे बड़ा मानसिक संताप हुआ था और उसे इस अपमान को जहर की घू
की तरह पीना पड़ा था।

अपने इंग्लैड जाने का प्रसंग आने पर महाराजा माधोसिह को राजा अजीतसिह की इग्लैड यात्रा का प्रस
भी याद आया होगा। अब तो धर्म- हानि स्वयं उसी के द्वारा होने जा रही थी। न जाने से शाही आज्ञा व
उल्लंघन होता था और जाता था तो प्रश्न यह उत्पन्न होता था कि इतने लम्बे समय तक नित्य- कम कै
चलेगा? शाही आज्ञा या निमत्रण को स्वीकार करने की सार्वजनिक घोषणा करने के साथ ही महाराजा अप
इस धर्म- संकट का निवारण ढूढने में लग गया, क्योंकि अपने धार्मिक आचार- विचार की रक्षा वह हर हाल
मे करना चाहता था।

निमंत्रण का खरीता

यह परिस्थिति तब सारे भारत की थी, फिर जयपुर ही इसका अपवाद कैसे होता! इसी परिस्थिति
अक्टूबर, 1901 में महाराजा माधोसिह को सम्राट् एडवर्ड सप्तम की ताजपोशी में उपस्थित होने का खरीत
मिला। यह समारोह जून, 1902 में लदन मे होने वाला था, लेकिन राजपूताना के ए.जी.जी. कर्नल ए.बी
थार्नटन ने पूरे सात महीने पहले इसे शायद इसीलिए भेजा कि महाराजा सुविधापूर्वक इस बडे और लम्
सफर की इच्छानुसार व्यवस्था कर सके।

इस निमत्रण को स्वीकार करने के अलावा और चारा ही क्या था? खरीते में ए.जी.जी. ने साफ- साफ
लिखा था: "सम्राट की इस 'आज्ञा' का उत्तर आपके पास से आने पर जनाब हुजूर वायसराय गवर्नर जनरल
बहादुर की सेवा में भेज दिया जायेगा।" महाराजा ने 10 अक्टूबर, 1901 को दीवाने- आम मे आम दरबा
किया जिसमे जयपुर- स्थित ब्रिटिश रेजीडेंट, काब ने भाषण देते हुए यह "खुशखबरी" सुनाई कि "जना
शहन्शाह एडवर्ड सप्तम ने आपको आगामी जून में विलायत आने के लिए और उत्सव ताजपोशी में शामिल
होने के लिए आज्ञा फरमाई है।"

महाराजा की ओर से जो जवाब दिया गया उसमे ब्रिटिश सरकार को यकीन दिलाया गया कि "अगले
जमाने में जिस गरमजोशी से मेरे बुजुर्ग अहकामशाही बजा लाते रहे हैं, उसी तरह मै भी अपने बादशाह
आली मुकाम का हुक्म खुशी और फरहत के साथ बजा लाऊंगा। जिस जश्ने- मुबारक मे शामिल होने के
लिए मुझको हुक्म फरमाया गया है, उसमें मै अपनी जान- खास से यह दिखलाने की उम्मीद करता हूं कि
गवर्नमेंट इंगलीशिया के साथ रियासत जयपुर की खैरख्वाही किस आला मरतबे की है!"

इस प्रकार शाही आज्ञा या निमत्रण को स्वीकार करने की सार्वजनिक घोषणा तो करदी गई, लेकिन
महाराजा अपने धार्मिक आचार- विचार के कारण बडे असमंजस में था। काला पानी अथवा समुद्र पार कर
यह यात्रा सम्पन्न करने के विषय में उसके अपने मन में अनेक शकाये उत्पन्न हो गईं। कैसे उस दूर देश मे
धर्म का निर्वाह कर पायेगे? क्या खायेगे- पीयेंगे? कोई दो- चार दिन की तो बात नहीं, इतने लम्बे समय तक
कैसे नित्यकम चल पायेगा?

पण्डित सभा का निर्णय

यह सब सोच- विचार चल ही रहा था कि स्वर्गीय महाराजा रामसिह द्वारा स्थापित "मोद मंदिर" की

मामले में अपना निर्णय देती थी और यह निर्णय सबको मान्य होता था। सारी शंकाओं पर विचार कर इस पंडित सभा ने यह निर्णय किया कि यदि अन्नदाताजी अपने इष्टदेव, श्रीगोपालजी महाराज के साथ यह यात्रा करें और उनके प्रसाद के अतिरिक्त अन्य कोई भोजन न करें तो इस यात्रा से धर्म में किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती। विदेश यात्रा का औचित्य सिद्ध करने और इसे धर्मानुकूल बताने के लिए तब पण्डित काशीशेष वेंकटाचल शास्त्री ने "अब्धिनौयान मीमांसा" नामक एक कृति की रचना भी की थी।

मोद मंदिर की इस व्यवस्था ने महाराजा के धर्म-संकट को बहुत कुछ दूर कर दिया और यह तय रहा कि महाराजा की निजी सेवा के ठाकुर, श्रीगोपाल जी का विग्रह सात समन्दर पार उनके साथ ही रहेगा। भगवान की सेवा- पूजा का जो क्रम जयपुर में चलता है, वही विलायत में भी चलता रहेगा और महाराजा अपने प्रवास-काल में भगवान का प्रसाद ही ग्रहण करेंगे। किन्तु, इस समाधान ने एक नयी अड़चन पैदा कर दी– जिन जहाजों में गो- हत्या होती है और मांस- मदिरा का खुला उपयोग चलता है, उनमें श्री ठाकुरजी को कैसे ले जाया जाएगा?

इस समस्या का समाधान पाने में भी देर न लगी। यात्रा के प्रबंधकों ने पता लगाया कि प्रसिद्ध अंतर्राष्ट्रीय यात्रा एजेंसी, टामस कुक एण्ड सन्स ने एक जहाज एकदम नया बनवाया है। तत्काल कुछ कर्मचारियों को बम्बई भेजा गया और इसे पूरे के पूरे जहाज, एस.एस. ओलम्पिया, को महाराजा के नाम से "रिजर्व" करा लिया गया। साथ ही इसमें महाराजा की आवश्यकता और सुविधाओं के अनुसार कुछ अदला- बदली भी की गई। जहाज मे कुल मिलाकर छः तो रसोईघर ही बनवाए गए। इनमें पहला श्री ठाकुरजी का रसोवड़ा था तो दूसरा स्वयं महाराजा का। तीसरा तामीजी सरदारों के लिए था तो चौथा वेद- वाचस्पति पण्डित मधुसूदन ओझा के लिए। पांचवां और छठा क्रमशः अन्य पण्डितों व ब्राह्मणों तथा मुलाजिमों (साधारण कर्मचारियों) और शागिर्दपेशा (चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों) के लिये थे।

गंगाजल और मिट्टी

जहाज में बने हुए सामान्य गुसलखानों के अतिरिक्त चार नए गुसलखानों का प्रावधान किया गया और पीने का पानी भरने के लिए एक विशाल हौंज तैयार कराया गया। महाराजा स्वयं गंगाजल का उपयोग करते थे और उनके लिए पूरे छः माह की आवश्यकता के लिए पर्याप्त गंगाजल जिन विशाल रजत- पात्रों में भर कर ले जाया गया था, वे अब भी जयपुर के राजप्रासाद में सरबता अथवा दीवाने- खास की शोभा बढ़ा रहे है। और तो और, शौच कर्म से निवृत्त होने के अनन्तर हाथ धोने के लिए भी भारत भूमि की बालुका को जहाज में भर लिया गया था।

जहाज का किराया कुल डेढ़ लाख रुपया तय पाया गया और इसके मालिक, टामस कुक एण्ड सन्स, से यह सनद लिखवाई गई कि जब तक जहाज महाराजा की यात्रा में रहेगा, उसमें ऐसी कोई वस्तुएं काम में न लाई जाएंगी जो हिन्दू धर्म में निषिद्ध हों। जहाज में आटा, चावल, घी, मसाले आदि खाद्य पदार्थ पर्याप्त मात्रा में संचित कर दिए गए थे, साथ ही यह प्रबंध भी सुनिश्चित किया गया था कि ऐसी आवश्यक वस्तुएं प्रति सप्ताह जयपुर से लंदन पहुंचती रहें।

यह सब निश्चित हो जाने पर विलायत- यात्रा की तैयारियां जोर- शोर से चलने लगीं और पूरे पांच माह इनमें लग गए। महाराजा के मुलाजिमों का एक दल बराबर बम्बई में यह देखता रहा कि जलपोत ओलम्पिया में सारी व्यवस्था करार के अनुसार हो रही है और उसमें आवश्यक वस्तुओं का भण्डार भी सुरक्षित हो गया है। किन्तु, यह भण्डार तभी स्थापित किया गया जब जहाज को धोकर शुद्ध कर लिया गया। इसके लिए पच्चीस ब्राह्मणों की एक टोली जयपुर से बम्बई भेजी गई थी।

इंग्लैंड यात्रा के इस शोर- शराबे और लम्बी चौड़ी तैयारियों ने रियासत की आम जनता को भी इसकी

चर्चाओं में लिप्त कर दिया। जयपुर की एक प्रसिद्ध तानबाजी, जिसे महिलाएं भी गाती थी, इस प्रकार थी-

अंगरेजो ने दिया तार
विल्लात पधार्‌या रै।
राजा- महाराजा पधार्‌या रै।।

—अंग्रेजो ने तार दिया तो विलायत पधारे, राजा- महाराजा पधारे।

जयपुर की गली-गली मे तब महाराजा की विलायत-यात्रा के चर्चे थे। जो भी तैयारियां चल रही थी, अपने आप में बेहद लम्बी-चौड़ी और निहायत रईसाना थी। फिर जब गली-कूचों मे, हाट-बाजारो में या मकान-दूकान पर कहीं यह यात्रा-पुराण छिड जाता तो पूरा होने का नाम न लेता। राज-भक्त प्रजाजन इसे और भी बढ़ा-चढ़ा कर कहते-सुनते। यदि कोई चेला-खवास, खबरनवीस या छडी-बरदार जिसका ड्योढ़ी या दरबार से सरोकार होता, इस चर्चा में कोई नई सुर्खी छोड़ जाता तो बातचीत के और पख लग जाते। वैसे बुजुर्ग लोगों को जहां इस बात का संतोष था कि महाराजा उस अनजाने-अनदेखे देश मे भी सनातन धर्म की पूरी पाबन्दी के लिये कितने आतुर हैं, वहां जवान और पढ़ने-लिखने वाले लोगों को उस शान-शौकत और रईस-मिजाजी से चकाचौंध होती थी जो महाराजा ने अपने विदेश प्रवास मे प्रदर्शित करने की पूरी तैयारियां की थी।

जहाज एस.एस. ओलम्पिया का किराया डेढ़ लाख रुपया तय पाया गया था, लेकिन सफर के दौरान कई "गैर-मामूली जरूरियात" भी उठ खड़ी हो सकती थीं। इसके लिये यात्रा के प्रबन्धक टामस कुक एण्ड सस के पास ही पन्द्रह लाख रुपये की राशि नकद जमा रखी गई थी। इसके अलावा महाराजा के साथ तीस लाख रुपये का जेवर था जो अधिकांश मे जडाऊ था। इसकी कीमत का अन्दाज इस बात से लगाया जा सकता है कि 45 हजार पौंड में इसका बीमा कराया गया था।

"जैकम साहब"

स्वय महाराजा सहित उनके दल के सदस्यो की सख्या पूरी सवा सौ थी जिन्हे सवाई जयपुर से विलायत तक जाना और वापस आना था। इनमें 103 तो कर्मचारी और शागिर्दपेशा ही थे जिन्हें आजकल की परिभाषा मे क्लर्क, "क्लास फोर" और "आर्डरली" कहा जा सकता है। शेष 22 मे ताजीमी सरदार या प्रथम श्रेणी के जागीरदार और आला अफसरान अथवा उच्चाधिकारी थे। जयपुर स्थित पोलीटिकल एजेन्ट या रेजीडेंट की ओर से जा रहा था कर्नल स्विन्टन जैकब, जिसे जयपुर वाले "जैकम साहब" कहते थे। इस साहब का भी जयपुरियो के साथ ऐसा तादात्म्य बैठ था कि रियासत के चीफ इंजीनियर के नाते वह किसी बंध, सडक या इमारत की तामीर देखने जाता तो कारीगरों और दूसरे मजदूरों से शुद्ध जयपुरी मे ही बोलता-बतराता। जयपुर शहर को पीने का पानी देने वाला रामगढ़ का मजबूत बन्ध और रामनिवास बाग मे एलबर्ट हाल या म्यूजियम की नायाब इमारत इस अंग्रेज इंजीनियर की कार्य-कुशलता का प्रमाण है।

स्वयं महाराजा साहब के जयपुर से प्रस्थान करने का मुहूर्त 9 मई, 1902 का था, किन्तु दल के अन्य लोग 5 मई से ही बम्बई जाने लगे थे। महाराजा और उनके अमले का सामान लेकर पहली स्पेशल रेलगाड़ी इसी दिन जयपुर से बम्बई रवाना हुई। इसमें कुल आठ डिब्बे थे जिनमे लादे गये सामान का वजन कोई दो हजार मन था। दूसरी स्पेशल ने 8 मई की रात जयपुर छोड़ा। इस गाड़ी में खास-खास ताजीमी सरदार और बड़ी संख्या मे शागिर्दपेशा लोग थे।

9 मई को जयपुर स्टेट कौंसिल से एक "खास रोबकार" अथवा "गजट एक्स्ट्राऑर्डिनेरी" जारी हुआ जिसमें श्रीजी-महाराजा-के इंगलैण्ड जाने की बाकायदा घोषणा की गई थी। इस दिन महाराजा सवेरे में ही

उच्च अधिकारियों से महत्वपूर्ण मंत्रणा में व्यस्त रहा और दोपहर बाद धार्मिक रीति-रिवाजों को पूरा क
में लग गया। प्रस्थान से पूर्व, रात को लगभग आठ बजे, विधिवत पूजन किया और नाहरगढ़ के कि
पच्चीस तोपों के धमाकों के बीच महाराजा की सवारी सिरहड्योढी दरवाजे से महलों के बाहर निक

मेले का-सा समां

विलायत-प्रस्थान की इस सवारी को देखने के लिये सारे शहर में मेले का-सा समां था। तत्काल
विवरण के अनुसार सिरेहड्योढी बाजार और जौहरी बाजार की पटरियों तथा दुकानों और मकानों की छ
पर "मर्द, औरत, बूढ़े, जवान सभी ठट्ठ के ठट्ठ खड़े नजर आते थे।" महाराजा की सवारी सांगानेरी दरवा
से चौड़ी सड़क और फिर अजमेर सड़क पर आई। यह दोनों पुराने नाम अब मिर्जा इस्माइल रोड में लय
गये हैं। यहां होकर सवारी खासा कोठी (आज के राजस्थान स्टेट होटल) के पश्चिमी पार्श्व में स्थित "विमा
भवन" पहुंची जहां "छोटी लीक" या मीटर गेज पर चलने वाले महाराजा के निजी सैलून 'श्री माधवें
विमान,' 'इन्द्र विमान' आदि रहते थे। "बड़ी लीक" के सैलून सवाईमाधोपुर के विमान भवन को सजाते थे
किन्तु उनकी कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि महाराजा ने अजमेर और अहमदाबाद होकर जाना तय किय
था। महाराजा की स्पेशल रात को पौने बारह बजे जयपुर से रवाना हुई और 10 मई को दिन में मारवाड़
जंक्शन पहुंची। यहां जोधपुर रियासत की ओर से महाराजा का स्वागत-सत्कार करने के लिए
मुसाहिब-आला, अथवा चीफ मिनिस्टर और प्रमुख सरदार व ओहदेदार विशेष रूप से उपस्थित थे। उन्होंने
प्लेटफार्म पर ही जयपुर-दरबार को अपनी "नजरें" पेश की।

गाड़ी से उतरते ही महाराजा के लिए एक "ताम-झाम" अथवा खुली पालकी हाजिर थी जिसमें
विराजमान कर उसे पास ही के एक बंगले में ले जाया गया जो उसकी "सरबराह" या आवभगत के लिये
बनवाया और सजाया गया था। मारवाड़ की गर्मी में इस बंगले में "खस की टट्टियों और पंखों वगैरह का ऐसा
माकूल इंतजाम था कि गर्मी नाम को भी नहीं मालूम होती थी।" ठाकुर श्री गोपालजी तो महाराजा के लश्कर
में सदैव आगे चलते थे। उनका चलता-फिरता मन्दिर भी रेलगाड़ी से इस बंगले में आया और यहीं
संध्या-आरती की शोभा हुई। इसके बाद महाराजा स्टेशन लौट गया क्योंकि गाड़ी का समय हो रहा था।

महाराजा की स्पेशल रात भर के सफर के बाद अहमदाबाद पहुंची और 11 मई को दिन का क्याम वहां
के प्रसिद्ध नगरसेठ जयसिंह भाई धारा की आलीशान कोठी में रहा। एक रात और रेल का सफर करने के बाद
12 मई को महाराजा बम्बई के कोलाबा स्टेशन पर पहुच गया।

बम्बई जैसे शहर में भी महाराजा का स्वागत राजसी शान-शौकत के साथ हुआ—जैसा प्रायः विदेशों से
आने वाले मोअज्जिज मेहमानों का हुआ करता है। स्पेशल गाडी प्लेटफार्म पर पहुंची ही थी कि सलामी की
तोपें दागी गई। बम्बई के अनेक सेठ-साहूकारों ने स्टेशन पर ही डालियां पेशकर महाराजा की अगुवानी की।
जयपुर के ब्रिटिश रेजीडेन्ट और सरदार-जागीरदार पहले ही बम्बई पहुंच चुके थे और उन्होंने इस स्वागत
सत्कार को शानदार बनाने में कोई कसर न छोड़ी थी।

स्वागत की सारी औपचारिकताओं से निवट कर महाराजा ने सैलून में ही पोशाक बदली और रेजीडेट,
काब साहब के साथ ओपैलो बन्दर के लिए रवाना हुआ जहां से उसकी इंग्लैंड यात्रा का दूसरा चरण
सागर-मार्ग से पूरा होना था।

अभिनन्दन कराने और मान-पत्र स्वीकार करने का मर्ज हमारे आजकल के माननीय मंत्रियों में बहुत
बढ़ा-चढ़ा बताया जाता है, किन्तु इस सदी के आरम्भ में भी यह बीमारी चल पड़ी थी। महाराजा माधोसिंह
का इंगलिस्तान जाना तब कोई तीर मारने से कम न था। हिन्दी के पुराने और प्रतिष्ठित समाचार-पत्र, "श्री
वेंकटेश्वर समाचार", ने महाराजा को मान-पत्र भेंट कर इस अवसर की गुरुता जताई। तत्कालीन बम्बई के

प्रसिद्ध श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस के संचालक ने महाराजा का अभिनन्दन करते हुए जो मान-पत्र पढ़ा उसमें केवल एक प्रजा-पालक और लोकरंजक नरेश के नाते महाराजा की प्रशस्ति की गई, अपितु उसे सनातन धर्म का सच्चा संरक्षक और प्रतिपालक भी बताया गया जो राजभक्ति और सम्राट् के प्रति अपनी वफादारी निभाने के साथ-साथ धर्म पर भी अटल रहने के लिये दृढ़-संकल्प होकर उस दूर-देश को प्रस्थान कर रहा था।

इस अभिनन्दन समारोह में महाराजा ने कोलाबा में ओपैलो बन्दर जाते समय भाग लिया था। इसके तत्काल बाद वह बन्दरगाह पहुंचा जहां जहाज का डाक्टर महाराजा के दल के एक-एक सदस्य की स्वास्थ्य-परीक्षा कर यात्रा के लिये "पास" दे रहा था। जहाज ओलम्पिया महाराजा का सब सामान-असबाब लादे तैयार खड़ा था, लेकिन रवानगी में अभी थोड़ा समय बाकी था। महाराजा ने यह समय अपने पण्डितों के परामर्श के अनुसार सागर का विधिवत् पूजन करने में बिताया।

सागर की पूजा

सागर-तट पर बिछाये गये राजसी आसन पर महाराजा पालथी मारकर इस धार्मिक क्रिया में संलग्न हुए। ब्राह्मणों ने वेद मंत्रों से वातावरण को झंकृत कर दिया। वरुणदेव की स्तुतियां गाई गईं। पूजन का विधि-विधान ठीक उसी प्रकार रखा गया था जिस प्रकार रामायण में रामचन्द्र की समुद्र-पूजा का वर्णन आता है। त्रेता युग में लंका जाते समय सेतुबंध पर श्रीराम ने जैसे सागर की अर्चना की थी, वैसे ही उनके कछवाहा वंशज, महाराजा माधोसिंह ने इस कलि-काल में सागर की पूजा की। समुद्र-पूजा के इस कार्यक्रम ने बम्बई वालों को बड़ी संख्या में आकर्षित किया। हजारों लोगों ने सभी उपलब्ध नौकाएं किराये पर ली और पूजन को देखने के लिये चारों ओर जमा हो गये। जब महाराजा ने शुद्ध सोने और चांदी के कलश, सच्चे मोतियों की मालायें और रेशमी पारचे के कीमती वस्त्र समुद्र को अर्पित किये तो उस कुबेर-नगरी के सेठ साहूकार दर्शक भी देखते ही रह गये। महाराजा ने अपने हाथों जब समुद्र अथवा वरुण देव की आरती उतारी तो एक अविस्मरणीय दृश्य उपस्थित हो गया। बम्बई में वैसा दृश्य इसके बाद शायद कभी देखने को नहीं मिला। पूजा के बाद ब्राह्मणों ने महाराजा का अभिषेक कर स्वस्ति-वाचन किया और यात्रा निर्विघ्न सम्पन्न होने के आशीर्वचन कहे।

समुद्र-पूजन के अनन्तर जलपोत, ओलम्पिया, की भी पूजा की गई जिसे जयपुर से गये हुए पच्चीस ब्राह्मणों की टोली ने पहले ही धो-पोंछकर शुद्ध कर दिया था। इसके तत्काल बाद ही जहाज ने लंगर उठा दिया और महाराजा को सदल-बल सात समन्दर पार इंगलैण्ड की ओर ले चला।

ओलम्पिया जहाज जब मन्थर गति से बम्बई का किनारा छोड़कर समुद्र में लहराने लगा तो महाराजा शांतचित्त कभी भारत-भूमि के तट को निहारते तो कभी आगे फैले हुए अपार सागर पर दृष्टिपात करते। महाराजा को गर्व था तो यह कि मुगल सम्राटों की आज्ञा पर जैसे उसके पूर्वज अटक से लेकर सुदूर दक्षिण और गुजरात से बंगाल और असम तक शाही फरमान बजाने में कोई उहापोह नहीं करते थे, वैसे ही वह भी ताज के प्रति अपनी निष्ठा बताने के लिये भारत से दूर, सात समन्दर पार जा रहा है। इस बात का आत्मतोष था कि अपने धर्म और रीति-रिवाजों का कड़ा पालन करने की उसकी पूरी तैयारी है, साथ ही यह बल भी कि उसके इष्टदेव, ठाकुर श्रीगोपालजी जब साथ है तब किसी भी अनिष्ट की आशंका निर्मूल है!

सागर की लहरों की अठखेलियों और कलाबाजियों से आरम्भ में तो सबका मनोरंजन हो रहा था, किन्तु गगन का अन्धकार होने से कुछ पहले ही समुद्र की यह लहरें उत्ताल तरंगों में बदलने लगी। नव-निर्मित और सुदृढ़ जलपोत, ओलम्पिया, डगमगाकर कभी कई फुट ऊंचा उठ जाता तो कभी एक बारगी ही कई-कई फुट

सामने सभी जो बेचारे जयपुरी यात्रियों के लिए सर्वथा अनजाना था।

जमीन भी अब अन्तर्धान हो चुकी थी और चारों ओर अथाह सागर फैला था। सामुद्रिक पक्षी-सीग
अतिरिक्त कोई परिन्दा भी नजर नहीं आता था। समुद्र तो समुद्र था, जयपुर वालों को किसी बड़ी न
दर्शन भी प्राय सुलभ न थे। इसलिए जिस नए अनुभव में होकर वे गुजर रहे थे, वह उनका कलेजा बैठ
लिये काफी था। साथ वालों की इस घबराहट से महाराजा भी अनभिज्ञ नहीं था। उन्हें आश्वस्त करने
स्वयं आश्वस्त होने के लिये उसने अपने कुछ विश्वस्त सेवकों को जहाज के कप्तान के पास भेज ही तो दि

जहाज के कप्तान ने बताया कि तूफान आया हुआ है, किन्तु इससे जहाज को किसी भी प्रकार का नुक
होने का कोई अन्देशा नहीं है। इस इत्मीनान से सबको तसल्ली हुई पर किसी को नींद न आई क्योंकि तू
देर रात तक बना रहा था।

सामुद्रिक रोग

सभी का जी मिचलाने लगा, चक्कर आने लगे और कुछ लोगों को कै तक हो गई। डाक्टर ने बताया
यह कुछ नहीं, "सी-सिक्नेस" है जो समुद्र यात्रा में प्रायः हो जाती है, विशेषतः उन लोगों को जो इ
अभ्यस्त नहीं होते। जयपुर से आने वाले ऐसी यात्रा से नितान्त अनभ्यस्त थे और सभी इस सामुद्रिक रोग
पीड़ित थे। किन्तु, स्वयं महाराजा इसका अपवाद सिद्ध हुआ। उसका न जी मिचलाया और न कोई चक्
आया।

वास्तव में महाराजा अपने "केबिन" में लेटे हुए था। डाक्टर ने बताया और तजुर्बे से भी यही मालूम हु
कि सामुद्रिक रोग का असर उन लोगों पर नहीं होता या कम होता है जो किसी बड़ी लहर के आने के समय ले
हुए होते हैं।

दरियाई सफर की यह कैफियत जयपुर वालों की भी आदत बनने लगी। बम्बई छोड़े अब पूरे छह दिन ह
चले थे। जहाज के कप्तान ने बताया कि अदन का बन्दरगाह करीब है और जहाज अगले दिन वहां पहुं
जायेगा। यह सूचना पाकर सभी की मायूसी खुशी में बदलने लगी और लोग आने वाली सुबह का बेसब्री से
इंतजार करने लगे। वैसे मौसम भी अब ठीक था, पिछले दो दिनों में जो तेज हवा सामने से चल रही थी, वह भी
बन्द हो गई थी। दूर क्षितिज पर अरब के सूखे पहाड़ और कहीं-कहीं बालू रेत के टीले भी नजर आने लगे थे।
महाराजा के दल के एक सदस्य, मेरे मोहल्ले के एक वयोवृद्ध खवास जी बाबाजी का कहना था कि दूर से यह
पहाड़ अजमेर को घेरने वाले पहाड़ों की तरह मालूम होते थे और रेत के टीले शेखावाटी की याद दिलाते थे।
यह खवासजी बाबाजी जो कोई चालीस साल पहले 76 वर्ष की आयु में इस दुनिया से उठ गया, अक्सर लोगों
की हजामत बनाते समय अपनी विलायत यात्रा के संस्मरण सुनाता। इस "इंगलैण्ड-रिटर्नड" हज्जाम से सिर
मुंडवाने या दाढ़ी बनवाने वालों को यह और इजाफा होता।

जयपुर छोड़ने के दस दिन और बम्बई से रवाना होने के पूरे एक सप्ताह बाद ओलम्पिया जहाज 19 मई,
1902 को सवेरे ही अदन के बन्दरगाह में दाखिल हो गया। अपने पांवों के नीचे फिर जमीन पाकर सभी
यात्रियों को बड़ी खुशी हुई और सबने श्री गोपालजी महाराज का जय-जयकार किया।

अदन का दृश्य, पोर्ट सईद की सैर

खवासजी बाबाजी था तो शागिर्दपेशा, लेकिन मर्दानी ड्योढ़ी या महाराजा के महल खास में रहते- रहते
उसकी दृष्टि सूक्ष्म और सूझबूझ पैनी हो गई थी। "इंगलैंड रिटर्नड" होकर उसके अनुभव और दुनियादारी को
जैसे चार चांद लग गये थे। घुटनों तक की धोती और प्रायः मैले से मलमल के कुर्ते में भी उसका व्यक्तित्व
भरी- भरी सफेद दाढ़ी और सिर पर ऊंची पगड़ी के कारण बड़ा रौबीला लगता। दाढ़ी और पगड़ी, यह दोनों
चीजें उसे साफ माधोसिंह युग का प्रतिनिधि जताने के लिए काफी थीं। चाल- ढाल में युवकों जैसी स्फूर्ति और

बातचीत के अन्दाज मे एक अजीब विश्वास जैसा जानकार लोगों को हुआ करता है, खवासजी बाबाजी मे था। फिर स्वामी- भक्ति और नमकहलाली तो उसमें कूट- कूट कर भरी थी। "बडे श्रीजी" अर्थात दिवंगत महाराजा की विलायत यात्रा के जो भी सस्मरण वह सुनाता वे उसके चरित्र के इस गुण और व्यक्तित्व की विशेषता से अछूते न रहते। 'बड़े श्रीजी' का नाम जुबान से निकलना होता कि उसकी बूढ़ी आंखो मे एक चमक आप से आप आ जाती-- चमक जिसमें खुशी से ज्यादा अदब होता, आभार और कृतज्ञता के वह भाव होते जो जिन्दगी भर उस राजा की बन्दगी करने और उसके बदले में खाने- पहिनने और रहने की चिन्ता से एकदम मुक्त रहकर उस बूढ़े हज्जाम ने अपने दिल मे पाले थे। इग्लैंड यात्रा उसके इस सुख- सन्तोष से भरी सेवा- चाकरी की जिन्दगी का ही एक दिलचस्प और साहसिक अध्याय था।

महाराजा के अदन पहुंचने का आंखो देखा हाल बताते हुए खवासजी बाबाजी ने एक दिन कहा था "बड़ा श्रीजी की बातां काई कहणी! जहाज का कप्तान नै भी गरब- गरूर हो गयो छो क वो जाणै किसयाक आला रईस नै ले र विलायत जा रह्यो छै!!" (बडे श्रीजी की बातो के क्या कहने है! जहाज का कप्तान भी यह गर्व करता था कि वह न जाने कैसे आला रईस को लेकर विलायत जा रहा है!!)

खवासजी बाबाजी के अनुसार वहां, अदन मे, महाराजा के इग्लैड जाने का पहले से ही काफी गुल- शोर था। रग- बिरगे झण्डो से सजे, जिनमे जयपुर का पचरग सबसे ऊपर फहराता था, जहाज "ओलम्पिया" को देख देख कर सब चकित थे। जहाज के ठाठ और उसके यात्रियों की "जर्क- बर्क पोशाको" को देखकर अदनवासी समझ रहे थे कि किसी देश का बादशाह इस जहाज में सफर कर रहा है। महाराजा की हैसियत के बारे मे ऐसी धारणा अकारण भी नही थी क्योंकि जहाज जैसे ही बन्दरगाह मे दाखिल हुआ था, अदन के ब्रिटिश किले से इक्कीस तोपों की सलामी दागी गई थी, ठीक उसी तरह जैसे जयपुर में नाहरगढ़ के किले से दागी जाती थी।

अदन में एकत्रित भीड़ को जब महाराजा के दर्शन हुए तो स्त्री, पुरुष और बच्चे बार- बार उनकी ओर सकेत कर आपस में बताने लगे: "दी किंग, देयर इज दि किंग।" -- राजा, वह हैं राजा!

"कुण जाण्यो?"

किनारे पर जब "ओलम्पिया" को देखने के लिए भीड आतुर थी और तोपो के धड़ाके शुरू हो गए थे तो महाराजा स्वयं अदन के दृश्यावलोकन के लिए कप्तान के कमरे मे गया। खवासजी बाबाजी के शब्दों मे वह राजा राजा ही था, उस भाग्यवान के साथ जिस ऐशआराम और ठाठ- बाठ के साथ उस जैसे अदना लोग भी सात समन्दर पार हो आए, वह क्या अब राजा- महाराजाओ को भी नसीब हो सकते हैं? इस प्रश्नवाचक के साथ खवासजी की एक निरुत्तर करने वाली उक्ति और होती. "अब देखल्यो, मानसिहजी म्हाराज रोजीना आवै छै और जावै छै, पण कुण जाण्यो!" --देख लीजिए, (वर्तमान) महाराजा मानसिंह जब- तब (विलायत) चले जाते है और लौट आते है, किसी को मालूम तक नहीं होता।

खवासजी बाबाजी अरब के काले- कलूटे, नंग- धड़ंग छोटे- छोटे बालकों की गोताखोरी के कमाल भी याद करता था। गरीबी के शिकार यह बालक यात्रियों से पैसे मांगते थे। यात्री उनके लिए समुद्र में पैसो की बौछार करते और सारे बालक उनके पीछे पानी में गोते लगाते, डूबते पैसों को दांतो से पकड़कर बाहर निकाल लाते। फिर वह अपने मुंह खोल- खोलकर एकत्रित पैसो को यात्रियो को दिखाते। उनका मुंह ही गल्ले- पैसे रखने की पेटिका- का काम देता। इन लड़को की तैराकी भी गजब थी, बहुत गहरे पानी मे भी कुछ ऐसे करिश्मे से खडे दिखाई देते जैसे जमीन पर ही खडे हो।

अदन मे ही महाराजा ने यह दर्दनाक समाचार सुना कि बम्बई और अदन के बीच जिस तूफान का उनके

जहाज ने सामना किया था, वह एक जर्मन जहाज के डूब जाने का कारण बना था। कुछ यात्रियों को बचाया जा सका, फिर भी कम से कम 32 व्यक्ति डूब गये। इस दुर्घटना पर स्वयं महाराजा ने दिल से अफसोस जाहिर किया। चर्चा थी तो यही कि "ओलम्पिया" की रवानगी बम्बई से दो दिन बाद हुई जब समुद्र में तूफान का जोर काफी घट गया था। यदि उनका जहाज भी पहले बम्बई छोड़ देता और इस तूफान में फंस जाता तब? सुरक्षित अदन आ पहुंचने के संयोग को सबने ईश्वरीय वरदान और थी गोपालजी महाराज की कृपा माना और भगवान के दर्शन कर भेंट चढ़ाई।

अदन में "ओलम्पिया" ने भी कोयला लिया और आगे की यात्रा के लिए रवाना हुआ तो वहां के किले से फिर सलामी की 21 तोपों के धड़ाके हुए। कई दिनों बाद जमीन पाकर फिर समुद्र पर लहराने के इस अवसर पर सभी को एक बार पुनः घर याद आया। अब तो हिन्दुस्तान के पड़ौसी मुल्क भी पीछे छूटे जा रहे थे। जल्दी ही जहाज लाल समुद्र में दाखिल हो गया। तभी एक मल्लाह ने यह कहकर सबको चौकस कर दिया कि पैरिम का टापू करीब है। यह वह जगह थी जहां पहले अक्सर जहाज टकराकर चूर- चूर हो जाते थे और डूब जाते थे। किन्तु इस तंग मुकाम पर अब वैसा कोई खतरा नही रहा था क्योंकि अब इन चट्टानों पर एक "लाइट हाउस" या प्रकाश- स्तंभ खड़ा था।

मौसम बदला:

पैरिम पीछे छूटा कि मौसम बदला, यह बात महाराजा और उनके सहयात्रियों को पहले से ही बता दी गई थी। सचमुच अब वह गर्म हवा न थी जो अरब सागर और लाल समुद्र के रास्ते भर चलती रही थी। शीतल समीर ने सबके मनों को हुलसा दिया। स्वयं महाराजा और उनके खास- खास सलाहकार शाम की हवाखोरी के लिए "ओलम्पिया" के डेक पर चले गये और उडान भर- भर कर पानी में डुबकियां लगाने वाली मछलियों की अठखेलियां देखते रहे। ये मछलियां चालीस या पचास गज की दूरी तक छलांग लगाती थी और पानी में डूब जाती थीं। जयपुर वालों के लिए यह अपने आप में एक तमाशा था।

इस तरह तीन दिन बीत गये और चांदनी रात में जहाज ने स्वेज नहर को पार किया। अगले दिन दोपहर से पहले ही जहाज पोर्ट सईद के बन्दरगाह पर पहुंच चुका था। चूंकि यहां जहाज को फिर कोयला लेना था और ठहराव का समय वैसे भी अधिक था, महाराजा ने सब मुलाजिमान और शागिर्दपेशा को किनारे पर जाकर सैर- सपाटे की इजाजत दे दी।

सब लोगों ने इस इजाजत का पूरा फायदा उठाया। बन्दरगाह तरह- तरह की नौकाओ और अनगिनत सौदागरी जहाजों से भरा पड़ा था तो जमीन पर सैकड़ों घोड़ा- गाड़ियों के बीच ट्राम भी चल रही थी। नर- नारियों का खासा हुजूम था, बेहद रौनक थी। अपनी चित्र- विचित्र पोशाकों में जयपुर वाले सबको आकर्षित करते थे और उस अजनबी देश के रंग- ढंग जयपुर वालो के लिए कौतूहल की सामग्री थे।

शाम को जहाज ने पोर्ट सईद छोड़ दिया और इसके साथ ही भूमध्य सागर की लहरों ने फिर जहाज को डगमगाना शुरू किया। अनेक लोग फिर सामुद्रिक रोग से पीड़ित हो गये और इस लम्बे सफर के दौरान तरह- तरह के शक- शुबहे बेचैन करने लगे। किन्तु, रात का यह आलम रात के साथ ही समाप्त हो गया। सवेरे समुद्र शान्त था जिससे आम तौर से सभी का जी हल्का हो गया था। लेकिन इसी समुद्र में अभी दो दिन और चलना था, तब कहीं फिर जमीन के दर्शन होने वाले थे। यह जमीन थी सिसली के टापू की। इसी का इन्तजार था, लेकिन इतने दिन की यात्रा के बाद अब लोग दरियाई सफर के खतरों और आनन्द, दोनों से बहुत कुछ अभ्यस्त भी हो चले थे। करतार की कारीगरी या भगवान की माया को सराहते, दूर देशों के प्रति अपनी जिज्ञासा को मिटाते, डरते- डराते, लहरों पर लहराते और मजा लेते महाराजा का दल यूरोप के उस दक्षिणी सागर में अपनी मंजिल की ओर आगे बढ़ने लगा।

समुद्र की शांति से सभी के चित्त भी शांत थे और दोपहर के भोजन के बाद महाराजा स्वय अपने केबिन मे आराम करने लगा। उसकी आंख लगी ही होगी कि खडबड़- भड़बड की आवाजें रह- रह कर आने लगी और नींद आते- आते उचट गई। लोग यह खोजने के लिए इधर उधर दौड़ने लगे कि महाराजा की नींद मे खलल डालने वाली यह आवाज दरअसल कोई खतरा है या कोई और माजरा? सागर तो शांत था, लेकिन हवा बेशक तेज चल रही थी। जहाज के तख्ते, यानी डेक पर जाने से मालूम हुआ कि यह केवल एक पिंगपांग की टेबिल की आवाज थी जो तेज हवा के कारण इधर- उधर लुढक रही थी और अजीबोगरीब आवाजें पैदा कर रही थी।

जो हो, महाराजा की नींद उचट चुकी थी, इसलिए दूसरे सरदारो को भी जगा दिया गया और सब लोग जहाज के डेक पर ही चले गए जहां शाम का पूरा समय समुद्र की सैर करने मे काटा गया। दो दिन और भूमध्य सागर मे चलने के बाद 29 मई को सवेरे ही जहाज के दाहिनी ओर फिर जमीन दिखाई देने लगी। यही सिसली का द्वीप था।

खवासजी बाबाजी ने अपने हमजोलियों के साथ इस टापू का नजारा दूर से, दूरबीन की मदद से, देखा था। तब से उस युवा दर्शक की कोई चालीस साल बाद भी वह कल की- सी बात की तरह याद था। एक ओर बर्फ का पहाड़ नजर आता था, इटना, और दूसरी ओर दूर तक हरे- भरे खेत फैले थे। पहाड के नीचे समुद्र तट के बराबर बड़ी दूर तक एक सीधी लकीर चली गई थी जो नजदीक जाने पर पक्की सड़क के रूप मे प्रकट हुई। सड़क के ठीक सामने ही रेल की "लीके" या पटरियां थी जिन पर एक छोटी रेलगाड़ी भी "फक्- फक्" कर रही थी।

सब लोग इस दृश्य को देख-सराह रहे थे कि आसमान पर बादल छा गये और शांत सागर मे फिर से हलचल पैदा हो गयी। तूफान की लहरों पर जहाज भी डगमगाने लगा और कुछ ही मिनट पहले का सुहावना दृश्य भयावह मालूम होने लगा। महाराजा को बताया गया कि यह मैसीनिया की खाडी है और यहां इन दिनों अक्सर ऐसा मौसम हो जाता है। राम-राम कर जयपुर के यात्रियों ने इस खाडी को भी पार किया और मार्सेलीज बन्दरगाह की ओर बढने लगे। अब केवल एक दिन का सफर और था।

मार्सेलीज की "राहदारी"

महाराजा को मालूम कराया गया कि मार्सेलीज मे महसूली माल-सामान की तलाशी ली जाती है और यूरोप की यह "राहदारी" या चुंगी नाका जहाज "ओलम्पिया" को भी तलाशी लिये बिना नही जाने देगा। लिहाजा जहाज के सारे असबाब की एक याददाश्त-फेहरिस्त या विस्तृत सूची तैयार कराई गई, साथ ही एक तार लंदन भेजा गया, सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के पोलीटिकल ए.डी.सी. कर्जन वायली को। इस तार में उसे मार्सेलीज के चुंगी अधिकारी को यह हिदायत देने का अनुरोध किया गया था कि महाराजा जयपुर के महसूली सामान की जाच-पड़ताल में वक्त जाया न किया जाय।

यह सारी आवश्यकता इसलिये पडी कि महाराजा ने जहाज का सफर मार्सेलीज मे ही तमाम करने का फैसला किया था। इसके दो कारण थे। पहला यह कि जब दक्षिणी फ्रांस के इस बन्दरगाह से कैले तक रेल से पहुचा जा सकता है तो दरियाई सफर का खतरा उठाने में कोई तुक नहीं। दूसरे, मुल्क फ्रांस की भी सैर हो जायेगी। इसलिए "ओलम्पिया" को तो यह हिदायत दी गई कि वह सीधा इंग्लैण्ड के लिवरपूल बन्दरगाह पर पहुंचे और महाराजा मदल-बल मार्सेलीज की जमीन पर उतर गये।

मार्सेलीज में चुंगी अधिकारियो ने जहाज का "हस्बमामूल" मुआयना कर अपना कायदा पूरा किया। उन्हे लंदन से, और पेरिस से भी, आवश्यक निर्देश मिल चुके थे। यह अधिकारी जहाज के सब केबिनो मे घूम भर गये। खवासजी बाबाजी के अनुसार उनके श्रीजी की विलायतो तक ऐसी धाक थी कि महाराजा के सामान

डोवर मे सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के पोलीटिकल ए.डी.सी. सर कर्जन वायली, भारत सचिव के निजी सचिव और दूसरे अंग्रेज अधिकारियो ने महाराजा की अगवानी की। डोवर के लार्ड मेयर ने महाराजा को एक मानपत्र भी भेंट किया। महाराजा ने इसके लिए धन्यवाद देते हुए इस बात पर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की कि "बादशाह सलामत की ताजपोशी जैसे मुबारक मौके पर पहले-पहल इंग्लैण्ड आना हुआ है।"

डोवर में इस अवसर पर पुलिस का विशेष प्रबन्ध किया गया था। महाराजा के सामान के कोई छह सौ अदद थे जिन्हें हिफाजत के साथ उतारने और रेल में लादने मे दो घण्टे से भी अधिक समय लगा। खवासजी बाबाजी ने फख्र के साथ बताया था कि काली साटन का चुगा धारण किए महाराजा माधोसिंह और रंगीन अंगरखियों तथा लहरिया के पेचो की जयपुरी पोशाक में उनके हमराहियो ने कैसे एक ही झलक मे इंगलिस्तान वालो पर अपनी जादूभरी छाप डाली थी। कैसे वहां पर एकत्रित मैमें और साहब लोग विस्मय के साथ सबको देख रहे थे और महाराजा की शान-शौकत के साथ उसके मान-सम्मान पर तरह-तरह की कल्पनायें और टिप्पणियां भी कर रहे थे।

डोवर से लन्दन फिर स्पेशल रेलगाडी का सफर था जो डोवर की भीड़ के "चियर्स" के बीच महाराजा ने आरम्भ किया। आगे लन्दन तक वे "गार्डन ऑफ इंग्लैण्ड" की प्राकृतिक सुषमा से सम्मोहित रहे और कर्जन वायली व दूसरे अंग्रेज अधिकारियो से सूर्य अस्त न होने वाले साम्राज्य की मुख्य भूमि की भूरि-भूरि प्रशंसा करते रहे। कूटनीतिक वार्तालाप में ऐसी स्तुति परम आवश्यक है, इस बात से अंग्रेजी न जानने वाला महाराजा माधोसिंह भी अनभिज्ञ नही था।

डोवर से लदन का रेल-मार्ग इग्लैण्ड के जिस क्षेत्र मे होकर जाता है, उसे वहा की प्राकृतिक शोभा के कारण "गार्डन ऑफ इग्लैण्ड" कहते हैं। जयपुर के श्रीजी और उनके साथ वाले सरदारों तथा अधिकारियो ने इस "कुदरत की जादूगरी" को बहुत सराहा। इंग्लैण्ड का यह प्रथम दर्शन था और लन्दन से महाराजा की अगुवानी के लिये आये हुए अंग्रेज अधिकारियों के साथ पहला-पहला ही वार्तालाप। निश्चय ही महाराजा ने इस थोड़े-से वार्तालाप में ही अंग्रेज अधिकारियो को अपने व्यक्तित्व और ताज के प्रति अपनी वफादारी का कायल बना दिया। वैसे यह सफर कोई लम्बा न था और शाम को छह बजते-बजते महाराजा की स्पेशल रेलगाड़ी लन्दन के विक्टोरिया स्टेशन में दाखिल हो गई।

यह दिन था 3 जून, 1902 – जयपुर से प्रस्थान करने के बाद ठीक पच्चीसवा दिन।

मेरे मोहल्ले के खवासजी बाबाजी ने ससार के उस महानगर मे अपने महाराजा के स्वागत और सम्मान का जो आंखों देखा हाल मेरे कानो मे डाला था, उसकी मोटी-मोटी बाते कोई भी श्रोता कभी भुला नही सकता। वहां, लंदन मे, पहले से ही इस बात का शोर हो रहा था कि कैसे भारत का एक महाराजा अपनी परम्परागत शान-शौकत के साथ सदल-बल बादशाह की ताजपेशी मे शामिल होने के लिये इगलैण्ड आ रहा है। जितनी जिज्ञासा लोगों को महाराजा के बारे मे थी, उतना ही कौतूहल उस सामान के लिये भी था जो एक पूरा जहाज रोक कर इंगलिस्तान तक पहुचा था। स्टेशन के प्लेटफार्म पर मर्द-औरतो और बच्चो का बड़ा हुजूम था जिन्होंने स्पेशल रेलगाड़ी के वहां पहुंचते ही अपने हैट और रूमाल उछाल-उछाल कर, महाराजा माधोसिंह का अभिनन्दन किया।

लाल कालीन पर स्वागत

प्लेटफार्म पर एक विशाल लाल कालीन बिछाया गया था जिस पर अपने पाव रखते हुए महाराजा स्पेशल रेलगाडी मे गोरांग महाप्रभुओं की धरती पर उतरे। भारत सचिव के निजी सचिव तथा कोई आधी दर्जन अंग्रेज उच्चाधिकारी महाराजा की अगुवानी के लिये खड़े थे और उन सबने फूलों के गुलदस्ते भेंट किये। महाराजा जब इन सब लोगो से हाथ मिलाकर यह सम्मान स्वीकार कर रहे थे तो भीड़ के हैट और रूमाल

"....सच तो यह है कि महाराजा जयपुर की गद्दी पर बैठने के समय से अब तक उदारता के अनेक कार्य कर चुके हैं। करीब दो साल पहले जब हमने सुना था कि महाराजा ने ट्रांसवाल युद्ध के पीड़ितों के लिये एक लाख रुपये की धनराशि प्रदान की है तो यहां आम तौर पर खयाल किया गया था कि यह उनकी उदारता का ही प्रतीक है।"

हिन्दू विरोधी भावना

इन प्रशस्तियों से महाराजा माधोसिंह को जहां खुशी हुई, वहा मूर्ति-पूजा की निन्दा करने वाली टिप्पणियों से खिन्नता भी कुछ कम न हुई। महाराजा सोच ही रहा था कि इनका कैसे निराकरण किया जाय कि एक भारतीय सन्यासी, बाबा प्रेमानन्द भारती ने सब काम हल्का कर दिया। यह बाबा उन दिनों लन्दन में ही था और मूर्ति-पूजा के विरोध में उसे कट्टर ईसाइयों की हिन्दू-विरोधी भावना नजर आई। सारी आलोचना के जवाब में उसने एक तीखी प्रत्यालोचना "वेस्ट मिनिस्टर" में प्रकाशित कराई। इसके कुछ महत्त्वपूर्ण अंश इस प्रकार थे:

"जयपुर महाराजा का अपने साथ यहां श्री गोपालजी की मूर्ति लेकर आना एक विशेष हल-चल का कारण बन गया है। जो लोग मूर्ति-पूजा के विरोधी है, उन्हें यह अनुचित और आश्चर्य-जनक लगना ही चाहिए, किन्तु मुझे विश्वास है कि सम्पूर्ण सभ्य तथा शिक्षित समुदाय को ऐसे लेख बड़े अप्रिय लगे होंगे क्योंकि इंग्लैण्ड एक स्वतन्त्र देश है जहा शारीरिक और मानसिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ धार्मिक स्वतन्त्रता भी है। वह दिन जा चुके जब ब्रिटेन के रहने वाले धर्म-विरोधी होते थे और गैर-ईसाइयो से नफरत करते थे।

".....यदि ईसाई भगवान कृष्ण की वास्तविकता को नही मानते तो हिन्दू लोग भी ईसा मसीह की कथा को झूंठा मानते है। यह कैसे सम्भव है कि यूरोप, मिश्र और रोम की धार्मिक मान्यताएं तो सही हों और हिन्दुओं की धर्म-कथायें जो हजारों वर्ष पूर्व की धार्मिक पुस्तकों में सुरक्षित है, सरासर झूंठी हो?

"यही भगवान कृष्ण जयपुर महाराजा के इष्टदेव हैं। श्रीगोपालजी के नाम से वे उनकी मूर्ति को अपने साथ लाये हैं। किसी भी प्रकार का सांसारिक कर्म करने के पहले महाराजा इनका पूजन करते हैं, यहां तक कि बिना पूजन वे भोजन तक नही करते। प्रातः और सायं वे सुगन्धित पुष्प, तुलसी-पत्र और चन्दन भगवान के चरणों में अर्पित करते हैं। श्रीकृष्ण की पूजा की यह पद्धति सारे भारत में प्रचलित है। मूर्ति तो केवल एक प्रतीक है जिसकी पूजा मुख्यतः मानसिक है।.....

"......इस पूजा की तुलना में ब्रिटेन के लोग जरा अपनी पूजा-पद्धति पर भी विचार करें और देखें कि उनके धार्मिक रीति-रिवाज भी इससे खाली नहीं हैं। फिर मैं नहीं जानता कि क्यों इंग्लैण्डवासी इससे चकित होते हैं?

"मैंने यह लेख केवल इसीलिए प्रकाशित कराया है कि इंग्लैण्ड के शिक्षित जन अनभिज्ञ लोगों को बताने के लिये हिन्दू धर्म-ग्रन्थों का अवलोकन करें और द्रोही ईसाइयों तथा उनके मिशनरियों के दिलो-दिमाग से भ्रान्त धारणाओं को हटायें। उन्हें यह याद रखना चाहिए कि पानी में बैतिस्मा की रस्म अदा करना, लकड़ी के क्रास के सामने घुटने टेक कर आराधना करना और बादशाह की ताजपोशी के समय जैतून का रोगन लगाना भी ठीक वैसा ही है जैसा जयपुर महाराजा का प्रतिदिन श्री गोपालजी की पूजन में फूल व गंगाजल काम में लाना।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस भारतीय सन्यासी के इस तार्किक, स्पष्ट और निर्भीक विवेचन से वह सारी प्रतिकूल प्रतिक्रिया मन्द होकर शान्त हो गई जो कुछ अखबारों ने महाराजा के धार्मिक आचार-व्यवहार

बराबर हिल रहे थे और "नीरस" लिये जा रहे थे। महाराजा का गोटीना ... और ... बाने व "जर्क-बर्क पोशाकें" सबकी नजरों के निशाने थे। इतने बड़े अमले और नौकरों की तादाद में सामान के ... लोग आंखें फाड़-फाड़ कर देख रहे थे और उनसे महाराजा की अहमियत और रुतबे को आंक रहे थे।

स्वागत की औपचारिकताएं खत्म हो जाने के बाद महाराजा "शाही बादशाह के वेटिंग रूम" में पधार गये जो रव्यामजी बाबाजी के अनुसार शाही मोअज्जिम मेहमानों के लिये ही खोला जाता था और फ़ौजी के लिये खोला गया था। महाराजा की सवारी के लिये भी बादशाह की ओर से एक "खास गाड़ी" भेजी गई थी जो स्टेशन के बाहर उनके इंतजार में खड़ी थी।

महाराजा ने थोड़ी देर वेटिंग रूम में आराम फरमाया और फिर शहर लन्दन में उनकी सवारी आरम्भ हुई जो लन्दन वालों ने एक मुद्दत तक याद रखी। सवारी में महाराजा की गाड़ी तो पीछे थी और आगे-आगे गोपालजी महाराज की मूर्ति को विराजमान कर एक अन्य गाड़ी चल रही थी। "लन्दन में जैसे भगवान की रथयात्रा ही निकल रही थी" ——रव्यामजी बाबाजी ने कहा था, "यूं समझो, जैसे अपने यहां दशहरे की सवारी निकलती है जिसमें आगे-आगे सीतारामजी का रथ और पीछे महाराजा की बग्घी चलती है और वे रावण मारने के लिये दशहरा कोठी तक जाते हैं।" लन्दन की सड़कों पर होकर जब यह भारतीय जुलूस गुजरा तो लोगों के "ठट्ठ के ठट्ठ" देखते रह गये इस नजारे को और इंग्लैण्ड के अखबारों के लिये यह उस दिन का एक विशेष समाचार बन गया।

"देवता गाड़ी में"

विक्टोरिया स्टेशन से कैम्पडन हिल तक, जहां महाराजा के ठहरने की व्यवस्था एक तिमंजिले आलीशान बंगले में की गई थी, यह जुलूस गया और समाचार-पत्रों ने इसके लिये विस्तार से लिखा। समाचार के साथ कुछ सुर्खियां भी थी जिनके शीर्षक थे: "महाराजा और उनके देवता", "देवता सहित एक राजा लन्दन में, "देवता गाड़ी में" आदि आदि। कुछ अखबारों ने जहां महाराजा की इस धर्मपरायणता के पक्ष में लिखा, वहां कुछ ने इस रूढ़िवादिता और मूर्ति-पूजा का विरोध करते हुए विरोधी टिप्पणियां भी दी। इस प्रकार गोपालजी की मूर्ति को लेकर तत्कालीन ब्रिटिश प्रेस में एक मिश्रित प्रतिक्रिया देखी गई। इसके निष्कर्ष में यह अवश्य कहा जा सकता है कि वर्तमान सदी के आरम्भ में भी इंगलैण्ड उस धार्मिक कट्टरता से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाया था जो वहां के पिछले इतिहास में बहुत बार सामने आती है।

जो हो, महाराजा के अनुकूल जो टिप्पणियां थी, उनमें से कुछ उनकी यात्रा के वृत्तान्त में उपलब्ध हैं और यहां उद्धृत की जा रही हैं।

"मार्निंग पोस्ट" ने लिखा:

"मुगल सम्राटों के समय में भी जयपुर के राजा-महाराजा बड़े सम्मानित गिने जाते थे। 1857 के गदर में जयपुर महाराजा ने ब्रिटिश सरकार को बहुत सहायता दी थी। आज समस्त हिन्दू यह देखकर बड़े प्रसन्न हैं, कि इस यात्रा से महाराजा ने सारे भारत में इस बात का उदाहरण रख दिया है कि हिन्दुस्तान के राजा-महाराजा चाहें तो किस प्रकार अपने धर्म का पालन कर सकते हैं।"

"क्रानीकल" की सुर्खी इस प्रकार थी:

"इस देश में हजारों हिन्दू आ चुके हैं, किन्तु ऐसा अब तक कोई न आया जो अपने धर्म का इतना पालन करने वाला हो। अच्छे हिन्दू का धर्म है कि वह अपनी धार्मिक मर्यादा का पालन करे। ....जयपुर राजपूताना और मध्यभारत की बड़ी और विख्यात रियासतों में से एक है और यह महाराजा हैं भी बड़े बुद्धिमान और प्रजा-हितैषी।"

इसी प्रकार "ग्रेट थाट्स" ने महाराजा की उदारता की प्रशंसा करते हुए यह टिप्पणी दी:

वागत करने के लिये खुद महाराजा दरवाजे पर खड़ा रहा, साथ लेकर भीतर आया, उस सुर्ख लाल कपड़े पर लेकर जो दरवाजे से महाराजा के कमरे तक इस "बड़े लाट" के लिये बिछाया गया था। लार्ड हैमिल्टन पौन टे महाराजा के साथ रहा और कई तरह की गुफ्तगू हुई। जब रवाना होने लगा तो महाराजा माधोसिंह ने यपुर के अपने परम्परागत ढंग से उसका इत्र और फूलों से सत्कार किया और दरवाजे तक छोड़ने गये।

खवासजी बावाजी ने इस मुलाकात की बात कहते हुए बताया था कि हिन्दुस्तान के इस "बड़े लाट" के ौर-तरीके और महाराजा के व्यवहार को देखकर उन लोगों में अच्छी कानाफूसी रही थी और अंग्रेज सरकार ा दबदबा सभी जान रहे थे।

जो हो, महाराजा माधोसिंह अपने आप में सभी की जिज्ञासा और कुतूहल का विषय तो था ही, उसकी दारता और शान-शौकत के चर्चे भी खूब थे। इंग्लैण्ड के अनेक गण्यमान्य लोग महाराजा से मिलने प्रायः मोरेलॉज आने लगे और महाराजा अपने प्राइम-मिनीस्टर बाबू संसारचंद्र सेन को दुभाषिया बनाकर सभी से लने और बातचीत करने में आनन्द लेने लगा। इन सभी मेहमानों का स्वागत-सत्कार देशी ढंग से इत्र-फूल ही किया जाता। "मोरेलॉज" में जो भी आता, महकता हुआ वापस जाता।

लैडी दरबार"

महराजा के लन्दन पहुंचने के दस दिन बाद वह तारीख आई—13 जून— जब बादशाह ने लन्दन आये हुए जा-रईसो से मिलने के लिये "लैडी दरबार" का आयोजन किया था। इस दरबार की मुलकात तो रस्मी या पचारिक थी, इसलिये महाराजा का जोर उस अनौपचारिक मुलाकात पर ज्यादा था जो उसी दिन बादशाह ामत उनसे करने वाला था। अलग से मुलाकात का समय दिया जाना महाराजा ने शाही कृपा का ही सुबूत ना और बाबू संसारचन्द्र के साथ बकिंघम महल रवाना हुआ। लन्दन में उस दिन मूसलाधार पानी बरस ा था।

बकिंघम महल में लार्ड हैमिल्टन ने खूंटेदार पाग धारण किये हुए महाराजा माधोसिंह से हाथ मिलाया र कर्जन वायली उस कमरे में ले गया जहां सप्तसागरा ब्रिटेन के सम्राट और साम्राज्ञी इन्तजार कर रहे थे। मुलाकात सचमुच बड़ी गैर-रस्मी हुई। सम्राट ने महाराजा से उसकी लम्बी यात्रा के बारे में कई बातें पूछी सका जवाब महाराजा की ओर से बाबू संसारचन्द्र अंग्रेजी में उल्था करके देता रहा। बहुत खुलकर आपसी ाचीत हुई।

महाराजा से मिलकर सम्राट एडवर्ड सप्तम भी कुछ पुरानी यादो के में खो गया। प्रिंस आफ वेल्स की यत से अपनी भारत यात्रा के दौरान वह जयपुर आ चुका था, लेकिन वह 25 वर्ष पुरानी बात थी। फिर भी ाचीत का जैसा सिलसिला चला, उसमें एक-एक बात याद हो आई। सम्राट ने बताया कि खाने के बाद जब ाराजा रामसिंह को उसने हुक्का पीते देखा था तो किस प्रकार उसकी जिज्ञासा "गुड़र-गुड़र" के प्रति जागी इस पर महाराजा ने उसे भी हुक्का चखने को कहा था और अच्छा लगने पर महाराजा ने वह हुक्का उसी भेंट कर दिया था।

ट बनाम टेबिल

सम्राट को खातीपुरा की कोठी और उसके आगे जंगल में चौकड़ी भरते हरिणों के झुंड भी याद आये जहां के लिये शिकार का इन्तजाम किया गया था। झालाणा के जंगल में शेर के शिकार की चर्चा भी आई, खास से दोपहर के उस सादे खाने की, जो महाराजा रामसिंह ने जंगल में एक खाट बिछाकर और उस पर सफेद र का दस्तरखान लगा कर ही परोसवा दिया था और शिकार की मशक्कत के बाद "प्रिंस" ने उस देहाती इनिंग टेबिल" पर ही उसे मजे से खा लिया था।

सम्राट को बताया गया कि रामनिवास बाग में जिस "एलवर्ट हाल" की नींव उसने लगाई थी, वह कभी
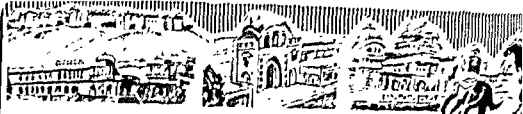
उसके सलाहकारों ने बताया कि उनका लन्दन-प्रवास बड़े धूम-धड़ाके के साथ बाअसर शुरू हुआ है, श में उनके चर्चे हैं, अखबारों में उनकी बड़ाई के हाल छपे हैं और जिन्होंने थोड़ी बहुत खिलाफत करनी चा बाबा प्रेमानन्द भारती के लेख ने उनकी जबान पर भी ताला लगा दिया है।

जिस तिमंजिले बंगले में महाराजा का कयाम हुआ, वह जयपुर का एक छोटा-सा प्रतिरूप बन गय "मोरेलॉज" नामक इस इमारत में सारी हलचल का केन्द्र महाराजा माधोसिंह था।

सम्राट से अनौपचारिक भेंट

"मोरेलॉज" एक शानदार तिमंजिली इमारत थी जो एक खूबसूरत बाग के बीचोंबीच बनी थी। इस चारों ओर कांच का काम था, लेकिन जयपुर वालों को यह आमेर के शीशमहल के मुकाबले बहुत फी लगा। यहां के कांच बड़े-बड़े और सफाचट शीशे थे, जिनमें शक्ल तो खूब देखो, लेकिन वह नजारा जो आमे में दीयासलाई की एक तिल्ली जलाते ही देखा जाता है, यहां किसी भाव नहीं देखा जा सकता था। खवासज बाबाजी का कहना था कि लन्दन का वह कांच का काम "शोभा निवास" के सामने पानी भरता था। ह जयपुर वालों को कांच और चीनी के वह गमले बहुत भाये जो "मोरेलॉज" के बगीचे के "फर्न-हाउस" म सावन-भादों में सजे हुए थे और पुराने अंग्रेजी चलन के मुताबिक बरामदे में भी करीने से लगे हुए थे

इस भवन की तीसरी मंजिल के कमरों में महाराजा के शागिर्दपेशा लोग ठहरे जिनमें खवासजी बाबाज भी थे। दूसरी मंजिल पर स्वयं महाराजा और खास-खास सरदार लोगों का कयाम था और नीचे, पहली मंजिल में कर्नल स्विन्टन जैकब का, जो जयपुर-स्थित ब्रिटिश रेजीडेंट के प्रतिनिधि-रूप में गया था, डेरा था, उसके पास ही महाराजा के प्राईवेट सेक्रेटरी का दफ्तर रखा गया था। इमारत के नीचे तहखाने भी थे और उनमें खान-पान का वह सब सामान भरा गया था जो जयपुर से ही महाराजा के साथ गया था।

लेकिन यह इमारत जयपुर के श्रीजी के बड़े अमले के लिये छोटी पड़ी। लिहाजा बगीचे में कई "काठ के मकान" (टिम्बर हाउस) खड़े किये गये और इस पर भी पूरा न पड़ा तो पास ही एक और मकान किराये पर लिया गया जिसमें महाराजा का नामराशि सीकर का रावराजा माधोसिंह, चौमूं ठाकुर और दूसरे सरदार तथा कुछ अधिकारी ठहरे। लकड़ी के मकान भी अजीब थे। जो लोग उनमें ठहरे, उन्हें तेज हवा चलने पर हर बार भूकम्प का-सा अहसास होता और इस बात का खास ध्यान रखना पड़ता कि कहीं आग न लग जाये।

अंग्रेज बहादुर और श्रीजी

महाराजा के आवागमन के लिये चार शाही गाड़ियां खास महल से "मोरेलॉज" में तैनात कर दी गई थीं। यह ऐसी गाड़ियां थी जिनका इस्तेमाल शाही परिवार के लोगों और मोअज्जिज मेहमानों तक ही सीमित रहा करता था। यह सब श्रीजी के बड़प्पन की निशानी थी, लेकिन लन्दन पहुंचने के दूसरे दिन ही सारे अमले पर यह भलीभांति प्रकट हो गया कि अंग्रेज बहादुर के सामने श्रीजी की हैसियत आखिर कितनी है!

लन्दन में महाराजा का पहला कार्यक्रम था भारत सचिव या सेक्रटरी फार इंडिया से भेंट। इसके लिये "इंडिया आफिस" जाना पड़ा। इस इमारत की सीढ़ियों से भारत सचिव के कमरे तक लाल कपड़ा बिछा दिया गया था, लेकिन महाराजा जब वहां पहुंचा तो उसका स्वागत करने के लिये दरवाजे पर भारत सचिव न था। उसका प्राइवेट सेक्रेटरी और पोलीटिक ए.डी.सी. कर्जन वायली ही महाराजा की अगुवानी के लिये काफी समझा गया। महाराजा ने उनसे हाथ मिलाया और उस कमरे तक गया जिसमें भारत सचिव, लार्ड हैमिल्टन मुलाकात के लिये बैठा था। महाराजा कोई आधे घण्टे तक लार्ड हैमिल्टन के साथ रहा। उसने अपने कमरे से ही महाराजा को विदा दे दी और आने की तरह जाने के समय भी उन्हीं दोनों अंग्रेज अफसरों ने महाराजा को दरवाजे तक छोड़ा।

इसके बाद वापसी मुलाकात की रस्म अदायगी के लिये लार्ड हैमिल्टन भी "

लार्ड कर्जन के लिये खुद महाराजा दरवाजे पर खड़ा रहा, साथ लेकर भीतर आया, उस सुर्ख लाल कपडे पर होकर जो दरवाजे से महाराजा के कमरे तक इस "बडे लाट" के लिये बिछाया गया था। लार्ड हैमिल्टन पौन घंटे महाराजा के साथ रहा और कई तरह की गुफ्तगू हुई। जब रवाना होने लगा तो महाराजा माधोसिंह ने जयपुर के अपने परम्परागत ढग से उसका इत्र और फूलो से सत्कार किया और दरवाजे तक छोड़ने गये।

खवासजी बावाजी ने इस मुलाकात की बात कहते हुए बताया था कि हिन्दुस्तान के इस "बड़े लाट" के तौर-तरीके और महाराजा के व्यवहार को देखकर उन लोगों में अच्छी कानाफूसी रही थी और अंग्रेज सरकार का दबदबा सभी जान रहे थे।

जो हो, महाराजा माधोसिंह अपने आप में सभी की जिज्ञासा और कुतूहल का विषय तो था ही, उसकी उदारता और शान-शौकत के चर्चे भी खूब थे। इंग्लैण्ड के अनेक गण्यमान्य लोग महाराजा से मिलने प्रायः "मोरेलॉज आने लगे और महाराजा अपने प्राइम-मिनीस्टर बाबू संसारचंद्र सेन को दुभाषिया बनाकर सभी से मिलने और बातचीत करने में आनन्द लेने लगा। इन सभी मेहमानों का स्वागत-सत्कार देशी ढंग से इत्र-फूल से ही किया जाता। "मोरेलॉज" में जो भी आता, महकता हुआ वापस जाता।

"लैडी दरबार"

महराजा के लन्दन पहुंचने के दस दिन बाद वह तारीख आई– 13 जून– जब बादशाह ने लन्दन आये हुए राजा-रईसो से मिलने के लिये "लैडी दरबार" का आयोजन किया था। इस दरबार की मुलकात तो रस्मी या औपचारिक थी, इसलिये महाराजा का जोर उस अनौपचारिक मुलाकात पर ज्यादा था जो उसी दिन बादशाह सलामत उनसे करने वाला था। अलग से मुलाकात का समय दिया जाना महाराजा ने शाही कृपा का ही सुबूत माना और बाबू संसारचन्द्र के साथ बकिंघम महल रवाना हुआ। लन्दन में उस दिन मूसलाधार पानी बरस रहा था।

बकिंघम महल में लार्ड हैमिल्टन ने खूटेदार पाग धारण किये हुए महाराजा माधोसिंह से हाथ मिलाया और कर्जन वायली उस कमरे में ले गया जहा सप्तसागरा ब्रिटेन के सम्राट और साम्राज्ञी इन्तजार कर रहे थे। यह मुलाकात सचमुच बड़ी गैर-रस्मी हुई। सम्राट ने महाराजा से उसकी लम्बी यात्रा के बारे में कई बातें पूछी जिसका जवाब महाराजा की ओर से बाबू संसारचन्द्र अंग्रेजी में उल्था करके देता रहा। बहुत खुलकर आपसी बातचीत हुई।

महाराजा से मिलकर सम्राट एडवर्ड सप्तम भी कुछ पुरानी यादो के में खो गया। प्रिंस आफ वेल्स की हैसियत से अपनी भारत यात्रा के दौरान वह जयपुर आ चुका था, लेकिन वह 25 वर्ष पुरानी बात थी। फिर भी बातचीत का जैसा सिलसिला चला, उसमें एक-एक बात याद हो आई। सम्राट ने बताया कि खाने के बाद जब महाराजा रामसिंह को उसने हुक्का पीते देखा था तो किस प्रकार उसकी जिज्ञासा "गुडर-गुडर" के प्रति जागी थी। इस पर महाराजा ने उसे भी हुक्का चखने को कहा था और अच्छा लगने पर महाराजा ने वह हुक्का उसी को भेंट कर दिया था।

खाट बनाम टेबिल

सम्राट को खातीपुरा की कोठी और उसके आगे जंगल में चौकडी भरते हरिणो के झुंड भी याद आये जहां उसके लिये शिकार का इन्तजाम किया गया था। झालाणा के जंगल में शेर के शिकार की चर्चा भी आई, साथ ही जंगल मे दोपहर के उस सादे खाने की, जो महाराजा रामसिंह ने जंगल में एक खाट बिछाकर और उस पर मसनद रख कर दस्तरखान लगा कर ही परोसवा दिया था और शिकार की मशक्कत के बाद "प्रिंस" ने उस देहाती "डाइनिंग टेबिल" पर ही उसे मजे से खा लिया था।

सम्राट को बताया गया कि रामनिवास बाग में जिस "एलबर्ट हाल" की नींव उसने लगाई थी, वह कभी

या बनकर तैयार है और जैसी इमारत बनी है, वह सारे जयपुर शहर की नाक है। सम्राट ने इस इमारत
लगाये गये म्यूजियम के बारे में भी जानकारी ली और आमेर के महलों, हाथी की सवारी और वहां
प्राकृतिक शोभा को भी याद किया।

"एक तौर सी" इस मुलाकात से गद्‌गद्‌ महाराजा माधोसिंह फिर महल के "थ्रोन रूम" या सिंहासन
में आ गये जहां "लैडी दरबार" में भाग लेने के लिये कोई चार हजार लोग जमा थे। भारत के दूस
राजा-महाराजाओं के साथ महाराजा माधोसिंह एक गैलरी में बैठा। सम्राट ने यहां कोई दो घण्टे सब
मुलाकात करने में लगाये और खासखास मेहमानों से हाथ मिलाये जिनमें जयपुर का यह महाराजा भी था

इसके तीन दिन बाद लन्दन से 40 मील दूर ऐल्डरशाट नामक स्थान पर सम्राट की ताजपोशी के मौके प
एक विशेष फौजी परेड का कार्यक्रम था। महाराजा भी इसे देखने गया और ब्रिटिश सेना की चुस्ती और फु
से बड़ा प्रभावित हुआ। यहीं महाराजा की मुलाकात प्रिंस आफ वेल्स (बाद में सम्राट जार्ज पंचम) और उसकी
पत्नी से हुई।

'लंच' में असहयोग

मेहमानों के लिये यहां दोपहर के खाने का भी इन्तजाम किया गया था और प्रायः सभी राजा-महाराजा
और दूसरे अमीर-उमरा जो हिन्दुस्तान से गये थे, इस खाने में अंग्रेजों के साथ थे। "लेकिन श्रीजी के तो अहद
था कि विलायत में वे श्रीगोपालजी के प्रसाद के अलावा और कहीं कुछ नहीं खायेंगे-पियेंगे," खवासजी
बावाजी ने बताया था, "इसलिए उन्होंने इस लंच में कोई हिस्सा नहीं लिया और लन्दन लौटकर ठाकुरजी का
ही महाप्रसाद पाया।"

जहां तक खाने-पीने का सवाल है, महाराजा ने अपने इसी बतीरे को बरकरार रखा। रायल एशियाटिक
सोसायटी ने भारत के रईसों के सम्मान में एक और आयोजन किया। करीब 300 मेहमान थे।
हीरे-जवाहरातों की चमक-दमक वाले भारतीय राजा-महाराजाओं के उस समाज में महाराजा माधोसिंह भी
बहुमूल्य मोतियों से "लड़ा-लूम" अपनी हल्की आसमानी रंग की पाग धारण कर गया जरूर, लेकिन
खाया-पिया कुछ भी नहीं।

एक दिन महाराजा और उसके दल के लोग बिजली के खेल देखने गये --"इलेक्ट्रिक वर्क्स
एक्सपेरिमेन्ट्स।" जयपुर ने तब तक गैस की रोशनी का ही उजाला देखा था, इसलिए यह तमाशा सभी के
लिये काफी दिलचस्प था। ताजपोशी की खुशी में लन्दन के बाजार बिजली से खूब सजाये गये थे और
चकाचौंध के साइन बोर्डों की कलाबाजियां जयपुर वाले रुक-रुक कर देखते चलते थे।

सम्राट की ताजपोशी के दिन के इन्तजार में महाराजा और उसके दल के लोगों का काम अब लन्दन की
सैर करना और वहां के दर्शनीय स्थानों को देखना ही रह गया था।

लंदन के दर्शनीय स्थानों के भ्रमण के सिलसिले में महाराजा माधोसिंह ब्रिटिश लोकसभा या "हाउस
आफ कामन्स" भी देखने गया। भारत के भूतपूर्व वायसराय, प्रसिद्ध लार्ड कर्जन का प्राइवेट सेक्रेटरी, लारेंस
गाइड था। *लोकसभा में चलने वाला बहस-मुबाहसा तो स्वभावतः उसके लिए अटपटा और विचित्र था,*
लेकिन संसद भवन की सुन्दरता, भव्यता और उस पर बने हुए विशाल घंटाघर की जयपुर के महाराजा ने
बेहद तारीफ की।

महाराजा और उसके दल के लोग घुड़दौड़ देखने के लिए एस्काट भी गये और औपनिवेशिक सेनाओं के
निरीक्षण में सिख तथा अफ्रीकी सैनिक दस्तों की सलामी ली। फिजी के सैनिक दस्तों ने एक युद्ध-नृत्य प्रस्तुत
किया जिसकी बड़ी सराहना हुई और महाराजा ने अपनी खुशी का इजहार करने के लिए उन्हें पांच पौण्ड
इनाम देने की घोषणा की।

[illegible] के इस क्रम के साथ महाराजा जहां सम्राट एडवर्ड की ताजपोशी के दिन की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा था, वहां अचानक यह खबर मिली कि सम्राट बीमार है और उसे तन्दुरुस्त करने के लिए आपरेशन करना पड़ेगा। इस कारण 26 जून के लिए तय मुख्य समारोह भी स्थगित कर देने की घोषणा हो गई। बादशाह सलामत की बीमारी का निदान था "एपेन्डिसाइटीज" या आंत का बढ़ जाना।

महाराजा को जैसे ही यह मालूम हुआ, ताज के प्रति अपनी वफादारी और सहानुभूति जताने में कोई कोर-कसर न छोड़ी। शुरू में सम्राट की तबीयत के बारे में कोई अधिकृत घोषणायें नहीं की जाती थी, ना ही कोई बुलेटिन निकलते थे। इसलिए महाराजा ने अपने निजी मेडिकल आफीसर को यह ताकीद कर दी थी कि वह रोजाना बकिंघम महल जाये और सम्राट की बीमारी पर महाराजा की ओर से चिंता प्रकट करते हुए उसकी तबीयत का हाल दरयाफ्त कर आये। चूंकि समारोह स्थगित हो गया था, दूसरे राजा-महाराजा स्काटलैण्ड, वेल्स या अन्य इलाकों में घूमने चले गये थे। किंतु, महाराजा माधोसिंह लंदन में ही रहा क्योंकि "जब तक बादशाह सलामत को पूरी तरह आराम न हो जाये और यह चिंता दूर न हो, सैर-तफरीह को मेरा जी बिल्कुल नहीं चाहता" था। वह स्वयं भी रोजाना बकिंघम महल जाने लगा जहां "विजिटर्स बुक" में अपने दस्तखत कर अपनी चिंता और फिक्र की सनद बना आना उसने जरूरी समझा था।

विदेश मंत्री का "एटहोम"

उधर शाही परिवार और समारोह के मुंतजिम लोगों को यह चिंता थी कि इस मुबारक मौके पर लंदन आये हुए राजा-महाराजाओं और दूसरे मेहमानों को सम्राट की बीमारी से कोई निराशा न हो। इसलिए मुख्य समारोह को छोड़कर अन्य सभी कार्यक्रम पूर्व-निश्चय के अनुसार बरकरार रखे गये। 30 जून को स्पिटहैड में ब्रिटिश सामुद्रिक पोतों का "रिव्यू" था और 1 जुलाई को औपनिवेशिक सेनाओं की समारोहिक परेड। पहले समारोह में तो महाराजा माधोसिंह भी शामिल हुआ, लेकिन दूसरे के "पास" जो इण्डिया आफिस से आये थे, उसने अपने सरदारों और अधिकारियों को देकर उन्हें भेजना ही काफी समझा। महाराजा स्वयं उस "एटहोम" में शरीक हुआ जो ब्रिटिश विदेश मंत्री, लार्ड लैंसडाउन ने भारतीय राजा-महाराजाओं के सम्मान में दिया था। कोई डेढ़ दर्जन भारतीय राजा-महाराजाओं के साथ नार्वे, स्वीडन और स्विटजरलैण्ड के शाहजादे भी इस आयोजन की शोभा बढ़ा रहे थे। महाराजा माधोसिंह देर तक इस मजलिस में मौजूद थे, लेकिन मेल-मिलाप के बाद जब लोग खाने-पीने की टेबिलों की तरफ मुखातिब हुए तो वह लार्ड लैंसडाउन से रुखसत होकर "मोरेलाज" लौट आया।

2 जुलाई को महाराजा की मुलाकात साम्राज्ञी से होना तय था और ब्रिटिश साम्राज्य की मलिका को उपहार में देने के लिए जो वस्तुएं उसने चुनी, वे जयपुर की दस्तकारी के नमूने थे। यह थी मय एक तश्तरी और प्याला, जो दोनों पीतल पर मीनाकारी की बेहतरीन चमक-दमक दिखाते थे। मलिका ने उन्हें स्वीकार करते हुए महाराजा को बताया कि वह अब रोजाना कॉफी पीने के लिए इन्हीं का इस्तेमाल करेंगी।

दूसरे दिन ही ताजपोशी के सिलसिले में सबसे अधिक तड़क-भड़क का आयोजन था, [illegible] लेवी दरबार। इंडिया आफिस में इसके लिये बहुत बड़े पैमाने पर तैयारियां की गई थीं। ब्रिटेन के हीरों और अन्य इतिहास-पुरुषों की मूर्तियों से सुसज्जित निर्माणस्थली इमारत का भवन खास तौर से इस तरह सजाया-संवारा गया था कि भारतीय रंग और शान-शौकत का पूरा परिचय मिले। चारों ओर फूलों की सजावट, जगह-जगह बर्फ के बनावटी पहाड़ जिनके बीच-बीच में वृक्ष खड़े थे और छोटे पौधों से बनी छत को इस तरह ढक दिया गया था कि सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और नक्षत्र भारतीय ज्योतिषशास्त्र के अनुसार अपने-अपने स्थान पर चमक रहे थे। यह सब बिजली का करिश्मा था जिसकी चकाचौंध से फर्श पर चलनेवालों की आंखें चौंधिया जाती थीं। मण्डप की चकाचौंध में यदि कोई कसर रह गई थी तो वह भारतीय राजा-रईसों की रंग-बिरंगी

हम नहीं कह सकते कि इस चुगली और महाराजा की ओर से दी जाने वाली सफाई मे कितनी सचाई है किंतु यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि महाराजा रामसिंह ने 1857 के सिपाही विद्रोह मे अंग्रेजो की हार्दिक सहायता की थी और कई अंग्रेज अफसरो को उन अशांति के दिनो में अपने महल में सुरक्षित रखा था। जयपुर के शासक ने तब भारत मे अंग्रेजों और उनकी सत्ता को बनाये रखने के लिये जो-कुछ किया था, उसे केवल 45 वर्ष बाद उसके उत्तराधिकारी की इंग्लैण्ड यात्रा के अवसर पर लदन की राजसत्ता और राज-परिवार ने अवश्य ही भुलाया नहीं होगा। महाराजा माधोसिंह के प्रति जैसी मान-मर्यादा तब वहां दिखाई गई, वह भी इसी बात की ताईद करती है।

विद्या व वैदिक ज्ञान-विज्ञान की ज्योति

सम्राट के स्वास्थ्य लाभ की कामना करते हुए महाराजा माधोसिंह जब इग्लैण्ड के बडे-बडे रईसो से मेल-मुलाकात बढ़ाने और दर्शनीय स्थानो को देखने में अपने लंदन-प्रवास के दिन पूरे कर रहा था, तभी राजाशाही की चमक-दमक के बीच विद्या और विज्ञान की वह ज्योति भी प्रखर हुई जो जयपुर की राजसभा के प्रधान, विद्या-वाचस्पति पण्डित मधुसूदन ओझा के रूप में उनके साथ थी। वेदों की वैज्ञानिक विवेचना और सनातन धर्म के शाश्वत स्वरूप के प्रतिपादन में विद्या वाचस्पतिजी की वक्तृता अनूठी थी और उनके मौलिक चिंतन एवं अनुसंधान के विषय में तत्कालीन इंग्लैण्ड के संस्कृत विद्वान भी थोडा-बहुत सुन चुके थे। ऐतिहासिक कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के संस्कृतज्ञ अंग्रेजों को जब यह सूचना मिली कि पण्डित मधुसूदन ओझा जयपुर महाराजा के साथ आया है तो उन्होंने पण्डितजी को निमंत्रण भेजा और महाराजा ने सहर्ष इसे स्वीकार कर उन्हें कैम्ब्रिज जाने की अनुमति दे दी।

पण्डितजी की यह यात्रा वास्तव मे बडी अहमियत की साबित हुई। संस्कृत को ससार की सबसे समृद्ध भाषाओं में गिनते हुए भी अंग्रेज विद्वान इसे एक मृतभाषा मानते थे। उन्होंने जब विद्यावाचस्पतिजी को धडल्ले से सस्कृत में बातचीत करते और व्याख्यान देते सुना तो दांतों तले अगुली दबा गए। सस्कृत की जीवनी-शक्ति और प्रभाव उनके सामने सशरीर खड़ा था। फिर विद्यावाचस्पतिजी ने वेदो के गूढ रहस्यों का जैसी मौलिकता और सरलता से उद्घाटन किया, उससे सभी मुग्ध हो गए। वैदिक धर्म और विज्ञान पर पण्डित मधुसूदन ओझा के प्रभावशाली भाषण ने विलायत में प्राच्य-विद्या-रसिकों पर एक ऐसी छाप डाली जो बहुत समय तक कायम रही। यह महत्त्वपूर्ण भाषण, बहुत वर्षों पहले, जयपुर के एक संस्कृत मासिक में प्रकाशित भी हुआ था।[2]

लंदन के इण्डिया आफिस का पुस्तकालयाध्यक्ष, टामस पहले से ही विद्यावाचस्पतिजी की धाक मान चुका था। वह स्वयं संस्कृत का अच्छा विद्वान था। विद्यावाचस्पतिजी के प्रथम दर्शन होने पर उसने उनसे यह व्यंग्यात्मक प्रश्न किया था:

> शृणोमि लक्ष्म्या मधुसूदनं युतं
> पश्यामि तुत्वामिह चैकमागतम्।
> मन्ये भवन्तं विबुधं विवेकिनं
> कुतस्तवनैपीन्न सहश्रियं भवान्।।

—मैंने तो सुन रखा था कि मधुसूदन लक्ष्मी-युक्त हैं, किंतु मैं देख रहा हूं कि यहां तो मधुसूदन अकेले ही आये हैं, लक्ष्मी को साथ नही लाये। मैं तो आपको बडा विद्वान और विवेकवान मानता हूं और यह समझ नहीं पा रहा हूं कि आप लक्ष्मी को अपने साथ लेकर क्यों नहीं आये?

इस व्यंग्य का उत्तर तत्काल दिया गया। पण्डित मधुसूदन ने इसके प्रत्युत्तर मे यह श्लोक कहा:

2. संस्कृत रत्नाकर मासिक

मधुसूदनस्य दृष्ट्वा सरस्वती
लालने विशेष रुचिम्।
रोषात् क्वचिदपसृप्ता लक्ष्मी-
मनुनेतुमत्र सोम्यात्।।

—सरस्वती के लालन मे मधुसूदन की विशेष रुचि देखकर लक्ष्मी क्रुद्ध होकर भाग गई और उसी को मनाने के लिए मधुसूदन यहां तक आया है।[3]

महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के अनुसार वेदधर्म विषयक पंडितजी की संस्कृत वक्तृता को सुनकर यूरोपियन अन्वेषक विद्वानों का कहना था कि 'बिल्कुल नई बाते हैं।' इस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप ओझाजी ने अपनी वक्तृता का शीर्षक रखा था—'अतिनूत्नम, नहि नहि अति प्रत्नं रहस्यम्'—अर्थात 'बहुत ही नया, नहीं नही, बहुत ही पुराना रहस्य'।[4] कहते हैं कि कोई जब उन्हें यह कहता कि आप नई बात कह रहे है तो वे बहुत अप्रसन्न हो जाते थे और कहते थे कि वेदादि को जानने-समझने की कुछ परिभाषाएं है जो कालवश विस्मृत हो गई हैं। उन परिभाषाओ को समझ लेने पर उपलभ्यमान वेद भाष्य से ही सब कुछ मिल सकता है, नये भाष्य की आवश्यकता नहीं है।

कैम्ब्रिज के प्रोफेसर सी.बेंडाल और उसकी विदुषी पत्नी भी इस भारतीय विद्वान के अनन्य प्रशंसक बन गए और उन्होने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। पण्डितजी को सारे विश्वविद्यालय का भ्रमण कराया गया।

आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्राच्य-विद्याविद् प्रोफेसर मेकडोनैल्ड से भी संभवतः विद्यावाचस्पतिजी का पत्राचार द्वारा पूर्व परिचय था। व्यक्तिशः जब वे उनसे मिले तो वे भी उनके व्यक्तित्व और पाण्डित्य से प्रभावित हुए बिना न रहे। दोनों विद्वानो में देर तक संस्कृत मे वार्तालाप होता रहा, वेदो पर चर्चा हुई। प्रोफेसर मेकडोनैल्ड और प्रोफेसर बेंडाल, दोनो ही विद्यावाचस्पतिजी के वर्चस्व से ऐसे प्रभावित हुए कि उन्होने ऐसे विद्वान के संरक्षक, महाराजा माधोसिंह को भी कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय मे आमंत्रित करने की इच्छा प्रकट की। विश्वविद्यालय की ओर से पण्डितजी के साथ ही महाराजा के नाम निमंत्रण भेजा गया।

समाचारपत्रों की टिप्पणियां

जयपुर से गये हुए भारतीय विद्या और ज्ञान-विज्ञान के इस राजदूत के व्यक्तित्व और विद्वता की चर्चा तत्कालीन समाचारपत्रों ने भी करना आवश्यक समझा। "दी सन" ने अपने 21 जुलाई, 1902 के अंक मे लिखा: "पंडितजी आक्सफोर्ड के प्रोफेसर मेकडोनैल्ड से मिले और प्रोफेसर मेकडोनैल्ड को उनसे परिचय पाकर बड़ी हार्दिक प्रसन्नता हुई। पिछले रविवार को पंडितजी को प्रोफेसर सी. बेंडाल और उनकी पत्नी ने कैम्ब्रिज आमंत्रित किया था और उनका वहां हार्दिक स्वागत किया गया था। कैम्ब्रिज के प्राच्यविद्या विशेषज्ञ को यह देखकर आश्चर्य था कि पण्डितजी धारा प्रवाह शुद्ध संस्कृत मे बातचीत कर रहे थे। ऐसा अब भारत में भी दुर्लभ है। प्रोफेसर बेंडाल अपने भारतीय मेहमान के अगाध ज्ञान से बड़े प्रभावित हुए।"

"दी वेस्ट मिनिस्टर गजट" ने अपने 26 जुलाई के अंक में एक "हिन्दू विद्वान लन्दन मे" शीर्षक के साथ यह टिप्पणी दी:

"ताजपोशी के लिए लन्दन आने वाले गणमान्य व्यक्तियों में एक हिन्दू विद्वान की उपस्थिति की ओर अभी तक किसी का ध्यान नहीं गया है। यह विद्वान भारत-विख्यात है जो वस्तुतः वैदिक ज्ञान और दर्शन का एक मानवीय भण्डार है। इसका नाम है पण्डित मधुसूदन ओझा। धाराप्रवाह संस्कृत में उसके वार्तालाप से

3. प मधुसूदन ओझा का संक्षिप्त परिचय, म म गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृष्ठ 14-15
4. ब्रह्म सिद्धान्त, प मधुसूदन ओझा, काशी, 1961, पृष्ठ 10

महाराजा की एक और महत्त्वपूर्ण मुलाकात औपनिवेशिक सचिव, जोसेफ चैम्बरलेन के साथ हुई। राजपूतों की वीरता और शौर्य पर चर्चा चल पड़ी। अगले दिन वापसी मुलाकात के लिए चैम्बरलेन भी "मोरेलॉज" आया। महाराजा ने आर्थर चैम्बरलेन को मंत्रिमंडल में लिये जाने पर उसके पिता को बधाई दी और इत्र व पुष्पमाला से सत्कार कर जोसेफ चैम्बरलेन को विदा किया। भारत का भूतपूर्व वायसराय, लार्ड नार्थब्रुक भी दो बार महाराजा से मिलने आया।

इस तरह अगस्त का पहला सप्ताह बीत चला। 9 अगस्त को सम्राट एडवर्ड की ताजपोशी की रस्म बाकायदा होने वाली थी और सब लोग बड़े चाव से इसका इन्तजार कर रहे थे।

ताजपोशी और सम्राट को उपहार

महाराजा और उनके दल को लन्दन में रहते कोई दो महिने हो चले थे। आखिरकार वह मुबारक दिन आ पहुंचा जिसके लिए इंगलिस्तान की राजधानी में भारतीय राजा- महाराजाओं के साथ कई एक यूरोपीय शासकों और शाहजादों का भी यह जमघट लगा था। 9 अगस्त को लन्दन के ऐतिहासिक वेस्टमिनिस्टर एबी में सम्राट एडवर्ड सप्तम की बाकायदा ताजपोशी हुई और इस जश्ने मुबारक में महाराजा माधोसिंह ने भी पूरी तैयारी और ठसक से भाग लिया।

महाराजा की यात्रा के मौखिक टीकाकार, खवासजी बाबाजी ने बताया था कि ताजपोशी की रस्म के लिए दोपहर बारह बजे का समय नियत था, लेकिन शाही सवारी को देखने के लिए उस दिन शहर में सवेरे से ही लोगों का भारी हुजूम था और पहले से ही लोग ऐसे मुकामों पर जा बैठे थे जहां से उन्हें बादशाह और मलिका अच्छी तरह दिखाई दे। लन्दन में उस दिन कुछ वैसा ही "आनन्द- उछाह" नजर आता था जैसा हमारे यहां होली- दीवाली को होता है। "लेकिन वाहरे, अंग्रेज जाति, क्या सलीका और तहजीब थी! बाजारों में आदमी समाता नहीं था, फिर भी क्या मजाल कि इतनी भब्भड़ में भी कहीं कोई गड़बड़ हो!!" — खवासजी बाबाजी ने अपनी याददाश्त ताजा करते हुए कहा था।

उस दिन महाराजा माधोसिंह मुंह अंधेरे ही उठ गया और समारोह में जाने की तैयारी में लग गया। पोशाकियों ने महाराजा को "स्टार आफ इण्डिया" का चुगा अथवा "गाउन" धारण कराया। इस पर जी.सी.एस.आई. के शाही खिताब का "स्टार" यानी तमगा लगाया गया। सिर पर जयपुर की लूंटदार पाग शोभा दे रही थी। यह पोशाक बेहद भारी- भरकम थी, लेकिन उस दिन तो इसे पहनना अहद जरूरी समझा गया। फिर महाराजा वेस्टमिनिस्टर एबी के लिए कोई चार घंटे पहले ही रवाना हो गया था और भीड़ से रास्ता जाम हो जाने के कारण समारोह के बाद तीन घण्टे पहले अपने निवास-स्थान को लौट भी न सका था। करीब-करीब आठ घण्टे इस पोशाक ने महाराजा को काफी थका दिया था। नतीजा यह हुआ कि अगले दो दिनों में महाराजा ने "मोरेलॉज" में ही आराम फरमाया, किसी कार्यक्रम में भाग नहीं लिया।

शाही सवारी

खवासजी बाबाजी को वेस्ट- मिनिस्टर में ताजपोशी की रस्म देखने का सौभाग्य नहीं मिला— मिल भी नहीं सकता था। इण्डिया ऑफिस से महाराजा जयपुर को इस समारोह के सिर्फ पांच "पास" आये थे और "मोरेलॉज" में तो महाराजा का अपना मेला जुड़ा था। बड़े- बड़े लोग ही छूट गये, फिर बेचारे खवासजी बाबाजी का नम्बर कैसे आता! खैर, जयपुर वालों का यह जमघट न्यू स्काटलैंड यार्ड पर जमा जहां भारी भीड़ की धक्कमपेल में उन्होंने शाही सवारी को उसी तरह देखा जैसे देखने वाले जयपुर में तीज, गणगौर या दशहरे की सवारी देखा करते हैं।

ताजपोशी की खुशी में उस रात लन्दन में बिजली की रोशनी की [illegible]

कैम्ब्रिज के प्राच्यविद्या विशारद भी बड़े प्रभावित हो चुके हैं।"

कनाट को उपहार

पण्डित मधुसूदनजी ने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय का निमंत्रण पाकर महाराजा ने बीस अगस्त का दिन वहां जाने के लिए तय किया। यह बात 30 जुलाई या उसके बाद की है। इसके पहले 5 जुलाई को महाराजा ड्यूक और डचेज आफ कनाट से मिलने गया। उन्हें जयपुर की पीतल की मीनाकारी की दो डिबियां, एक सिगरेट बाक्स और एक पानदान भेंट किये। इन उपहारों को ड्यूक और डचेज ने बहुत सुन्दर बताया और देर तक उनकी सराहना करते रहे।

महाराजा और उनके हमराही रीजेन्ट पार्क में जन्तुशाला देखने भी गये। जयपुर में तब तक चौड़े रास्ते के छोर पर जहां अब "नया दरवाजा" है, "नाहरों के पींजरे" थे जिनमें बंद शेरों को नगर-निवासी देख सकते थे। रामनिवास बाग का चिड़ियाघर तब बन ही रहा था। लंदन की उस प्रसिद्ध जन्तुशाला को देखकर सभी जयपुर वाले विस्मित रह गये। अनेक भारतीय पशु-पक्षी भी थे और खवासजी बावाजी का कहना था कि "जिनवरों" के आराम का भी पूरा ख्याल रखा गया था। जो जानवर जैसी आबहवा से आया था, उनके लिए वैसी ही ठण्डी या गरम आबहवा उसके पिंजरे में बनाई गई थी। दरियाई शेर याने हिप्पो और अफ्रीका के जिराफ जैसे जानवर जयपुर वालो ने पहली बार ही देखे थे और भगवान की माया को आंखें फाड़-फाड़ कर देखते ही रह गये थे।

मीना बाजार

इन्हीं दिनों ताजपोशी के उपलक्ष में मलिका महारानी ने एक नुमायश-कारोनेशन मार्केट-का उद्घाटन किया। इसमें बिकी किया जाने वाला सामान महंगा था और मकसद यह था कि जो भी मुनाफा आये, वह बच्चों के अस्पताल में लगाया जाए। मुगल बादशाह अकबर के मीना बाजार की तरह इसमें सब दुकानदार भी औरतें ही थी। महाराजा माधोसिंह भी इस बाजार को देखने गया और सामान खरीदने में भी वह किसी भारतीय रईस से पीछे न रहा।

ऐसी ही एक और नुमायश लंदन से सात मील दूर, क्रिस्टल ,पैलेस में चल रही थी---पेरिस एक्जीबीशन। जयपुर वाले इसे भी देखने गये। यहां पुष्प प्रदर्शनी थी, नाच-गान के आयोजन थे, आतिशबाजी के खेल और जादू के तमाशे थे। एक चबूतरे पर तो जलती आग के बीच एक स्त्री बैठी थी और उसे कोई आंच ही नहीं आ रही थी।

महाराजा ने ऊलविच का शाही तोपखाना, लन्दन का बड़ा अस्पताल और रायल ओपेरा हाऊस भी देखे और लन्दन के विश्वविख्यात फोटोग्राफर से अपना फोटो उतरवाया। प्रिंस आफ वेल्स से मिलने गया और 5 अगस्त को ब्रिटिश प्रधानमंत्री, ए.जे. बैलफोर से पहली मुलाकात की। इस मुलाकात में दुभापिये का काम किया जयपुर के एक्जीक्यूटिव इंजीनियर, कर्नल स्विन्टन जैकब ने।

प्रधानमंत्री से भेंट

प्रधानमंत्री ने अकाल के समय महाराजा के सहायता कार्यों की भूरि- भूरि सराहना की और कहा कि अच्छे वक्त में रुपया बचा लेना और बुरा वक्त पड़ने पर उसे खर्च कर देना ही उसका सबसे अच्छा उपयोग होता है, लेकिन पता नहीं क्यों, हिन्दुस्तान के बहुत से राजा- महाराजाओं का इस ओर ध्यान ही नही रहता!

ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने महाराजा से दरयाफ्त किया कि उन्होंने इंग्लैंड की सैर की या नहीं। इस पर महाराजा का युक्तिपूर्ण उत्तर था. "सैर— सपाटे से कहीं अच्छा यहां के मोअज्जिज लोगों से मिलना है। फिर, हम तो सम्राट की आज्ञा से यहां आए है, इसलिए बेहतर यही है कि लन्दन में ही रहें और पेरिस व स्काटलैंड की सैर न करते फिरें।"

पत्र भी भेजा गया।

भारतीय सेना की परेड

महाराजा अगले दिन भारतीय सेना की समारोहिक परेड भी देखने गये जिसकी सलामी लेने के लिए सम्राट अपनी भेंट में प्राप्त जयपुर की तलवार बांधकर आया था। यह परेड 13 अगस्त को बकिंघम महल के अहाते मे ही हुई थी। ताजपोशी के सिलसिले में यह आखिरी जलसा था। परेड के बाद सम्राट ने भारतीय राजा-महाराजाओं से हाथ मिलाकर उन्हें बिदाई दी। कुल पन्द्रह "कारोनेशन मैडल" भी सम्राट ने यहा बाटे जिनमे एक महाराजा माधोसिंह के लिए था।

महाराजा और उनके हमराहियों को ताजपोशी के बाद से ही जयपुर लौटने की लगी थी और अब तो यह बेताबी और बढ़ गई थी, लेकिन स्वदेश वापस जाने के लिए भी लम्बी- चौडी तैयारियां जरूरी थी, खास तौर से उस कामयाबी और धूमधाम के बाद जो विलायत में महाराजा की रही थी। महाराजा ने एक सरदार, राजा उदयसिंह और कुछ कर्मचारियो को 14 अगस्त को ही लन्दन से रवानगी करा दी ताकि वे बम्बई पहुंच कर वापसी की समुद्र- पूजन और दूसरे कामो का जरूरी इन्तजाम कर सके। एक और एडवान्स पार्टी लिवरपूल भेजी गई। यह पार्टी "ओलम्पिया" जहाज से रवाना होकर मार्सेलीज में महाराजा से जा मिलने वाली थी।

महाराजा के दल में अब सौ से भी कम लोग रह गये थे। इग्लैंड मे अभी 5-6 दिन का मुकाम और था। इस अर्से मे महाराजा ने थियेटर देखा और वेस्ट मिनिस्टर का विशाल ऐतिहासिक गिरजाघर भी तसल्ली से फिर देखने गये।

केम्ब्रिज में

20 अगस्त को केम्ब्रिज विश्वविद्यालय देखने का कार्यक्रम पहले ही बन चुका था। पण्डित मधुसूदनजी इसके निमित्त थे। पण्डितजी तथा दूसरे लोगों के साथ महाराजा विश्वविद्यालय में गये। वहां के म्यूजियम, ट्रिनिटी कालेज, क्वीन्स कालेज तथा दूसरी संस्थाओ को घूम- फिर कर देखा। केम्ब्रिज मे पढ़ने वाले भारतीय विद्यार्थियों ने महाराजा को एक मानपत्र भी भेट किया और महाराजा ने अपनी ओर से वहा के प्रोफेसरों और विद्यार्थियों को एक "टी- पार्टी" दी।

अगले दिन लन्दन में महाराजा का आखिरी कार्यक्रम था इण्डिया आफिस के लिए अपनी फोटो खिचवाना। जी.सी.एस.आई. का चुगा या गाउन पहिन कर यह तस्वीर उतरवाई गई। 22 अगस्त को महाराजा ने "मोरेलॉज" में उनकी खिदमत करने वाले अंगरेज शागिर्दपेश लोगों को इनाम देने के लिए एक सौ पौंड का चैक बख्शीश किया और इंगलिस्तान से भारत के लिए प्रस्थान किया गया।

सागर पर तैरता जयपुर

लन्दन के विक्टोरिया स्टेशन पर महाराजा को विदा करने के लिए वही सारी औपचारिकताएं बरती गई जो आगमन के समय निभाई गई थी। "मोरेलॉज" से महाराजा जब स्टेशन पर पहुचा तो रेलगाड़ी तक गलीचा पड़ा बिछा मिला और सब लोग इत्मीनान से रेल में सवार हुए। भारत सचिव का पोलीटिकल ए.डी.सी. कर्नल वायली महाराजा को विदा करने आया और डोवर तक साथ गया। वैसे बन्दरगाह पर महाराजा के लिए पूर्ववत् स्पेशल रेलगाड़ी तैयार खडी थी जिससे मार्सेलीज पहुचना था। जैसे ही महाराजा पहुचा, यह स्पेशल वहां से रवाना हो गई क्योंकि प्रस्थान का मुहूर्त भी यही था।

खवासजी बालाजी ने बताया था कि फ्रांस मे वापसी का यह सफर श्रीजी ने मनचाहे ढंग से किया था— वैसे ही जैसे हर साल गर्मियों मे जयपुर से हरिद्वार तक या करते थे। स्पेशल महाराजा की मर्जी के मुताबिक ठहरती और चलती थी। वैसे कुल तीन जगह गाड़ी को ठहराया गया। सबसे पहले डाक्सी, जहा सब लोगों ने

ादमियों का समन्दर बना हुआ था। खवासजी बाबाजी और उनके हमराही भी यह रोशनी और मेला देखने ए थे और वह नजारा उन्हें कल की सी बात की तरह याद था।

महाराजा के यात्रा- विवरण से पता चलता है कि सम्राट एडवर्ड और मलिका एलेक्जेन्ड्रा की सवारी का लूस ठीक ग्यारह बजे तोपों की गड़गड़ाहट के बीच बकिंघम महल से रवाना हुआ था। घण्टे भर में यह स्टमिनिस्टर एबी पहुंचा और करीब एक घण्टा ही वहां सारी रस्में पूरी करने में लगा। सम्राट ने अंजील हाथ लेकर शपथ ली कि पार्लियामेंट द्वारा बनाये गये कानूनों और उसके दूसरे नियमों के अनुसार शासन रेगा। इसके बाद जैतून का तेल मले जाने की परम्परा निभाई गई और सम्राट ने शाही पोशाक धारण की। थ में अंगूठी और बूट में शाही महमेज पहिनाई गई, कमर में तलवार बांधी गई और राज्य- शासन का गदर सम्राट के हाथ में थमाया गया। आर्कबिशप यानी बडे पादरी ने फिर आशीर्वचन कह कर सम्राट को ाज पहनाया। अन्त में प्रिन्स आफ वेल्स ने अपने शाही पिता की कदमबोसी की और राज्यारोहण के इस ौपचारिक समारोह का समापन हुआ। तोपों ने सलामी दी और बादशाह व मलिका की सवारी वापस किंघम महल के लिए रवाना हुई।

वेस्टमिनिस्टर के इस दरबार में भाग लेने के बाद महाराजा माधोसिंह ने दो दिन तक आराम किया और ीसरे दिन प्रिन्स आफ वेल्स से फिर मुलाकात करने गया। इसके बाद सम्राट से विदा लेने के लिए एक और ुलाकात का कार्यक्रम था। चूंकि अब जयपुर लौटने की बेताबी हो रही थी, महाराजा ने सम्राट से इस आखिरी ुलाकात को ज्यादा से ज्यादा असरदार बनाने की कोशिश की ताकि जयपुर और उसके महाराजा का रुतबा ग्लैंड और शाही परिवार की नजरों में ऊंचा रहे।

ो दाढ़ी वाले

स्वयं दाढ़ी वाले खवासजी बाबाजी ने बताया था कि यह दो दाढ़ी वालों — सम्राट एडवर्ड और महाराजा — ी जबर्दस्त मुलाकात थी। अपनी लन्दन- यात्रा की याददाश्त के लिए महाराजा ने झुक कर जब एक कीमती ड़ाऊ तलवार सम्राट को नजर की तो एक तरफ उसकी अपनी घनी दाढ़ी तलवार को छू रही थी तो दूसरी रफ सम्राट के फैलते हुए बाजुओं के बीच उसकी दाढ़ी उस राजसी उपहार पर लहरा रही थी। सम्राट को भेंट ी गई इस तलवार की मूंठ में करीब एक- एक इंच के हीरे- नगीने जड़े थे और फौलाद असली दमिश्क की ली हुई थी। यह उपहार जयपुर के उस मशहूर सिलेहखाने में से सम्राट के लिए चुन कर ले जाया गया था जो हाराजा के पुरखों ने मुगलों के दौरदौरे के वक्त बनाया और संवारा था। इस तलवार की कीमत सस्ताई और ेफिक्री के उस जमाने में भी दस हजार पौण्ड कूती गई थी।

बकिंघम महल में महाराजा से यह भेंट स्वीकार कर सम्राट एडवर्ड प्रकट रूप में भी प्रभावित हो गया। उसने तत्काल कहा कि अगले दिन भारतीय सेना की समारोहिक परेड में वह इसी शानदार तलवार को कमर में बांधकर जायेगा। महाराजा की ओर से उसके प्रधानमंत्री, बाबू संसारचन्द्र सेन ने सम्राट को इसके लिए धन्यवाद दिया। तभी मलिका एलेक्जेन्ड्रा ने भी उन पीतल की मीनाकारी की वस्तुओं की फिर तारीफ की जो महाराजा पहले ही भेंट कर चुके थे। बोलीं कि महाराजा के दिये हुए प्याले और रकाबी को वह रोजाना कारी पीने के काम में ले रही है।

बातचीत के दौरान सम्राट ने फिर अपनी जयपुर यात्रा के संस्मरण सुनाये। जयपुर शहर की तारीफ की और शेर की शिकार को तो रह-रह कर याद किया। सम्राट ने महाराजा को अपनी और मलिका की तस्वीरें के तोहफे दिये और महाराजा के साथ गये हुए खास- खास सरदारों के लिये आठ तमगे या मैडल भी। इनमें एक विद्यावाचस्पति पण्डित मधुसूदन ओझा के लिए था। पण्डितजी ने ताजपोशी के अवसर पर संस्कृत के कुछ श्लोक लिखकर अंग्रेजी अनुवाद सहित सम्राट को भेजे थे। इसके लिए उन्हें अलग से एक धन्यवाद-

। भी भेजा गया।

रतीय सेना की परेड

महाराजा अगले दिन भारतीय सेना की समारोहिक परेड भी देखने गये जिसकी सलामी लेने के लिए माट अपनी भेंट मे प्राप्त जयपुर की तलवार बांधकर आया था। यह परेड 13 अगस्त को बकिंघम महल के हाते में ही हुई थी। ताजपोशी के सिलसिले मे यह आखिरी जल्सा था। परेड के बाद सम्राट ने भारतीय राजा-हाराजाओं से हाथ मिलाकर उन्हें बिदाई दी। कुल पन्द्रह "कारोनेशन मैडल" भी सम्राट ने यहां बांटे जिनमें क महाराजा माधोसिंह के लिए था।

महाराजा और उनके हमराहियों को ताजपोशी के बाद से ही जयपुर लौटने की लगी थी और अब तो यह तावी और बढ़ गई थी, लेकिन स्वदेश वापस जाने के लिए भी लम्बी-चौड़ी तैयारिया जरूरी थी, खास तौर उन कामयाबी और धूमधाम के बाद जो विलायत में महाराजा की रही थी। महाराजा ने एक सरदार, राज दयसिंह और कुछ कर्मचारियों की 14 अगस्त को ही लन्दन से रवानगी करा दी ताकि वे बम्बई पहुच कर पनी की समुद्र-पूजन और दूसरे कामों का जरूरी इन्तजाम कर सकें। एक और एडवान्स पार्टी लिवरपूल जी गई। यह पार्टी "ओलम्पिया" जहाज से रवाना होकर मार्सेलीज में महाराजा से जा मिलने वाली थी।

महाराजा के दल में अब सौ से भी कम लोग रह गये थे। इंग्लैड में अभी 5-6 दिन का मुकाम और था। इन मे महाराजा ने थियेटर देखा और वेस्ट मिनिस्टर का विशाल ऐतिहासिक गिरजाघर भी तसल्ली से फि देखने गये।

कैम्ब्रिज में

20 अगस्त को केम्ब्रिज विश्वविद्यालय देखने का कार्यक्रम पहले ही बन चुका था। पण्डित मधुसूदनजी इसके निमित्त थे। पण्डितजी तथा दूसरे लोगों के साथ महाराजा विश्वविद्यालय में गये। वहां के म्यूजियम ट्रिनिटी कालेज, क्वीन्स कालेज तथा दूसरी संस्थाओं को घूम-फिर कर देखा। केम्ब्रिज मे पढ़ने वाले भारती विद्यार्थियों ने महाराजा को एक मानपत्र भी भेंट किया और महाराजा ने अपनी ओर से वहां के प्रोफेसरों औ विद्यार्थियों को एक "टी-पार्टी" दी।

अगले दिन लन्दन मे महाराजा का आखिरी कार्यक्रम था इण्डिया आफिस के लिए अपनी फोटो खिचवाना। जी.सी.एस.आई. का चुगा या गाउन पहिन कर यह तस्वीर उतरवाई गई। 22 अगस्त को महाराजा ने "मोरेलॉज" में उनकी खिदमत करने वाले अंगरेज शागिर्दपेश लोगों को इनाम देने के लिए एक सौ पौंड का चैक बख्शीश किया और इंगलिस्तान से भारत के लिए प्रस्थान किया गया।

सागर पर तैरता जयपुर

लन्दन के विक्टोरिया स्टेशन पर महाराजा को विदा करने के लिए वही सारी औपचारिकताएं बरती गई जो आगमन के समय निभाई गई थी। "मोरेलॉज" से महाराजा जब स्टेशन पर पहुंचा तो रेलगाड़ी तक सु कपड़ा बिछा मिला और सब लोग इत्मीनान से रेल में सवार हुए। भारत सचिव का पोलीटिकल ए.डी.सी. कर्नल वायली महाराजा को विदा करने आया और डोवर तक साथ गया। कैले बन्दरगाह पर महाराजा के लिए पूर्ववत् स्पेशल रेलगाडी तैयार खड़ी थी जिससे मार्सेलीज पहुंचना था। जैसे ही महाराजा पहुंचा, य स्पेशल वहा से रवाना हो गई क्योंकि प्रस्थान का मुहूर्त भी यही था।

हनुमानजी बाबाजी ने बताया था कि फ्रांस से वापसी का यह सफर पहली से सस्ताई ढंग से किया था — [illegible]

आदमियों का समन्दर बना हुआ था। खवासजी बाबाजी और उनके हमराही भी यह रौनक और मेला देखने गए थे और वह नजारा उन्हें कल की सी बात की तरह याद था।

महाराजा के यात्रा-विवरण से पता चलता है कि सम्राट एडवर्ड और मलिका एलेक्जेन्ड्रा की सवारी का जुलूस ठीक ग्यारह बजे तोपों की गड़गड़ाहट के बीच बकिंघम महल से रवाना हुआ था। घण्टे भर में यह वेस्टमिनिस्टर एबी पहुंचा और करीब एक घण्टा ही वहां सारी रस्में पूरी करने में लगा। सम्राट ने अंजील हाथ में लेकर शपथ ली कि पार्लियामेंट द्वारा बनाये गये कानूनों और उसके दूसरे नियमों के अनुसार शासन करेगा। इसके बाद जैतून का तेल मले जाने की परम्परा निभाई गई और सम्राट ने शाही पोशाक धारण की। हाथ में अंगूठी और बूट में शाही महमेज पहनाई गई, कमर में तलवार बांधी गई और राज्य-शासन का मुगदर सम्राट के हाथ में थमाया गया। आर्कबिशप यानी बड़े पादरी ने फिर आशीर्वचन कह कर सम्राट को ताज पहनाया। अन्त में प्रिन्स आफ वेल्स ने अपने शाही पिता की कदमबोसी की और राज्यारोहण के इस औपचारिक समारोह का समापन हुआ। तोपों ने सलामी दी और बादशाह व मलिका की सवारी वापस बकिंघम महल के लिए रवाना हुई।

वेस्टमिनिस्टर के इस दरबार में भाग लेने के बाद महाराजा माधोसिंह ने दो दिन तक आराम किया और तीसरे दिन प्रिन्स आफ वेल्स से फिर मुलाकात करने गया। इसके बाद सम्राट से विदा लेने के लिए एक और मुलाकात का कार्यक्रम था। चूंकि अब जयपुर लौटने की बेताबी हो रही थी, महाराजा ने सम्राट से इस आखिरी मुलाकात को ज्यादा से ज्यादा असरदार बनाने की कोशिश की ताकि जयपुर और उसके महाराजा का रुतबा इंग्लैंड और शाही परिवार की नजरों में ऊंचा रहे।

दो दाढ़ी वाले

स्वयं दाढ़ी वाले खवासजी बाबाजी ने बताया था कि यह दो दाढ़ी वालों — सम्राट एडवर्ड और महाराजा — की जबर्दस्त मुलाकात थी। अपनी लन्दन-यात्रा की याददाश्त के लिए महाराजा ने झुक कर जब एक कीमती जड़ाऊ तलवार सम्राट को नजर की तो एक तरफ उसकी अपनी घनी दाढ़ी तलवार को छू रही थी तो दूसरी तरफ सम्राट के फैलते हुए बाजुओं के बीच उसकी दाढ़ी उस राजसी उपहार पर लहरा रही थी। सम्राट को भेंट की गई इस तलवार की मूंठ में करीब एक-एक इंच के हीरे-नगीने जड़े थे और फौलाद असली दमिश्क की ढली हुई थी। यह उपहार जयपुर के उस मशहूर सिलेहखाने में से सम्राट के लिए चुन कर ले जाया गया था जो महाराजा के पुरखों ने मुगलों के दौरदौरे के वक्त बनाया और संवारा था। इस तलवार की कीमत सस्ताई और बेफिकी के उस जमाने में भी दस हजार पौण्ड कूती गई थी।

बकिंघम महल में महाराजा से यह भेंट स्वीकार कर सम्राट एडवर्ड प्रकट रूप से भी प्रभावित हो गया। उसने तत्काल कहा कि अगले दिन भारतीय सेना की समारोहिक परेड में वह इसी शानदार तलवार को कमर में बांधकर जायेगा। महाराजा की ओर से उसके प्रधानमंत्री, बाबू संसारचन्द्र सेन ने सम्राट को इसके लिए धन्यवाद दिया। तभी मलिका एलेक्जेन्ड्रा ने भी उन पीतल की मीनाकारी की वस्तुओं की फिर तारीफ की जो महाराजा पहले ही भेंट कर चुके थे। बोलीं कि महाराजा के दिये हुए प्याले और रकाबी को वह रोजाना काफी पीने के काम में ले रही है।

बातचीत के दौरान सम्राट ने फिर अपनी जयपुर यात्रा के संस्मरण सुनाये। जयपुर शहर की तारीफ की और शेर की शिकार को तो रह-रह कर याद किया। सम्राट ने महाराजा को अपनी और मलिका की तस्वीरों के तोहफे दिये और महाराजा के साथ गये हुए खास-खास सरदारों के लिये आठ तमगे या मैडल भी। इनमें एक विद्यावाचस्पति पण्डित मधुसूदन ओझा के लिए था। पण्डितजी ने ताजपोशी के अवसर पर संस्कृत के कुछ श्लोक लिखकर अंगरेजी अनुवाद सहित सम्राट को भेजे थे। इसके लिए उन्हें अलग से एक धन्यवाद-

के बहते पानी में स्नान किया। इसके बाद शाबी, जहां से रात एक बजे रवाना होकर गाड़ी सवेरे
लीज पहुंच गई। "ओलम्पिया" जहाज पहले ही लिवरपूल से यहां पहुंच चुका था और महाराजा के आने
न्तजार कर रहा था। वापसी दरियाई सफर शुरू करने के मौके पर महाराजा ने जहाज के कप्तान कैप्टेन
बर्न को अपनी एक तस्वीर इनायत की। यह लन्दन में खिंचवाई गई तस्वीरों में से एक थी।

जहाज भूमध्य सागर में चल पड़ा और दो दिन बाद, 27 अगस्त को मैसीनिया के जलडमरूमध्य में पहुंच
। यह महाराजा की सालगिरह का मुबारिक दिन था। सब लोग जयपुर को याद करने लगे जहां इस दिन
ही तोपों के धड़ाकों ने सारे शहर को सालगिरह का ऐलान किया होगा, ब्राह्मणों की टोलियां बरणी-
और हवन करती होंगी और मन्दिरों में भेंट चढाई जा रही होगी। महाराजा के हमराहियों ने
लम्पिया" में भी सालगिरह का जलसा धूम-धाम से मनाने का फैसला किया। पूरे जहाज को रंग-बिरंगी
पताकाओं से सजाया गया और बीचों-बीच जयपुर का पंचरंग झण्डा फहराया गया। जयपुर तो दूर था,
न ओलम्पिया उस दिन सागर पर तैरता छोटा-सा जयपुर ही बन गया था, जिसमें सारी हलचल ठीक
ही थी जैसी जयपुर में सालगिरह के दिन होती।

बार ने बख्शी'

महाराजा ने बाकायदा सालगिरह का दरबार किया जिसमें सबसे पहले सरदारों, फिर आला अफसरों
दूसरे लोगों ने झुक-झुक कर नजरें पेश की। जहाज के चालकों और दूसरे कर्मचारियों की तरफ से
न आसबर्न ने भी इस दरबार में आकर महाराजा को मुबारकबाद दिया। महाराजा ने उसे एक
ोमीटर घड़ी इनायत की जो लन्दन में ही खरीदी गई थी। इस घड़ी पर खुदा हुआ था: "जयपुर दरबार ने
ी।"

महाराजा इस दिन सबसे पहले जहाज के उस कैबिन में गये थे जो श्रीगोपालजी का मन्दिर बना हुआ था।
गिरह की भेंट में उन्होंने अपने इष्टदेवता को 43 सोने की मोहरें चढ़ाई और गोटे के हार का प्रसाद पाया।
राजा के हमराहियों और जहाज के कर्मचारियों को मिलाकर "ओलम्पिया" में कुल 139 यात्री थे जो सभी
त में शामिल हुए।

जहाज के "म्यूजिक रूम" ने इस दिन दीवानखाने का काम किया। सारे दिन और देर रात तक वहां गाना-
ना चलता रहा और महफिल में महाराजा भी काफी देर तक बैठा रहा।

30 अगस्त को जहाज स्वेज नहर में दाखिल हो गया तो आबहवा भी बदल गई। सबको बड़ी गर्मी सताने
और हफ्ते भर तक समुद्र में चल लेने के बाद बहुत से लोग "सी-सिकनेस" या सामुद्रिक बीमारी से भी
नजर आने लगे। महाराजा ने जब बेहद गर्मी महसूस की तो श्रीगोपालजी के मन्दिर में भी बिजली का
लगाने का हुक्म दिया गया।

भादों का महीना चल रहा था और दो दिन बाद गणेश चतुर्थी का पर्व पड़ता था। इसलिए जहाज के लाल
द्र में दाखिल होते-होते महाराजा ने दूरबीन से दूज का चांद देखा। गणेश चतुर्थी का चन्द्र-दर्शन परम्परा
निषिद्ध है, लेकिन यदि दूज का चांद देख लिया जाय तो चतुर्थी का चांद देखना भी अनिष्ट का कारण नहीं
ता, ऐसी मान्यता है।

पांच दिन बाद "ओलम्पिया" अदन के ब्रिटिश बन्दरगाह में पहुंच गया और उसी समय वहां के किले से
क्कीस तोपों की सलामी महाराजा के सम्मान में दागी गई। अदन से बम्बई और जयपुर तार भेजे गये जिनसे
नों जगह महाराजा के पहुंचने की फौरी इत्तला हो गई।

ानसून: तूफान

अदन से आगे महाराजा की ... दौर था, लेकिन यही सबसे ज्यादा जोखिम का भी साबित

जयपुर का ध्वज और राज्य-चिन्ह

जयपुर के राजाओं के प्रधान राजमहल-चंद्रमहल-के ऊपर आज भी पंचरंग ध्वज फहराता है। य
पंचरंग 1949 में जयपुर रियासत का राजस्थान में विलय होने तक राजकीय ध्वज था।

जयपुर के राजा कछवाहा क्षत्रिय है, जो अपने आपको भगवान श्रीरामचंद्र के पुत्र कुश के वंशज मा
हैं। अयोध्या के राजा राम का ध्वज श्वेत था और रामायण के अनुसार इस पर कचनार का वृक्ष या झा
अंकित था। संस्कृत के विख्यात कवि भवभूति ने भी अपने 'उत्तर रामचरित' नाटक मे आयोध्या के ध्वज
"कचनार ध्वज" ही बताया है। यह भी उल्लेखनीय है कि भवभूति ईसा की सातवी शताब्दी में हुआ था अ
वह पद्मावती का निवासी था, जो उस समय कछवाहों के राज्य नरवर के निकट ही थी। जब कछवाहे
नरवर से चलकर ढूँढाड में अपने नये राज्य की नीव डाली तो उन्होंने इस प्राचीन उल्लेख के आधार पर अप
ध्वज में भी "झाड" अंकित कराया और उनकी मुद्रा पर भी झाड़ ही अंकित हुआ। जयपुर के रुपये
इसीलिये झाडशाही कहा जाता था।

अकबर के जमाने में तूरान के शाह ने काबुल पर हमला किया था। आक्रमणकारियों का मुकाबला कर
के लिए बादशाह ने आमेर के राजा मानसिंह को भेजा। तूरान के शाह की मदद के लिये उत्तरी ईरान के पा
पठान अमीर भी आये थे। इन पांचों अमीरो को रोकने के लिए राजा मानसिंह ने चौमूं के ठाकुर मनोहरदास
सैन्य भेजा। स्वयं राजा मानसिंह शाह के विरुद्ध गया। दोनों ही को विजयश्री मिली। ठाकुर मनोहरदास
पांचो पठान अमीरों के झण्डे छीन लिये थे। ये उसने अपने राजा को भेट किये और यह भी आग्रह किया कि इन
पांचों रंगो को मिलाकर जो ध्वज बने, उसे इस विजय की स्मृति और आमेर राज्य का नया ध्वज माना जाए।
राजा मानसिंह को भी यह तजवीज भा गई और उसने मनोहरदास से कहा कि यह पंचरंग ध्वज केवल इस
विजय की याद ही नहीं दिलायेगा, वरन् जिस प्रकार कचनार का झाड़ हमें अयोध्या की याद दिलाता आया है
मे ही ये सूर्यवंशी कछवाहों के लिये सूर्य भगवान का प्रतीक बन जाएगा। सूर्य की किरणों में यद्यपि रंग तो
त होते है, किन्तु इन्द्रधनुष में पांच ही देखने में आते हैं। उषा काल में भी क्षितिज पर पांच ही रंग बारी-बारी
देखने मे आते है-गुलाबी, लाल, सुनहरा, नीला और सफेद। यही पांच रंग गायत्री के पाचों मुखों के हैं और
गायत्री ब्रहमा की शक्ति है। योगी भी तत्त्व रूप से यही पांच रंग बताते हैं।

मानसिह ने इन पाचों रंगों से बना हुआ ध्वज आमेर का ध्वज माना और अयोध्या का प्रतीक- कचनार का
झाड़-रुपये, मुहर तथा पैसों पर अंकित किया जाने लगा।

पंचरंग को अपने राज्य का ध्वज मान लेने के बाद राजा मानसिह ने ही पंचरंग में रंगों का क्रम भी
निर्धारित किया था। बेंगनी और काला रंग तो दिखते ही नही, इसलिये इन्हें नहीं रखा गया और सुनहरी की
जगह सफेद ने ले ली। इस प्रकार लाल, सफेद, पीले, हरे और नीले रंगों को मिलाकर आमेर-जयपुर का
पंचरंग ध्वज बना।

जयपुर बसाये जाने के बहुत पहले जब सवाई जयसिंह को औरंगजेब से "सवाई" की उपाधि का खिताब
मिला तो झण्डे ... और चढ़ाया गया। कुछ समय बाद तो आमेर का राज "सवाई जयपुर"
गया और उसका ध्वज ... रहा। यह ध्वज 1930 के बाद तक तिकोना ही था, किन्तु महाराजा
... ने इसका ... आकार कर दिया और रंगों का क्रम भी बदल कर लाल, पीला, सफेद,
... बनने तक जयपुर का यही ध्वज था, जो अपनी विशेषता और
के रूप ... आज तक अपने निवास- स्थान पर फहराते हैं।

महाराजा की ओर से हाजरीन दरबार को यकीन दिलाया गया कि "फरमान शाही की तामील और
ादारी जाहिर करने के अलावा हम किसी और मकसद को लेकर इतनी तकलीफें कभी बर्दाश्त नहीं
रते।"

ाजमत और 'शराफत का मुल्क'

इंग्लैण्ड में अपनी आवभगत और मेहमानी को नाकाबिले बयान बताते महाराजा के उद्‌गार यह थे
ऐसा मालूम होता है कि हम किसी ऐसे मुल्क में गये थे जहां लताफत, अजमत और शराफत के सिवा कुछ
र नहीं आता।......जो नक्शा हमारे दिल पर छा गया है, वह कभी दूर नहीं होगा।"

इन तकरीरों के बाद दरबार में नाच-गाना शुरू हुआ। जयपुर के विख्यात गुणीजनखाने के कलाकारों ने
नी कला से महाराजा का अभिनन्दन और आम दरबार का मनोरंजन किया। फूलमाला और इत्र से
म्परागत सत्कार कराने के बाद ब्रिटिश रेजीडेंट और दूसरे अंगरेज अधिकारी दरबार से रुखसत हुए।
खिर में महाराजा ने हाजरीन दरबार की नजरें कबूल की। इस दरबार के बर्खास्त होने के साथ ही महाराजा
धोसिंह की इंग्लैण्ड विलायत यात्रा की यह सच्ची और दिलचस्प कहानी भी खत्म हो जाती है।

□□□

लन्दन की वह कोठी जिसमें महाराजा माधोसिंह [illegible] ठहरे थे

जयपुर का ध्वज और राज्य-चिन्ह

जयपुर के राजाओं के प्रधान राजमहल-चंद्रमहल-के ऊपर आज भी पंचरंग ध्वज फहराता
चरंग 1949 में जयपुर रियासत का राजस्थान में विलय होने तक राजकीय ध्वज था।

जयपुर के राजा कछवाहा क्षत्रिय हैं, जो अपने आपको भगवान श्रीरामचंद्र के पुत्र कुश के वंश
। अयोध्या के राजा राम का ध्वज श्वेत था और रामायण के अनुसार इस पर कचनार का वृक्ष
अंकित था। संस्कृत के विख्यात कवि भवभूति ने भी अपने 'उत्तर रामचरित' नाटक में आयोध्या के
'कचनार ध्वज'' ही बताया है। यह भी उल्लेखनीय है कि भवभूति ईसा की सातवीं शताब्दी में हुआ
ह पद्मावती का निवासी था, जो उस समय कछवाहों के राज्य नरवर के निकट ही थी। जब क
नरवर से चलकर ढूँढाड़ में अपने नये राज्य की नींव डाली तो उन्होंने इस प्राचीन उल्लेख के आधार
ध्वज में भी ''झाड़'' अंकित कराया और उनकी मुद्रा पर भी झाड़ ही अंकित हुआ। जयपुर के
इसीलिये झाड़शाही कहा जाता था।

अकबर के जमाने में तूरान के शाह ने काबुल पर हमला किया था। आक्रमणकारियों का मुकाब
के लिए बादशाह ने आमेर के राजा मानसिंह को भेजा। तूरान के शाह की मदद के लिये उत्तरी ईरान
पठान अमीर भी आये थे। इन पांचों अमीरों को रोकने के लिए राजा मानसिंह ने चौमूं के ठाकुर मनोह
ससैन्य भेजा। स्वयं राजा मानसिंह शाह के विरुद्ध गया। दोनों ही को विजयश्री मिली। ठाकुर मनोह
पांचों पठान अ[illegible] लिये थे। ये उसने अपने राजा को भेंट किये और यह भी आग्रह किय
[illegible] उसे इस विजय की स्मृति और आमेर राज्य का नया ध्वज मान
राजा

जयपुर के पंचरंग के संबंध में पण्डित हनुमान शर्मा ने भी लिखा है कि आमेर का प्राचीन झण्डा कचनार ांकित था, 'क्योंकि अयोध्या के राम राज्य के श्वेत ध्वज में भी कचनार ही अंकित था। वाल्मीक रामायण के ायोध्या काण्ड में भरत को ससैन्य अपनी ओर आते देखकर लक्ष्मण ने राम को कहा था-

एपवै सुमहान् श्रीमान विटपी च महाद्रुम।।
विराजते महासैन्ये को विदारध्वजो रथे।।

(सर्ग 96, श्लोक 18)

इस इतिहास- लेखक के अनुसार राजा मानसिंह ने जब पंचरंग को अपने राज्य का ध्वज बना लिया तो ामेर का प्राचीन झण्डा ठाकुर मनोहरदास को प्रदान कर दिया गया, जो "अब नाथावत सरदारों के ठिकानों ा पूजित होता है।"

जयपुर रियासत का ध्येय-वाक्य था "यतो धर्मस्ततो जयः" जो इस पुस्तक के आवरण पर अंकित राज्य न्ह (कोट आफ आमर्स) में सुरक्षित था। इसमें भी महाराजा मानसिंह द्वितीय (1922-1949 ई.) ने परिवर्त क्या था। महाराजा माधोसिंह ने (1880-1922ई.) राज्यचिन्ह में सबसे ऊपर अपने इष्टदेव गोपालजी ाधा-गोपालजी की युगलछवि अंकित कराई थी। यह राज्यचिन्ह गंगाजी और गोपालजी के मंदिरो लापूर्ण तुलसी के बिरवो पर भी अंकित है। महाराजा मानसिह ने उसके स्थान पर सूर्य और एक हैलमेट ारस्त्राण रखा। राज्यचिन्ह में एक ओर सिंह तथा दूसरी ओर घोड़ा है। इसके मध्य में अश्व, हस्ती, गरु ौर दुर्ग हैं। शक्ति और सत्ता के इन प्रतीको के साथ राज्यचिन्ह में नीचे "यतो धर्मस्ततो जय." अंकित है

ध्वज और राज्य-चिन्ह के अतिरिक्त चँवर और मोरछल भी राजसी प्रतीक थे। राजा और रानी के पी ो सरदार- सामंत इन्हे लेकर खड़े होते थे, विशिष्ट अवसरो पर उनका यह विशेषाधिकार था- "खवासी" नके अतिरिक्त एक सरदार महाराजा की सालगिरह, राजतिलक और अन्य अवसरो पर "हूमा का पंख" कर भी खड़ा होता था। हूमा को बहिश्त (स्वर्ग) का परिन्दा माना जाता है। यह दुर्लभ पक्षी पूर्वी द्वीप समू ं पाया जाता बताया। ईरानियो और मुगलो का ऐसा विश्वास रहा है कि इस पख की छाया में बैठने या सड ोने वाला राज-वैभव का अधिकारी होता है। आमेर-जयपुर में हूमा का पंख रखने की प्रथा मुगल दरबार ो आई होगी।

जयपुर के राजाओ के लिए राज्य-चिन्हो में माही-मरातिब का भी विशेष महत्त्व रहा क्योंकि ये मुगल ादशाह से प्राप्त विशेष सम्मान-सूचक प्रतीक थे। राजाओ की सवारी में माही-मरातिब और "धौंसा" क घोडे पर एक ही डड़े से बजाया जाने वाला नक्कारा- लवाजमे के अनिवार्य अग होते थे। पखे-अडाणी तो वाजमे में गिने ही नहीं जाते थे, क्योंकि वे बहुत होते थे। जयपुर के सामान्य नागरिकों की बरातों तक में पख ौर अडाणियों की भरमार हो जाती है। ये राजसी वैभव के द्योतक तो हैं ही, शान-शौकत के प्रदर्शन के लिए ी उपयुक्त है। रंगीन और जर्क-वर्क पोशाकों में जब सुनहरी काम के पखे और अडाणी लेकर लोग बगल में लते है तो जुलूस की शोभा और बढ़ जाती है। ◻◻◻
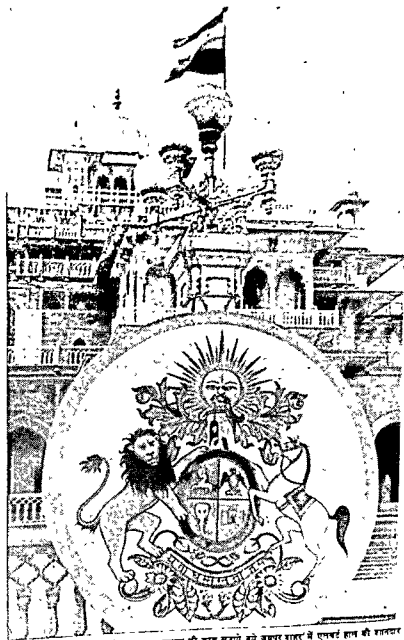
राजकुमारी प्रेमकुमारी के विवाह (1948ई.) के अवसर पर दुल्हन की तरह सजाये गये जयपुर शहर में एलबर्ट हाल की शानदार इमारत पर फहराता ध्वज और नीचे राज्य-चिन्ह

जयपुर के पंचरंग के सबंध मे पण्डित हनुमान शर्मा ने भी लिखा है कि आमेर का प्राचीन झण्डा कचनं
कित था, क्योंकि अयोध्या के राम राज्य के श्वेत ध्वज में भी कचनार ही अंकित था। वाल्मीक रामायण
योध्या काण्ड मे भरत को ससैन्य अपनी ओर आते देखकर लक्ष्मण ने राम को कहा था-

एषवै सुमहान् श्रीमान विटपी च महाद्रुमः।
विराजते महासैन्ये को विदारध्वजो रथे।।

(सर्ग 96, श्लोक 18

इस इतिहास- लेखक के अनुसार राजा मानसिह ने जब पंचरंग को अपने राज्य का ध्वज बना लिया तो
ामेर का प्राचीन झण्डा ठाकुर मनोहरदास को प्रदान कर दिया गया, जो "अब नाथावत सरदारो के ठिकानो
पूजित होता है।"

जयपुर रियासत का ध्येय-वाक्य था "यतो धर्मस्ततो जयः" जो इस पुस्तक के आवरण पर
न्ह (कोट आफ आर्म्स) मे सुरक्षित था। इसमें भी महाराजा मानसिंह द्वितीय (1922-194
या था। महाराजा माधोसिह ने (1880-1922ई.) राज्यचिन्ह में सबसे ऊपर अपने इष्ट
धा-गोपालजी की युगलछवि अंकित कराई थी। यह राज्यचिन्ह गंगाजी और गोपाल
लापूर्ण तुलसी के बिरवो पर भी अंकित है। महाराजा मानसिह ने उसके स्थान पर सूर्य औ
रस्त्राण रखा। राज्यचिन्ह में एक ओर सिंह तथा दूसरी ओर घोड़ा है। इसके मध्य में
र दुर्ग हैं। शक्ति और सत्ता के इन प्रतीकों के साथ राज्यचिन्ह मे नीचे "यतो धर्मस्ततो ज

ध्वज और राज्य-चिन्ह के अतिरिक्त चँवर और मोरछल भी राजसी प्रतीक थे। राज
सरदार- सामंत इन्हे लेकर खड़े होते थे, विशिष्ट अवसरो पर उनका यह विशेषाधिकार
के अतिरिक्त एक सरदार महाराजा की सालगिरह, राजतिलक और अन्य अवसरों

राज सवाई जयपुर
(मार्च, 1949 से पूर्व)
बीकानेर
पिलानी
पटियाला
झुंझुनू
कोटकासिम
खंडेला
कोटपूतली
सीकर
अलवर
श्रीमाधोपुर
रींगस
जोधपुर
आमेर
सांभर
जयपुर
दौसा
फुलेरा
नरैना
सांगानेर
किशनगढ़
चाकसू
अजमेर
निवाई
गंगापुर
करौली
मालपुरा
टोंक
सवाईमाधोपुर
देवली
बूंदी
कोटा
ग्वालियर
क्षेत्रफल: 16,081 वर्गमील
जनसंख्या: 24 लाख

संदर्भ ग्रंथ सूची

संस्कृत

ईश्वर विलास महाकाव्यम्, कविकलानिधि देवर्षि श्रीकृष्ण भट्ट विरचितम्, राजस्थान पुरातत्वान्वेषा मन्दिर, जयपुर, 1958।

जयपुर वैभवम्, साहित्याचार्य भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री, जयपुर, 1947।

संस्कृत रत्नाकर (मासिक), जयपुर।

हिन्दी

बुद्धि विलास, बखतराम साह कृत, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर 1964। यह 1770 इ रचना है।

भोजनसार, गिरिधारी कवि रचित। इस ग्रंथ की एकमात्र प्रति पूना के भण्डारकर ओरियन्टल रि इंस्टीट्यूट में सुरक्षित है। गिरिधारी को सवाई जयसिंह के दरबार में कवि बताया जाता है। कोई उसे र रसोवड़े से सम्बद्ध मानते है। 1739 में यह रचना उसने जयपुर नगर की स्थापना के बारह वर्ष बाद की

जयपुर (नाथावतों) का इतिहास (पहला भाग), हनुमान शर्मा, चौमू (जयपुर), कृष्ण कार्यालय, च 1937।

प्रत्यक्ष जीवनशास्त्र, हीरालाल शास्त्री, अनुपम प्रकाशन मन्दिर प्रा.लिमिटेड, खेजड़े का रास्ता, जय 1970।

पूर्व-आधुनिक राजस्थान, रघुवीरसिंह, डी. लिट. राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर, 1951।

ब्रजनिधि ग्रंथावली, सं. पुरोहित हरिनारायण शर्मा, बी.ए., काशी नागरी प्रचारिणीसभा, 1933।

बिहारी सतसई, लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, भारतवासी प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद, 1950।

राजस्थानी चित्रकला, रामगोपाल विजयवर्गीय, विजयवर्गीय कला मण्डल, जयपुर, 1953।

ब्रज की कलाओं का इतिहास, पुरुषोत्तमदास मित्तल, ब्रजसाहित्य मण्डल, मथुरा।

मत्स्य देश का इतिहास, जयपुर के पोथीखाना में हस्तलिखित रूप में उपलब्ध। यह विद्यावाचस्प पण्डित मधुसूदन ओझा ने वर्तमान शताब्दि के तीसरे दशक में तैयार कराया था।

महान् मुगल अकबर, विंसेण्ट ए. स्मिथ, डा. राजेंद्रनाथ नागर का अनुवाद, हिन्दी समिति, सूचना विभा लखनऊ, 1967।

महाराजा मानसिंह, मुंशी देवीप्रसाद, जोधपुर।

आइने-अकबरी, प्रथम खण्ड, ब्लाखमान का अनुवाद, कलकत्ता, 1873।

राजस्थानी निबन्ध संग्रह, सौभाग्यसिंह शेखावत, हिन्दी साहित्य मन्दिर, जोधपुर, 1974।

मरु श्री (त्रैमासिक), जनवरी-जुलाई, 1982, चूरू।

सवाई जयसिंह, राजेन्द्र शंकर भट्ट, नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली, 1972।

राजलोक, महाराजा माधोसिंह की पत्नियो और पड़दायतों (उपपत्नियो) के सम्बन्ध मे पूर्ण जानकारी दे वाली यह हस्तलिखित पुस्तिका पोथीखाने में है।

वीर-विनोद, कविराजा श्यामलदास, उदयपुर। 1886 ई. में मेवाड़ राज्य द्वारा चार खण्डो मे प्रकाशित ग्रंथ अब अनेक पुस्तकालयों में उपलब्ध है।

राज सवाई जयपुर
(मार्च, 1949 से पूर्व)
पिलानी
पटियाला
बीकानेर
झुंझनु
खंडेला
कोटपूतली
सीकर
श्रीमाधोपुर
रींगस
जोधपुर
आमेर
सांभर
फुलेरा
जयपुर
नरैना
सांगानेर
दौसा
चाकसू
करौली
अजमेर
मालपुरा
निवाई
टोंक
सवाईमाधोपुर
ग्वालियर
देवली
बूंदी
कोटा
क्षेत्रफल: 16,081 वर्गमील

राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार [illegible]
[illegible]

कछ का इतिहास, [illegible]
सवाई जयसिंह चरित [illegible]
[illegible], 1959.
जयपुर की संस्कृत साहित्य को देन, [illegible] जयपुर, [illegible]
श्री [illegible] ओझा का जीवन परिचय, [illegible] जयपुर।
ब्रह्म सिद्धान्त (भाग 1), [illegible] 1961।
जयपुर-नरेशों की [illegible] जयपुर 1972।
वंश भास्कर—सूर्यमल मीसण, बूंदी।

ENGLISH

Notes On Jaipur, H.L. Showers, Jaipur, 1909 (I) and 1916 (II)
Cultural Heritage of Jaipur, [illegible] (Edit) Jaipur, [illegible]
History of Jaipur City, A.K. Roy, Manohar Publications, New Delhi, [illegible]
Gen. Amar Singh's Diary (manuscript), Kanota House, JAIPUR
Sir Purohit Gopinath's Diary (manuscript), Purohitji Ka Bagh, Jaipur
Jaipur and Its Environs, Harnath Singh, Raj Educational Printers, Jaipur
A Guide To Jaipur and Amber, B.L. Dhama, Jaipur, 1955
Literary Heritage of the Rulers of Amber and Jaipur,
G.N. Bahura (Editor), Maharaja Sawai Man Singh II Museum, City Palace, Jaipur, 1976
Annals and Antiquities of Rajasthan (Vol II), James Tod, London, 1832
Studies In Indian Painting, Nanalal Chaman Lal Mehta,
D.B. Taraporewala Sons & Co., Bombay, 1926
A Brief History of Jeypore, Thakur Fateh Singh Chanpawat, Moon Press, Agra, 1899.
History of the Jaipur State, Dr. M.L. Sharma, Rajasthan
Instiute of Historical Research, Jaipur 1969
The Fall of the Mughal Empire (Vol III) J.N. Sarkar, Calcutta.
Raja Man Singh of Amber, R.N. Prasad, The World Press Private Ltd., Calcutta, 1966.
Jaipur and the Later Mughals, H.C. Tikkiwal, Jaipur, 1974.
A Political History of Jaipur, Brook, Jaipur.
Proceedings of the State Council, Jaipur (Manuscript), K.C. Mukerji, Hathi Babu Ka Bagh, Jaipur
Discovery of India, Jawahar Lal Nehru, Signet Press, Calcutta.
The Jaipur Observatory an[illegible] [illegible]lder, [illegible], Pioneer Press, Allahabad, 1902.
Indian Architecture, Perc[illegible]
A Princess Remembers, [illegible] Vikas Publishing House (Private) Ltd.,
New Delhi, 1982.
The Jaipur Album, [illegible] [illegible]asthan Directories Publishing House,
[illegible]pur, 1935.
[illegible] Indiar [illegible]
[illegible] nerce,

अनुक्रमणिका

दो शब्द

जो हम आज सोचते हैं या करते हैं उसका प्रभाव कल होगा। शिक्षा की प्रक्रिया को हम जो रूप देंगे उसका लाभ कल मिलेगा। इसलिए अतीत के अनुभव और आज के अनुभव का विश्लेषण-विवेचन जब भी हम करें तब हमें हमारी दृष्टि भविष्य पर रखनी चाहिए। भविष्य में जो सवाल उठने वाले हैं उनको आज ही पहचानना चाहिए। आज के बच्चे-बच्चियां कल के कर्णधार हैं। बीते कल की कहानी उन्हें भले सुनाइए, खूब सुनाइए, किंतु यह याद रखिए कि कल का इतिहास उन्हें लिखना है, कल की दुनिया से मुकाबला उनको करना है, कल के सवालों से—कल की समस्याओं से संघर्ष उन्हें ही करना है। कल की दुनिया में वे सफल होंगे तभी आज की शिक्षा सार्थक होगी।

इसलिए हम जो आज कहते या लिखते या रचते हैं उसका लक्ष्य